



मीमांसादर्शनम् ।

श्रीशबरस्वामिविरचितभाष्यसहितम् ।

सप्तमप्रभृति-नवमाध्यायपर्यन्तम् । ७-९ ।

पं० रत्नगोपालभट्टेन संशोधितम् ।

चौखम्भासंस्कृतपुस्तकालयाऽध्यक्ष-

हरिदासात्मजहरिकृष्णदासगुप्तेन

स्वकीये विद्याविसास यन्त्रे

संमुद्रितम् ।

—:०:—

MĪMĀNSĀDARŚANA,

With the commentary of Sabara swami,

SEVEN TO NINE CHAPTERS.

Edited by

Pandita Ratna Gopāla Bhatta.

PRINTED AT THE VIDYĀ VILĀSA PRESS,

BY HARIKRISHNA DĀSA GUPTA.

BENARES CITY.

1910.

श्रीहरिः ।

मीमांसादर्शनाधिकरणसूची ॥ अ० ७ । ८ । ९ ॥

अधिकरणसंख्या ।

पृष्ठसंख्या ।

| | | |
|---|--|----|
| १ | प्रयाजादिधर्माणामपूर्वप्रयुक्तताधिकरणम् | ८ |
| २ | समानमितरच्छेदनेनेति श्रुत्या इषौ श्येनीयविशेषधर्मा- ऽतिदेशाधिकरणम् | १० |
| ३ | एतद्ब्राह्मणानीत्यादीनां पञ्चहविःषु सार्थवादविध्यति- देशाधिकरणम् | ११ |
| ४ | एतद्ब्राह्मण इत्यनेन एककपालैन्द्राग्नयोः सार्थवाद- विध्यतिदेशाऽधिकरणम् | ११ |
| ५ | साकमेधे वारुणप्राधासिकैककपालातिदेशाऽधिकरणम् | १२ |

अ० ७ । पा० १ ॥

| | | |
|---|--|----|
| १ | रथन्तरादिशब्दस्य गानविशेषार्थताधिकरणम् ... | २० |
|---|--|----|

अ० ७ । पा० २ ॥

| | | |
|----|--|----|
| १ | अग्निहोत्रादिनाम्ना धर्मातिदेशाधिकरणम् | २२ |
| २ | प्रायणीयेति नाम्ना धर्मानतिदेशाधिकरणम् ... | २३ |
| ३ | सर्वपृष्ठशब्देन षट्पृष्ठानामतिदेशाधिकरणम् ... | २४ |
| ४ | अवभृथनाम्ना सौमिकधर्मातिदेशाधिकरणम् ... | २५ |
| ५ | वारुणप्राधासिकावभृथस्य तुषनिष्कासद्रव्यकत्वाधिकरणम् | २६ |
| ६ | वैष्णवशब्दादातिथ्ये धर्मानतिदेशाधिकरणम् ... | २७ |
| ७ | निर्मन्थ्यादिशब्दैर्धर्मानतिदेशाधिकरणम् | २७ |
| ८ | द्वयोः प्रणयन्तीत्यनेन सौमिकधर्मानतिदेशाधिकरणम् | २८ |
| ९ | द्वयोः प्रणयन्तीत्यनेन मध्यमयोर्द्वयोः प्रणयनाधिकरणम् | ३० |
| १० | स्वरसामादिशब्देन धर्मातिदेशाधिकरणम् ... | ३१ |
| ११ | वासो ददातीत्यादौ वासआदिशब्दानामाकृतिनिमित्तता- ऽधिकरणम् | ३२ |
| १२ | गर्गत्रिरात्रे लौकिकेऽग्नौ उपनिधानाऽधिकरणम् ... | ३२ |
| १३ | उपशयो यूपो भवतीत्यादौ यूपशब्दस्य संस्काराप्रयोजकता- ऽधिकरणम् | ३३ |
| १४ | पृष्ठैरुपतिष्ठन्ते इत्यादौ पृष्ठशब्दस्य ऋग्द्रव्यवाचिताधिकरणम् | ३५ |

अ० ७ । पा० ३ ॥

| | | |
|---|--|----|
| १ | सौर्ये चरौ इतिकर्तव्यतावस्वाऽधिकरणम् | ३६ |
| २ | सौर्ये चरौ वैदिकेतिकर्तव्यताधिकरणम् | ४२ |
| ३ | गवामयने ऐकाहिकेतिकर्तव्यतानुष्ठानाधिकरणम् | ४५ |

अ० ७ । पा० ४ ॥

| | | |
|----|---|----|
| १ | प्रतिज्ञाधिकरणम् | ४६ |
| २ | विशेषकर्मणो धर्मातिदेशाधिकरणम् | ४७ |
| ३ | सोमे ऐष्टिकधर्मानतिदेशाधिकरणम् | ४८ |
| ४ | पेन्द्राग्नादौ ऐष्टिकधर्मातिदेशाऽधिकरणम् | ४९ |
| ५ | अग्नीषोमीयपशौ दार्शपौर्णमासिकधर्मातिदेशाधिकरणम् | ४९ |
| ६ | सवनीयादिपशौ अग्नीषोमीयधर्मातिदेशाधिकरणम् | ५० |
| ७ | ऐकादशिनपशौ सवनधर्मातिदेशाधिकरणम् | ५० |
| ८ | पशुगणेषु ऐकादशिनधर्मातिदेशाधिकरणम् | ५१ |
| ९ | अव्यक्तयजतौ सौमिकधर्मातिदेशाधिकरणम् | ५१ |
| १० | अहर्गणेषु द्वादशाहिकधर्मातिदेशाधिकरणम् | ५१ |
| ११ | संवत्सरसत्रेषु गवामयनिकधर्मातिदेशाधिकरणम् | ५२ |
| १२ | निकायिनामुत्तरेषु पूर्वनिकायिधर्मातिदेशाधिकरणम् | ५२ |
| १३ | फलादीनामनतिदेशाधिकरणम् | ५३ |
| १४ | गुणकामानां गोदोहनादीनामनतिदेशाऽधिकरणम् | ५४ |
| १५ | सौर्ये चरावभिमर्शनद्वयस्य विकल्पाधिकरणम् | ५५ |
| १६ | सौर्ये चरावाग्नेयधर्मातिदेशाधिकरणम् | ५६ |
| १७ | हविर्देवतयोः संनिपाते हविःसामान्यस्य बलीयस्त्वा- ऽधिकरणम् | ५८ |
| १८ | शतकृष्णलाख्यहिरण्ये औषधधर्मातिदेशाधिकरणम् | ५९ |
| १९ | मधूदके उपांशुयाजीयाऽऽज्यधर्मातिदेशाधिकरणम् | ५९ |

अ० ८ । पा० १ ॥

| | | |
|---|--|----|
| १ | ऐष्टिकसौत्रामण्योरैष्टिकधर्मातिदेशाधिकरणम् | ६१ |
| २ | पशौ साम्नाय्यधर्मातिदेशाधिकरणम् | ६२ |
| ३ | पशौ पयोधर्मातिदेशाधिकरणम् | ६२ |
| ४ | आमिक्षायां पयोधर्मातिदेशाधिकरणम् | ६३ |
| ५ | द्वादशाहे सत्राऽहीनयोर्व्यवस्थया धर्मातिदेशाधिकरणम् | ६५ |

| | | | | | |
|----|---|----------------|-----|-----|-----|
| ६ | पञ्चदशरात्रादिषु सत्रधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ ... | ... | ... | ... | ... |
| | | अ० ८ । पा० २ ॥ | | | ६५ |
| १ | शुचिदेवते आग्नेयस्याग्नावैष्णवे च अग्नीषोमीयस्य धर्मातिदेशाऽधिकरणम् | ... | ... | ... | ६७ |
| २ | जनकसप्तरात्रे त्रिवृत्स्वहःसु द्वादशाहधर्मातिदेशाधिकरणम् | ... | ... | ... | ६८ |
| ३ | षट्त्रिंशद्वात्रे षडहधर्मातिदेशाधिकरणम् | ... | ... | ... | ६९ |
| ४ | संस्थागणेषु द्वादशाहिकधर्मातिदेशाधिकरणम् | ... | ... | ... | ७० |
| ५ | शतोक्त्यादौ ज्योतिष्टोमात् स्तोत्रोपचयाधिकरणम्... | ... | ... | ... | ७० |
| ६ | गायत्रमेतद्दहर्भवतीत्यादाबुत्पत्तिगायत्रीणामागमा- ऽधिकरणम् ॥ अ० ८ । पा० ३ ॥ | ... | ... | ... | ७७ |
| १ | दर्विहोमशब्दस्य कर्मनामधेयताधिकरणम् | ... | ... | ... | ७७ |
| २ | दर्विहोमशब्दस्य लौकिकवैदिकोभयकर्मनामधेयता- ऽधिकरणम् | ... | ... | ... | ७८ |
| ३ | दर्विहोमशब्दस्य होमनामधेयताधिकरणम् | ... | ... | ... | ७८ |
| ४ | दर्विहोमशब्दस्य गुणविधिपरत्वनिराकरणाधिकरणम् | ... | ... | ... | ७९ |
| ५ | दर्विहोमशब्दस्यापूर्वताधिकरणम् ॥ अ० ८ । पा० ४ ॥ | ... | ... | ... | ८५ |
| १ | अग्निहोत्रादिषु उक्तानां धर्माणामपूर्वप्रयुक्तत्वाधिकरणम् | ... | ... | ... | ८७ |
| २ | प्रोक्षणास्यापूर्वप्रयुक्तत्वाधिकरणम्... | ... | ... | ... | ९० |
| २ | उच्चावचध्वनेः परमापूर्वप्रयुक्तताधिकरणम् | ... | ... | ... | ९१ |
| ३ | फलदेवतासम्बद्धधर्माणामप्यपूर्वप्रयुक्तताधिकरणम् | ... | ... | ... | ९२ |
| ४ | धर्माणामदेवताप्रयुक्तत्वाधिकरणम् | ... | ... | ... | ९८ |
| ५ | प्रोक्षणादीनामपूर्वप्रयुक्तत्वाधिकरणम् | ... | ... | ... | १०१ |
| ६ | अग्निष्टोमे उपांशुत्वस्य प्राचीनपदार्थप्रयुक्तत्वाधिकरणम् | ... | ... | ... | १०४ |
| ७ | इष्टकासु सकृद्विकर्षणाद्यनुष्ठानाधिकरणम् | ... | ... | ... | १०६ |
| ८ | उत्तमान्यानामह्नां पक्षीसंयाजासंस्थाधिकरणम् | ... | ... | ... | १०८ |
| ९ | त्रिः प्रथमामन्वाहेत्यादिषु स्थानधर्मताधिकरणम् | ... | ... | ... | ११० |
| १० | यावज्जीवदर्शपूर्णमासयोरारम्भणीयेष्टेः सकृदनुष्ठाना- ऽधिकरणम् | ... | ... | ... | १११ |
| १० | आरम्भणीयेष्टेः पुरुषसंस्कारताधिकरणम् | ... | ... | ... | ११२ |
| ११ | निर्वापमन्त्रे सवित्रादिशब्दानामनूहाधिकरणम् | ... | ... | ... | ११४ |
| १२ | अग्नये जुष्टमिति मन्त्रे अग्निशब्दस्य विकृतावूहाधिकरणम् | ... | ... | ... | ११५ |

| | | | |
|----|--|--------|-----|
| १२ | तण्डुलावापमन्त्रे धान्यशब्दस्योहाधिकरणम् | ... | ११५ |
| १३ | इडोपह्वानमन्त्रे यज्ञपतिशब्दस्यानूहाधिकरणम् | ... | ११६ |
| १४ | प्रहरणकरणसूक्तवाके यजमानशब्दस्योहाधिकरणम् | | ११७ |
| १५ | सुब्रह्मण्याह्वाननिगदे हरिवच्छब्दस्यानूहाधिकरणम् | | ११९ |
| १५ | तस्यै श्रुतमिति मन्त्रेऽनूहाधिकरणम् | ... | १२० |
| १६ | सारस्वत्यां मेष्वाभ्रिगुवचनाभावाऽधिकरणम् | ... | १२२ |
| १७ | यज्ञायज्ञीये गिराशब्दस्य स्थाने इरापदस्यैव कर्तव्यता- ऽधिकरणम् | | १२३ |
| १८ | इरापदस्य प्रगीतताधिकरणम् ॥ अ० ९ । पा० १ ॥ | | १२४ |
| १ | गीतीनां सामनामताधिकरणम् | ... | १२५ |
| १ | ऊहग्रन्थस्य पौरुषेयताधिकरणम् | ... | १२६ |
| २ | साम्न ऋक्संस्कारकर्मताधिकरणम् | ... | १२९ |
| ३ | तृचे प्रत्यृचं कृत्स्नसाम्नः समापनाधिकरणम् | ... | १३२ |
| ४ | समास्वेव तिसृषु ऋश्रु गानाधिकरणम् | ... | १३२ |
| ५ | उत्तरयोर्गायतीत्यत्र उत्तराग्रन्थसमधीतयोरेव ऋचो- र्ग्रहणाधिकरणम् | | १३३ |
| ५ | अतिजगत्वामभ्यस्यमानायां त्रिशोकगानाधिकरणम् | | १३४ |
| ६ | बृहतीपङ्क्तयोरेव प्रग्रथनेन रथन्तरस्य गानाधिकरणम् | | १३६ |
| ६ | बृहतीविस्तारपङ्क्तयोः प्रग्रथनेन रौरवथौधाजयसाम्नोर्गाना- ऽधिकरणम् | | १३८ |
| ६ | अनुष्टुब्गायत्र्योः प्रग्रथनेन श्यावाश्वान्धीगवयोर्गाना- ऽधिकरणम् | | १३९ |
| ६ | पादप्रग्रथनेन ब्रह्मसामगानाधिकरणम् | ... | १४० |
| ७ | गीतिसंपादकानामक्षरविकारादीनां विकल्पाधिकरणम् | | १४० |
| ८ | ऋचा स्तुवते साम्ना स्तुवते इति विधिना साम्नैव- स्तवविधानाधिकरणम् | | १४१ |
| ८ | अयं सहस्रमानव इत्युच्चा प्रगीतयैव आहवनीयोपस्थाना- ऽधिकरणम् | | १४२ |
| ८ | अग्निर्मूर्द्धेत्यादियानुवाक्यादीनां तानेन प्रयोगाधिकरणम् | | १४३ |
| ९ | रथन्तरमुत्तरयोर्गायतीत्यादौ उत्तरावर्णवशेन गाना- ऽधिकरणम् | | १४४ |

| | | | |
|---|-----|-----|-----|
| १० उत्तरयोः स्तोभातिदेशाधिकरणम् | ... | ... | १४५ |
| ११ स्तोमलक्षणाधिकरणम् | ... | ... | १४६ |
| १२ नीवारादिषु प्रोक्षणावघातादिधर्मानुष्ठाधिकरणम् | ... | ... | १४७ |
| १३ परिधौ धूपधर्मानुष्ठानाधिकरणम् | ... | ... | १४८ |
| १४ श्रुतादौ प्रणीताधर्मानुष्ठानाधिकरणम् | ... | ... | १४९ |
| १५ बृहद्रथन्तरयोर्धर्मव्यवस्थाधिकरणम् | ... | ... | १५० |
| १६ कण्वरथन्तरे बृहद्रथन्तरधर्मसमुच्चयाधिकरणम् | ... | ... | १५० |
| १७ द्विसामके बृहद्रथन्तरधर्मयोर्व्यवस्थाधिकरणम् | ... | ... | १५१ |
| १८ सौर्यादिषु पार्वणहोमाद्यननुष्ठानाधिकरणम् | ... | ... | १५२ |
| १९ दर्शपौर्णमासयोर्होमद्वयस्य व्यवस्थाधिकरणम् | ... | ... | १५३ |
| २० समिदादीनां यागनामधेयताधिकरणम् ॥ अ० ९ पा० २ ॥ | ... | ... | १५४ |
| १ विकृतौ मन्त्रगतव्रीह्यादिशब्दानामूहाधिकरणम् | ... | ... | १५५ |
| २ पौण्डरीकेषु हविःषु स्तरणमन्त्रस्योहाधिकरणम् | ... | ... | १५७ |
| ३ अग्नीषोमीयपशौ लौकिकयूपस्पर्शप्रायश्चित्ताधिकरणम् | ... | ... | १५८ |
| ४ द्विपशुयागे पाशमन्त्रयोरेकवचनान्तपदयोर्द्विवचनान्तेनोहा- ऽधिकरणम् | ... | ... | १६१ |
| ५ अग्नीषोमीयपशौ पाशैकत्वपाशबहुत्वाभिधायिमन्त्रयो- र्विकल्पाधिकरणम् | ... | ... | १६३ |
| ६ दर्शपूर्णमासयोर्द्विपत्नीके प्रयोगे पत्नीं सन्नह्येति मन्त्रस्थानूहा- ऽधिकरणम् | ... | ... | १६३ |
| ७ द्विपत्नीके विकृतियागेऽपि, पत्नीं सन्नह्येति मन्त्रस्थानूहा- ऽधिकरणम् | ... | ... | १६४ |
| ८ सवनीयपशूनामग्नीषोमीयसमानविधानत्वे, प्रास्मै अस्मि- न्निति मन्त्रे अमूहाधिकरणम् | ... | ... | १६४ |
| ९ नीवाराणां व्रीहिप्रतिनिधित्वे मन्त्रे व्रीहिशब्दस्यानूहा- ऽधिकरणम् | ... | ... | १६५ |
| १० द्विपशुयागे, सूर्यं चक्षुर्गमयतादिति मन्त्राणामनूहाधिकरणम् | ... | ... | १६६ |
| ११ द्विपशुयागे अभ्रिगुप्रैवे, एकधेत्यस्य शब्दस्याभ्यासा- ऽधिकरणम् | ... | ... | १६७ |
| १२ द्विपश्वादिपशुविकृतौ मेधपतिशब्दस्य देवतानुसारेणोहा- ऽधिकरणम् | ... | ... | १७० |

| | |
|---|-----|
| १३ बहुदेवपशौ अपि एकवचनान्तमेधपतिशब्दस्य विकल्पा- ऽधिकरणम् १७० | १७० |
| १४ एकादशिन्यामेकवचनान्तमेधपतिशब्दस्योहाधिकरणम् | १७१ |
| अ० ९ । पा० ३ ॥ | |
| १ षड्विंशतिरस्य षड्क्रय इत्यादौ समस्योहाधिकरणम् | १७६ |
| २ चतुस्त्रिंशद्वाजिन इत्यनेन आश्वमेधिकसवनीयाश्वस्य चतु- स्त्रिंशद्ब्रह्मिकरूपविशेषवचनाधिकरणम् १७७ | १७७ |
| ३ आश्वमेधिकसवनीयाश्वस्य, न चतुस्त्रिंशदिति ब्रूया- दित्यनेन समस्ताया एव ऋचो निषेधाधिकरणम् १७८ | १७८ |
| ४ अग्नीषोमीयपशाबुरुकशब्देन वपामिधानाधिकरणम् | १७९ |
| ५ अग्निगौ प्रशसा बाहू इत्यत्र प्रशसाशब्दस्य प्रशंसापरत्वा- ऽधिकरणम् १८० | १८० |
| ६ अग्निगौ इयेनमस्य षक्ष इत्यादौ श्येनादिशब्दानां कात्स्न्य- वचनाधिकरणम् १८१ | १८१ |
| ७ दर्शार्थोद्घुताग्निर्लोपे प्रायश्चित्तरूपज्योतिष्मत्या अननुष्ठाना- ऽधिकरणम् १८२ | १८२ |
| ८ धार्योद्धाने प्रायश्चित्तरूपज्योतिष्मत्यननुष्ठानाधिकरणम् | १८३ |
| ९ दर्शार्थस्योद्धरणस्यामन्त्रकत्वाधिकरणम् १८४ | १८४ |
| १० प्रायणीयचरौ प्रदानधर्माणामननुष्ठानाधिकरणम् १८७ | १८७ |
| ११ अभ्युदयेष्टौ दधिशृतयोः प्रदेयधर्माऽनुष्ठानाधिकरणम् | १८८ |
| १२ पशुकामेष्टौ दधिशृतयोः प्रदेयधर्माननुष्ठानाधिकरणम् | १८९ |
| १३ ज्योतिष्टोमे श्रयणानां प्रदेयधर्माननुष्ठानाधिकरणम् | १९० |
| १४ अश्वमेधे, ईशानाय परस्वत इत्यनेन यागान्तरविधाना- ऽधिकरणम् १९२ | १९२ |
| १५ आज्येन शेषं संस्थापयतीत्यनेन कर्मान्तरविधाना- ऽधिकरणम् ॥ अ० ९ । पा० ४ ॥ १९४ | १९४ |



अथोत्तरषट्के मीमांसीदिशेन शाबरभाष्ये

सप्तमस्य अध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ ७ ॥ १ ॥

श्रुतिप्रमाणत्वाच्छेषाणां मुख्यभेदे यथाधिकारं भावः स्यात् ॥ १ ॥

पूर्वेण अध्यायषट्केन प्रत्यक्षविहितधर्माणां कर्मणां दर्शपूर्ण-
मासादीनाम् इतिकर्तव्यता चिन्तिता । उत्तरेणेदानीम् अविहितेति-
कर्तव्यताकेष्वेन्द्राग्नादिषु चिन्तयितुमिष्यते । तत्र यदि दर्शपूर्ण-
मासादीनां प्रकरणे ये विहिता धर्मास्ते सर्वकर्मसु विहिता भवन्ति ।
ततस्तैरेव धर्मैरेन्द्राग्नाद्योऽपि धर्मवन्त उक्तास्तथा कर्तव्याश्चेति,
न अर्थ उत्तरेण षट्केन । अथ ये यस्य प्रकरणे उच्यन्ते, ते तत्रैव
उक्ता भवन्ति । ततोऽधर्मकाणि ऐन्द्राग्नादीनि । तेषु चिन्ता भवति ।
किमेषां धर्माः सन्ति, उत नेति । यदा च सन्ति, तदा, के ? कियन्तो
वा ? कथं चानुष्ठातव्याः ? इति । तदर्थमुत्तरः षट्कः प्रवर्त्तनीयः ॥

तत्र सप्तमेन तावत् सन्ति धर्मा इत्युच्यते । अष्टमेन च इमे
अस्येति । इत्थं प्रयोक्तव्या इति नवमेन । दशमैकादशद्वादशैरेता-
वन्तः प्रयोक्तव्याः, न अतोऽधिका इति ॥

तत्रेदं विचार्यते, किं यजिप्रयुक्ता एते धर्माः । कथं यजिर्गुण-
वान् स्यादित्येवमर्थमाग्नयन्ते ? आहोस्विद् अपूर्वप्रयुक्ताः । कथ-
मपूर्वं स्यादिति । यदि यजिप्रयुक्तास्ततः सर्वार्थाः । अथ अपूर्वप्र-
युक्तास्ततो यथाप्रकरणं व्यवतिष्ठन्ते । किं पुनरत्र युक्तम् । अपूर्व-
प्रयुक्ता इति । अपूर्वं हि फलवत् । अफलो यजिः । फलवति च प्रया-
सा विधीयमानोऽर्थवान् भवति । तस्मादपूर्वप्रयुक्ता धर्माः । अतः
परमाचार्यस्य सूत्रोपन्यासः ॥ श्रुतिप्रमाणत्वाच्छेषाणां मुख्यभेदे
यथाधिकारं भावः स्यादिति । मुख्यानि अपूर्वाणि । तानि हि फलव-
त्त्वात् प्रधानानि । प्रधाने च मुख्यशब्दः । तेषां भेद उक्तः शब्दा-
न्तरादिभिर्हेतुभिः । तस्मिन् मुख्यभेदे सति यथाधिकारं भावः स्या-
च्छेषाणाम् । ये यस्य अपूर्वस्य अधिकारे प्रकरणे शिष्यन्ते, ते तस्यैव

भवेयुः । श्रुतिप्रमाणत्वात् । अयमस्यापूर्वस्य शेषः । अयमस्येत्यत्र श्रुतिरेव प्रमाणं क्रमते । न प्रत्यक्षादीनामन्यतमत् । श्रुत्या च ये यस्य प्रकरणे श्रूयन्ते, ते तस्यैव भवितुमर्हन्ति । न चान्यस्योक्तोऽर्थोऽन्यस्य भवति । न हि यद्देवदत्तस्य प्रामाख्यादनादिकं, तद्यद्देवदत्तस्य भवति । तस्माद् यथाप्रकरणं व्यवस्था धर्माणाम् ॥ १ ॥ सिद्धान्तः ॥

उत्पत्त्यर्थाविभागाद्वा सत्त्ववदैकधर्म्यं स्यात् ॥ २ ॥

अथ वा, नैतदेवं, यथाप्रकरणं धर्माणां व्यवस्था इति । कथं तर्हि । ऐकधर्म्यं स्यादिति । समानधर्मता । सर्वे धर्माः सर्वार्थाः । कुतः । उत्पत्त्यर्थाविभागात् । उत्पत्तिरिति यजि ब्रूमः । अपूर्वस्यो-
त्पादनात् । अर्थ इति अपूर्वं ब्रूमः । यजिप्रयोजनत्वात् । तयोरविभा-
गः । सर्वाण्यपूर्वाणि यजिमन्ति । यजिसंयोगेन धर्माः शिष्यन्ते । यजेतेत्युक्त्वा उक्ताः । ते यजौ न सम्भवन्ति । तस्य अफलत्वात् । तत्र-
असम्भवन्तस्तत्सम्बद्धेषु अपूर्वेषु विज्ञायन्ते । स च यजिसम्बन्धः सर्वेषामपूर्वाणां तुल्यः । तस्मात् सर्वार्था भवन्ति । सत्त्वधर्मव-
त् । यथा सत्त्वधर्माः, गौर्न पदा स्प्रष्टव्य इति गोत्वसम्बन्धेन श्रूय-
माणास्तत्रासम्भवन्तस्तत्सम्बद्धेषु पिण्डेषु विज्ञायन्ते । तस्य च गो-
त्वसम्बन्धस्याविशेषात् सर्वगवीषु शुक्लनीलकपिलकपोतिकासु भव-
न्ति । एवमिहापि ॥

उच्यते । विषम उपन्यासः । तत्र गोसामान्यसम्बन्धेन धर्मा विधीयन्ते । गौर्न पदा स्प्रष्टव्य इति । इह पुनर्याजिविशेषसम्बन्धेन धर्मा विधीयन्ते । दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतेति, ज्योतिष्टोमेन यजेतेति । विशिष्टयजिसम्बद्धे एव अपूर्वं भवितुमर्हन्ति, न सर्वत्रेति । तत्र ब्रूमः दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतेत्यत्र न शक्यन्ते यागविशेषे धर्मा विधानुम् । किं कारणम् । यदा यजौ धर्मा विधीयन्ते, तदा यजिरनूयते । यजे-
तेत्यमिति । यदि यजिर्विधीयेत, न धर्मैः सम्बद्धेयत् । न हि द्वयोर्वि-
धीयमानयोः परस्परेण सम्बन्धो भवति । अनुवादश्च सन् अविशे-
षात् सर्वयागानुवादः । तस्मात् सर्वार्था धर्माः ॥ ननु दर्शपूर्णमास-
शब्दो विशेषको भविष्यति । न दर्शपूर्णमासशब्दः शक्नोति यागं विशेषुम् । अयं हि विधिर्वा स्याद्, अनुवादो वा । यदानुवादस्तदा धर्मसम्बन्धार्थः । स च धर्मसम्बन्धो यागानुवादेनैव तयोः सिद्धः ॥

ननु निवृत्तिकरो भविष्यति । दर्शपूर्णमासौ एवेत्थं कुर्याद्, नान्यान् इति । नैवं शक्यम् । यत् कारणं, न तस्यान्यनिवृत्तिरर्थः । ननु परिसङ्ख्या कारिष्यति । नात्र परिसङ्ख्या युज्यते । यदि अन्येन वाक्येन यागमात्रे धर्मप्रसङ्गः कृतः स्यात्, तत एतत् पुनर्वचनं परिसङ्ख्यां कुर्यात् । अथ पुनरसति प्रसङ्गे अनेनैव प्रसङ्गोऽनेनैव निवृत्तिरित्यतिभार एकस्यैव वाक्यस्य भवति ॥

एवं तर्हि, न अत्र यजेतेति शब्दो धर्मविधिभिः सम्बद्ध्यते, यजेत इत्यमिति । केन तर्हि ? दर्शपूर्णमासशब्देन । प्रत्यक्षो हि तेनास्य संयोगः । दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतेति । परोक्षो धर्मविधिभिः । कस्तदा वाक्यार्थः । दर्शपूर्णमासौ कुर्यादिति । नैवं शक्यम् । एवं सति धर्मा असम्बद्धाः पारिप्लवा भवन्ति । कथं कृत्वा । येयमाख्यातिकी विभक्तिः— यजेतेति । सा दर्शपूर्णमासयोः कर्त्तव्यतां विदधाति । तत्र कथं यागमात्रेण यागविशेषण वा धर्मसम्बन्धः स्यात् । विधायिका विभक्तिर्नास्तीत्यसम्बद्धा धर्मा भवन्ति ॥ नैष दोषः । न वयं वाक्येन धर्माणां सम्बन्धं करिष्यामः । केन तर्हि । प्रकरणेन । कथम् । कर्त्तव्यतायां चोदितायामितिकर्त्तव्यताकाङ्क्षा भवति । कथं कुर्यादिति । प्रकरणेन धर्माः सम्बद्ध्यन्ते, इत्थं कुर्यादिति नैवं शक्यम् । यदा हि दर्शपूर्णमासौ कर्त्तव्यतया चोद्येते, तदा इतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षा एव नास्ति । प्रज्ञातैतिकर्त्तव्यतात्वात्तयोः । असत्याञ्चेतिकर्त्तव्यताकाङ्क्षायां प्रकरणमेव नास्ति । एवं हि उक्तम् । असंयुक्तं प्रकरणादितिकर्त्तव्यतार्थित्वादिति ॥ एवं तर्हि, नैवात्र यागे धर्मा विधीयन्ते । नापि दर्शपूर्णमासयोः कर्त्तव्यतोच्यते । किन्तर्हि ? दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतेति पदद्वयेन विशिष्टं यागमनूद्यात्र धर्मा विधीयन्ते । दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतेत्यमिति । एवमपि दर्शपूर्णमासाभ्यामित्यनुवादो न युज्यते । तृतीयार्थस्यासिद्धत्वात् । पूर्वधान् अनुवादो भवति । अपूर्वश्च तृतीयार्थः । सोऽवश्यं विधातव्यः । तस्मिन्श्च विधीयमानेऽन्यदेवासम्बद्धमापद्यते । दर्शपूर्णमासौ यजेः करणमिति । तस्मात् स एव प्रथमः पक्षोऽस्तु । यागानुवादेन धर्माणां विधिरिति ॥

ननु तत्रापि दर्शपूर्णमासाभ्यामित्येतन्न सम्बद्ध्यते । ननु सम्भन्स्यते । कालवचनः सन् प्रायिको नित्यानुवादो भाविष्यति । प्रायेण यागानां दर्शपूर्णमासकालत्वात् । तृतीया च कालस्य अर्घकृतं गुण-

भावमालोच्योपपद्यते । तथा चेत् सर्वे धर्माः सर्वार्या भवन्ति ॥ २ ॥
पूर्वपक्षः ॥

चोदनाशेषभावाद्वा तद्भेदाद् व्यवतिष्ठेरन्नु-
त्पत्तं गुणभूतत्वात् ॥ ३ ॥

कर्मचोदनायाः शेषभूतो धर्मसमाम्नायः, एकदेशभूत इत्यर्थः ।
दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत, अनया अग्न्यन्वाधानादिकया इतिकर्तव्य-
तयेति । तस्यां चोदनायां यजेर्गुणभावः श्रूयते । दर्शपूर्णमासशब्दो
यजिवचनः । करणभावोऽत्र यजेः श्रूयते । दर्शपूर्णमासाख्येन याग-
समुदायेनान्यत् कुर्व्यादिति । यत् ततोऽन्यत् तत् कर्तव्यतया
चोद्यते, न यजिः । अपूर्वं च तत् । ननु फलमत्र वाक्ये श्रूयते । स्वर्ग-
कामो यजेतेति । तत् कर्तव्यं स्यात् । सत्यं श्रूयते, न तु तद् यजिना
क्रियते । विनष्टे यजौ तद्भवति । अपूर्वं तु तेन क्रियते । तस्मात्
तस्य कर्तव्यतोच्यते । यस्य कर्तव्यता तद् इतिकर्तव्यतया सम्बद्ध्य-
ते । तस्माद्पूर्वार्था धर्माः । तेषां चापूर्वाणां भेदः । अतस्तद्भेदाद्
यथाप्रकरणं व्यवतिष्ठन्ते धर्मा इति ॥

अथैतस्मिन् पक्षे कथं दर्शपूर्णमासशब्देन यागो विशेष्यते ? ।
उच्यते । नैवात्र यागो विशेष्यते । किं तर्हि । अपूर्वभावनैव उभयपद-
विशिष्टोच्यते । यथा अरुणया पिङ्गाक्षया एकहायन्या सोमं क्रीणा-
तीति । विषम उपन्यासः । तत्र ह्यन्यद् द्रव्यम्, अन्यो गुणः । तेन
तत्रोभयविशेषणत्वं युज्यते । इह पुनर्यागः एव तौ दर्शपूर्णमासौ ।
तेनेहोभयविशेषणत्वं न युज्यते । उच्यते । इहापि यजेतेति सामान्यं,
दर्शपूर्णमासौ इति विशेषः । अन्यच्च सामान्यमन्यो विशेषः ॥ एष-
मापि श्रुत्या सामान्येन भावना, वाक्याद् विशेषेण । न चैतद् युगप-
द्भवतीति । एवं तर्हि, नैवात्र श्रुत्यर्थः परिगृह्यते । किन्तर्हि ? वा-
क्यार्थः । किङ्कारणम् । श्रुत्यर्थे परिगृह्यमाणे दर्शपूर्णमासशब्दोऽन-
र्थको भवति । यजतिश्चानुवाद्ः । यजत्यात्मकत्वाद्दर्शपूर्णमासयोः ।
यजतिसामानाधिकरण्याच्च दर्शपूर्णमासशब्दस्य ॥ ३ ॥ उत्तरम् ॥

सत्त्वे लक्षणसंयोगात् सार्वत्रिकं प्रतीयेत ॥ ४ ॥

यन्तु सत्त्ववदिति । अत्र गवाकृतौ धर्मः श्रूयते । आकृतेः पदा-
र्थत्वात् । न च तत्र सम्भवति । अतोऽसौ आकृतिः सहचारि-

पिण्डलक्षणार्था विज्ञायते । यथा गङ्गायां गाव इति । तच्च साहचर्यं सर्वपिण्डानामविशिष्टमिति, सर्वपिण्डेषु विहितं भवति । तस्मात् तत् सार्वत्रिकं प्रतीयेत । इह तु यजेर्गुणभावेन भ्रवणाद् नैव यजौ धर्माः भ्रूयन्ते । किं तर्हि ? अपूर्वं इत्येवमपदिष्टो हेतुः । तस्मादनु-पन्यासः सत्त्ववदिति ॥ ४ ॥ आशङ्कनिरासः ॥

अविभागात् नैवं स्यात् ॥ ५ ॥

अथ तु-शब्दः पक्षव्यावृत्तौ । नैतदेवम्— अपूर्वप्रयुक्ता धर्मा इति । यजिप्रयुक्ता एव । कुतः । अविभागात् । यजिना अविभागो धर्माणाम् । प्रत्यक्षं केचिद् द्रव्ये भ्रूयन्ते, केचिद् देवतायां, केचिन्मन्त्रेषु । एष च यजिः । यद् द्रव्यं देवतामुद्दिश्य मन्त्रेण त्यज्यते, स एष प्रत्यक्षो यजिना सम्बन्धो धर्माणाम् । अपूर्वेण त्वानुमानिकः । फलेऽपि यजेः प्रत्यक्षभृतो गुणभावः स्वर्गकामो यजेतेति । आनुमानिकोऽपूर्वेण । अनुमानाच्च प्रत्यक्षं बलीयः । तस्माद् यज्यर्था धर्माः । ननु यजिर्भङ्गित्वात् कालान्तरे फलं वनतुमसमर्थः । तत्र कृता धर्मा असमर्था एव भवन्तीत्युक्तम् । अत्र स्थितस्य न्यायस्य आक्षेपेण प्रत्यक्षस्थानं क्रियते । तैलपानवदेतद्भविष्यति । यथा तैलपानं घृतपानं वा भङ्गित्वेऽपि सति कालान्तरे मेधास्मृतिबलपुष्ट्यादीनि फलानि करोति । एवं यजिरपि करिष्यति, किं नोऽहृष्टाश्रुतेनापूर्वेण कल्पितेनेति ॥ ५ ॥ आ० ॥

द्व्यर्थत्वं च विप्रतिषिद्धम् ॥ ६ ॥

एवञ्च सति सर्वे धर्माः सर्वार्था भवन्ति । तथाचैन्द्राग्नादिषु प्रयाजादयः सन्ति । तत्र सौख्ये कर्मणि प्रयाजानां दर्शनमुपपद्यते । प्रयाजे कृष्णलं जुहोतीति । इतरथा प्रयाजाश्च विधातव्याः । प्रयाजेषु च कृष्णलहोमः । तथा च द्व्यर्थं तत् स्यात् । द्व्यर्थत्वं च विप्रतिषिद्धम् । तस्माद् यजिप्रयुक्ता धर्मा इति ॥ ६ ॥ युक्तिः ॥

उत्पत्तौ विध्यभावाद्वा चोदनायां प्रवृत्तिः स्यात्
ततश्च कर्मभेदः स्यात् ॥ ७ ॥

नैतदेवं, यजिप्रयुक्ता धर्मा इति । चोदनायां प्रवृत्तिः स्यात् । चोदनेत्यपूर्वं भ्रूमः । चोदनार्थत्वाद् अपूर्वार्थत्वात् अपूर्वप्रयुक्ता धर्माः । फलवत्त्वादित्युक्तो हेतुः । यत्, प्रत्यक्षो यजिसम्बन्धो धर्माणामिति ।

अत्र ब्रूमः । उत्पत्तौ विध्यभावात् । उत्पत्तिरिति यजि ब्रूमः । उत्पत्तौ यजौ नास्ति विधिः । यज्यर्था धर्मा इति । केवलं यजौ भूयन्ते, क्रियन्ते च । नैतावता तदर्थं भवन्ति । यथा, वाससि रागः भूयते । वासो रजयतीति, वाससि च क्रियते । न चाऽसौ तदर्थः । स्वयर्थः पुरुषार्थो वा भवति । एवमिहापि यजौ भूयमाणाः क्रियमाणाश्च अपूर्वार्था भवेयुरर्थवत्त्वाय । ततश्च कर्मभेदः स्यात् । यतोऽपूर्वार्था इति । यत्तु, यजेः प्रत्यक्षं, फले शुणभाव इति । न कृत्वा अपूर्वं भवतीति, प्राणालिको विहायते । प्रणाड्यापि च येन क्रियते तत् कारणं भवति । यथा, गोमयैः पचति, तुषपक्का भवन्तीति । यत्तु तैलपानवद् यजितः फलं भवतीति । अत्र ब्रूमः । तैलपानस्यापि न कालान्तरे फलं भवति । धातुसाम्यं तस्य फलम् । तच्च तत्कालमेव । यच्च फलं बलपुष्ट्यादि, तत् सम्यगाहारपरिणामाद्भवति । तस्माद्भिषम उपन्यासः ॥ ७ ॥ आ० नि० ॥

यदि वाऽप्यभिधानवत् सामान्यात् सर्वधर्मः स्यात् ॥ ८ ॥

यद्यप्यपूर्वं प्रयोजकं धर्माणां, तथापि सर्वधर्मः स्यात् स स पदार्थः । अभिधानवत् सामान्यात् । अभिधानं तावदेतेषां समानम् । अपूर्वमित्याभिधानवद् धर्मेणापि अस्य समानेन भवितव्यम् । वाहीकवत् । यथा, वाहीकोऽतिथिरागतः, यवाश्रमस्मै प्रक्रियतामित्युक्ते, यो यो वाहीकस्तस्य तस्य यवाश्रं क्रियते । यथा वा, अक्ष्यामये मुद्गौदनो भोक्तव्यः, उदरामये पयः पातव्यमिति । सर्वत्र च हि अक्ष्यामये मुद्गौदनो भुज्यते, उदरामयेऽपि पयः पीयते । एवमिहापि एकस्य अपूर्वस्य ये धर्माः श्रुतास्ते सर्वापूर्वाणां भवितुमर्हन्ति । अपि च, अरुणपराशरा नाम शास्त्रिनः । तेषां परिचरेषु स्मृतिरूपं ब्राह्मणं भवति । ये दर्शपूर्णमासयोर्धर्मास्ते सर्वेऽष्टानामग्नीषोमीयस्य च इत्यारभ्य, यावत्सर्वाः प्रकृतिविकृतयोऽनुक्तान्ता इति । तच्चानुक्रमणमेतमेव न्यायं सूचयति । तस्मादपूर्वप्रयुक्तत्वेऽपि सर्वे धर्माः सर्वार्था इति ॥ ८ ॥ आ० ॥

अर्थस्य त्वविभक्तत्वात्तथा स्यादभिधानेषु पूर्ववत्त्वात्

प्रयोगस्य कर्मणः शब्दभाव्यत्वाद्भिभागा-

च्छेषाणामप्रवृत्तिः स्यात् ॥ ९ ॥

उपवर्णनापरिहारस्तावदुच्यते । यदुक्तं, वाहीकवदिति । अत्र
 ब्रूमः । अर्थस्य त्वविभत्वात्तथा स्यादभिधानेषु । अर्थो वाहीकत्वमे ।
 तद्देशसम्बन्धः, सोऽविभक्तः । सर्ववाहीकेष्वनुगत इत्यर्थः । तन्निमित्त-
 श्च प्रीतिविशेषो, न पुरुषनिमित्तः । कथं ज्ञायते । पूर्ववत्त्वात् प्रयोग-
 स्य । पूर्ववान् अत्र प्रयोगः । बहुशो वाहीकाश्च अवाहीकाश्च भोजिताः
 तत्र अन्वयव्यतिरेकाभ्यां ज्ञातमेतत् । देशनिमित्तं यवाग्नप्रियता,
 न पुरुषनिमित्ता । तस्मात्तथा स्याद् वाहीकादिष्वभिधानेषु । अथेह
 कर्मणः शब्दभाव्यत्वम् । नान्यतः शक्यमेतज्ज्ञातुं, कस्यापूर्वस्य धर्मा
 इति । शब्देन च व्यवस्थिता विज्ञाता धर्माः । अपूर्वाणां च विभागः
 अतः शेषाणामन्यत्र विहितानामन्यत्राप्रवृत्तिः स्यात् ॥९॥ आ०नि०॥

स्मृतिरिति चेत् ॥ १० ॥

अथ यदुक्तं, स्मृतिरिति । तस्य कः परिहारः ? ॥ १० ॥ आ० ॥
 न पूर्ववत्त्वात् ॥ ११ ॥

पूर्ववती हीयं स्मृतिः । चोदकं धर्मग्राहकं वक्ष्यति । विध्यन्तो वा
 प्रकृतिवदिति । तेन प्रापितानां धर्माणामयमनुवादः । एतन्न्यायपूर्वि-
 का, नाप्राप्तानां विधायिका । यत् कारणं, व्यवस्था धर्माणामेतेन
 न्यायेन भवति ॥ ११ ॥ आ० नि० ॥

अर्थस्य शब्दभाव्यत्वात् प्रकरणनिबन्धना-
 च्छब्दादेवान्यत्र भावः स्यात् ॥ १२ ॥

इदं निगमनसूत्रम् । निगमनं च प्रतिज्ञाया हेतोश्च पुनर्वचनम् ।
 तदिदमुच्यते । यस्मादेवं, तस्मादर्थस्य अग्न्यन्वाधानादेः शब्दभाव्य-
 त्वात्, प्रतिप्रकरणं च निबन्धनाच्छब्दादेव अन्यत्र भावः स्यात् ।
 यथा, गन्धर्वाप्सरसो वा एतमुन्मादयन्ति य उन्माद्यत्येता वै गन्धर्वा-
 ऽप्सरसो यद्वाष्ट्रभृतम् । तस्मै स्वाहा ताभ्यः स्वाहेति जुहोतीत्यग्नि-
 प्रकरणे उत्पन्नानां राष्ट्रभृतामुद्वाहे उपदेशः । एतेषां राष्ट्रभृतो जुहो-
 त्यभ्यातानां जुहोतीति । असत्येतस्मिन् वचने यथाधिकारं व्यवति-
 ष्ठेरन् धर्मा इति । एवञ्च सति अधर्मकाणि पेन्द्राग्नादीनि । तदर्थमु-
 क्षरोऽध्यायषट्कः प्रारब्धव्य इति ॥

तत्र सप्तमेन तावदैन्द्राग्नादीनां कर्मणां धर्माः सन्तीत्युच्यते । ते
 चातिदेशेनेति । अतिदेशो नाम ये परत्र विहिता धर्मास्तमतीत्यान्यत्र

तेषां देशः । यथा, देवदत्तस्य भोजनविधिं कृत्वा शालिसूपमांसापूपै-
र्देवदत्तो भोजयितव्य इति । तमेव विधिं यज्ञदत्तेऽतिदिशति, देव-
दत्तवद् यज्ञदत्तो भोजयितव्य इति । श्लोकमपि उदाहरन्ति—

प्रकृतात् कर्मणो यस्मात् तत्समानेषु कर्मसु ।

धर्मप्रदेशां येन स्यात् सोऽतिदेश इति स्थितिः, इति ॥ स च
नाम्ना वचनेन वा । तत्र नाम त्रिविधमातिदेशकं, कर्मनाम, संस्कार-
नाम, यौगिकमिति । वचनं पुनर्द्विविधं, प्रत्यक्षश्रुतमानुमानिकं च ।
तयोरानुमानिकमुपरिष्ठाद् वक्ष्यते । प्रत्यक्षश्रुतं त्विदानीमेव चिन्त्यते
॥ १२ ॥ उपसंहारः ॥ प्रयाजादिधर्माणामपूर्वप्रयुक्तताधिकरणम् ॥ ११ ॥

अस्तीषुनामैकाहः । अपरः श्येनः । तौ द्वावप्याभिचारिकौ । तत्र
इषौ कांश्चिद्धर्मान् विधाय आह, समानमितरच्छयेनेनेति । एतच्चि-
न्त्यते । किमयमनुवादः, विधिः ? इति । यदि विधिस्ततोऽतिदेशः ।
श्येनधर्मान् इषौ अतिदिशति । अथानुवादस्ततो नेति । तत्र किं प्राप्त-
म् ? । तत् सूत्रेणैवोपक्रम्यते—

समाने पूर्ववत्त्वादुत्पन्नाधिकारः स्यात् ॥ १३ ॥

समानमितरच्छयेनेनेति । अत्रोत्पन्नाधिकारः स्यात् । अनुवाद
इत्यर्थः । कुतः ? । पूर्ववत्त्वात् । अयमिषुः पूर्ववान्, ज्योतिष्टोमपूर्व-
कः । ज्यौतिष्टोमिकोऽत्र विध्यन्त इत्यर्थः । अत्र चोदकेनोत्पन्ना ज्यौ-
तिष्टोमिका धर्माः सन्ति । श्येनोऽपि ज्योतिष्टोमपूर्वकः । तत्रापि ते
सन्ति । ये इषौ श्येने च समाना भवन्ति, तानधिकृत्य अयं वादो
युज्यते । तस्मादुत्पन्नाधिकारत्वादानुवादः ॥

किञ्च । इतरदिति चाभावे नोपपद्यते । इतरशब्दश्चासन्निहिते-
ऽनुपपन्नः सन्निहित एव भवति । यथा, इतर आचारो दीयताम् ।
इतरः कम्बलो दीयतामिति सन्निहितो दीयते, न प्रावारमात्रं कम्बल-
मात्रं वा । ज्यौतिष्टोमिकाश्च सन्निहिताः । तस्मात् तेषां वादः । तेषां
चेदमनुवादः । विहिता हि ते चोदकेनेति ॥ १३ ॥ पूर्व० ॥

श्येनस्येति चेत् ॥ १४ ॥

इतिचेत् पश्यसि, ज्यौतिष्टोमिकानामनुवाद इति । नैवम् । श्येन-
स्य वैशेषिकाणां लोहितोष्णीषादीनां धर्माणां विधिः । कुतः । श्येन-
ग्रहणसामर्थ्यात् । एवं श्येनग्रहणमर्थनद् भविष्यति, धर्मान् विशे-

षयत् । इतरथा अनर्थकं स्यात् । सर्वेषां हि एकाहाहीनसन्नाणां ते समानाः । तत्र यावदुक्तं स्यात्, समानमितरदिति, तावदेवं, समानमितरच्छेनेनेति ॥ १४ ॥ पूर्वपक्षे आशङ्क्यः ॥

नासन्निधानात् ॥ १५ ॥

नायं इयेनवैशेषिकाणां वादो युज्यते । कस्मात् । असन्निधानात् । अयमितरशब्दः सन्निहिते भवति । न च इयेनशब्देन वैशेषिका इषौ सन्निहिताः । यत्तु, इयेनशब्दो वैशेषिको भवतीति । विधिपक्षे अवैशेषिकत्वं दोषः स्यात् । अनुवादपक्षे तु नैव कश्चिद् विधीयते, किं विशेषयिष्यति ? । ज्यौतिष्टोमिकास्तु सर्वसाधारणाः सन्तः इयेनस्यापि भवन्तीत्यनुवादो युज्यते । तस्माज्ज्यौतिष्टोमिकानामेवाऽनुवादः ॥ १५ ॥ पूर्वपक्षे आशङ्क्यनिरासः ॥

अपि वा यद्यपूर्वत्वादितरदधिकार्यं ज्यौतिष्टोमिकाद्

विधेस्तद्वाचकं समानं स्यात् ॥ १६ ॥

अपि वेति पक्षान्तरपरिग्रहे । विधिरयं इयेनवैशेषिकाणां, ज्यौतिष्टोमिकानामनुवादः । कुतः । अपूर्वत्वात् । एवमपूर्वमर्थं विधास्यति । तथा प्रवृत्तिविशेषकरो भविष्यति । अनुवादः सन् अप्रवृत्तिविशेषकरोऽनर्थकः स्यात् । नन्वितरशब्दोऽयं सन्निहिते भवति । उच्यते । इतरदधिकार्यं, समानमितरत्, समानमधिकमित्यर्थः ॥ ननु सन्निहितवचनोऽयं न अधिकार्यं इति । उच्यते । न केवलमयं सन्निहितवचन एव । पूर्वोक्तसदृशमसन्निहितमपि भूते । अवशिष्टं च । यदा इि वस्त्राण्यनुक्रम्य इतरशब्दः प्रयुज्यते, देवदत्ताय कम्बलो दीयतां, विष्णुमित्राय कौशेयं, यज्ञदत्ताय क्षौमम्, इतरश्चैत्रायेति । तदा वस्त्रमेव प्रदीयते, न हिरण्यं रजतं वा । इह ज्यौतिष्टोमिकेऽयोऽधिकान् धर्माननुक्रम्य इतरशब्दः प्रयुक्तः । तेन अत्राप्यधिकानेव वक्तुमर्हति । तथा अधिकवचनो भवति ॥ अथ ज्यौतिष्टोमिकान् भूते । तथा सन्निहितवचनः । तत्रावश्यमन्यतरद्वयेयम् । यदि अधिकार्यतां हित्वा सन्निहितार्थता आश्रीयते, अनुवादमात्रमनर्थकं भवति । इयेनशब्दश्चाविवाक्षितार्थः । अथ सन्निहितार्थतां हित्वा अधिकाऽर्थता गृह्यते, न कश्चिद्दोषो भवति । तस्मात् सूत्रकार आह । इतरदधिकार्यं इति । अतो ज्यौतिष्टोमिकाद्विधेरधिकाः इयेनवैशेषि-

का ये, ते इह अतिदिश्यन्ते । तद्वाचकं समानं स्यात् । समानशब्दः स्यादित्यर्थः । भवति इयेनशब्दश्च विवक्षितः ॥ १६ ॥ ॥ सिद्धान्तः ॥ समानमितरच्छयेनेनेति श्रुत्या इषौ इयेनीयविशेषधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ २ ॥

चातुर्मास्यानां वैश्वदेवे आग्नेयादीनि हवीषि सार्थवाद्वाक्यैर्विहितानि । धर्माश्च तेषामुक्ताः । वरुणप्रघासेषु केवलानि हवीषि आम्नाय, यद्वैश्वदेविकानां ब्राह्मणं, तत्तेषामतिदिश्यते । एतद्ब्राह्मणान्येव पञ्च हवीषि, यद्ब्राह्मणानीतराणीति । तत्र किमर्थवादमात्रस्यायमतिदेशः, उत सार्थवादकस्य सविधिकस्य काण्डस्येति । कथं पुनरर्थवादमात्रस्याऽतिदेशो भवति ? । यथा, पम्पाकुलायप्रतिमाश्च वृक्षा इति । के पुनर्विधयः, के अर्थवादाः ? । त्रेधा सन्नद्धं बर्हिर्भवति, त्रेधा सन्नद्ध इध्मः । नव प्रयाजा नवानुयाजा इत्येवमादयो विधयः । वार्त्रघ्नानि वा एतानि हवीषीत्यर्थवादाः ॥ तत्रेदमुच्यते—

पञ्चसञ्चरेष्वर्थवादातिदेशः सन्निधानात् ॥ १७ ॥

पञ्च तानि हवीषि सर्वपर्वसु सञ्चरन्तीति पञ्चसञ्चराणीत्युच्यन्ते । तेषु पञ्चसञ्चरेष्वर्थवादमात्रस्यातिदेश इति।कुतः।सन्निधानात् । हविषां सन्निहिता अर्थवादाः । विधिभिरेकवाक्यसम्बद्धत्वान्न धर्मविधयः । किमतः । अत एतद्भवति, यत् पूर्वेषां ब्राह्मणमिति व्यपदेशो युज्यते । तद्धि तेषां ब्राह्मणं, येन विधीयन्ते । कोऽन्यो हविषां ब्राह्मणस्य च सम्बन्धोऽन्यत्र विधेयविधायकभावात् । अर्थवादैश्चैतानि विधीयन्ते, न धर्मविधिभिः । धर्मविधिभिस्तु यानि विधीयन्ते, न तानि हवीषि । तस्मादर्थवादानामतिदेशो, न धर्मविधीनाम् । अपिच वरुणप्रघासेष्वपि केचिद् वैश्वदेविका धर्मा विधीयन्ते । यथा अग्निं मथ्नन्ति प्रसुवो भवन्तीति । तेषामतिदेशेन विहितानां पुनराम्नामनर्थकं स्यात् । यदि विधयोऽतिदिश्येरन् । तस्मादर्थवादातिदेश इति ॥ १७ ॥ पूर्व० ॥

सर्वस्य वैकशब्धात् ॥ १८ ॥

नैतदेवम्, अर्थवादमात्रस्यातिदेश इति, सविधिकस्य सार्थवादकस्य काण्डस्यातिदेश इति । कुतः । ऐकशब्धात् । समानशब्दत्वादित्यर्थः । समानोऽयं ब्राह्मणमिति शब्दो विधीनामर्थवादानां च । स

यथाऽर्थवादान् गृह्णात्येवं विधीनपि गृह्णातिचेत्, तानप्यतिदिशति । यत्तु विधीनां हविर्भिः सम्बन्धो नास्तीति । विधेयविधायकसम्बन्धो नास्ति, उपकारलक्षणः सम्बन्धो भविष्यति । क उपकारः । यद्देवामङ्गानि विदधाति । अस्तिचेत् सम्बन्धो, ब्राह्मणशब्दभृत्या सर्वातिदेशो न्याय्य इति ॥ १८ ॥ सि० ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १९ ॥

लिङ्गं च विधीनामतिदेशं दर्शयति । किं लिङ्गम् । धरुणप्रघासेषु त्रिंशद्वाहुतयो वाजिनो यजन्त्याहुतीनां सम्पत्स्यै त्रिंशत्वायेति धरुणप्रघासे त्रिंशत्माहुतीर्दर्शयति । यदि विधयो नातिदिश्येरन्, तान स्युः । तस्मादतिदिश्यन्ते ॥ १९ ॥ युक्तिः ॥

विहितान्नानाम्नेति चेत् ॥ २० ॥

विहितान्नानादिति यदुक्तं, तस्य कः परिहारः । आभाषान्तं सूत्रम् ॥ २० ॥ आ० ॥

नेतरार्थत्वात् ॥ २१ ॥

अत्रोच्यते, विध्यतिदेशोऽपि सति नाग्निमन्थनादीनामाज्ञानमनर्थकम् । इतरस्य हविषोऽर्थेन भविष्यति दक्षिणवैहारिकस्य मारुत्याः । तस्मात्तज्ज्ञापकं विधीनामनतिदेशस्य भविष्यति ॥ २१ ॥ आ० नि० ॥ एतद्ब्राह्मणानीत्यादीनां पञ्चहविःषु सार्थवादविध्यतिदेशाधिकरणम् ॥ ३

एककपालैन्द्राग्नौ च तद्वत् ॥ २२ ॥

वैश्वदेवे एककपाल आम्नातः, द्यावापृथिवीय एककपाल इति । धरुणप्रघासेष्वपि, काय एककपाल इति । तत्रापरः, पेन्द्राग्नौ द्वादशकपालो मारुत्यामिक्षा इति । तथा साकमेधेष्वप्येककपालैन्द्राग्नावाम्नातौ । पेन्द्राग्न एकादशकपाल इन्द्राय वृत्रघ्ने चरुर्वैश्वकर्मेण एककपाल इति । तत्रेदम् आम्नातम् । एतद्ब्राह्मण पेन्द्राग्नः, एतद्ब्राह्मण एककपालो यद्ब्राह्मण इतर इतरश्चेति । तत्रेदमुच्यते । एककपालैन्द्राग्नौ च तद्वत् । यद्वत् पञ्चसञ्चराणि । अत्रापि सविधिकस्य सार्थवादकस्य काण्डस्यातिदेशः । तेनैव न्यायेनेति । प्राप्तिः सूत्रमेतदुत्तरचिन्तार्थम् ॥ २२ ॥ एतद्ब्राह्मण इत्यनेन एककपालैन्द्राग्नयोः सार्थवादविध्यतिदेशाऽधिकरणम् ॥ ४ ॥

एककपालानां वैश्वदेविकः प्रकृतिराग्रयणे सर्व-

होमापरिवृत्तिदर्शनादवभृथे च सकृद्- द्वयदानस्य वचनात् ॥ २३ ॥

साकमेधे श्रूयते, एतद्ब्राह्मण एककपाल इति । तत्र चिन्त्यते । वैश्वदेविकस्यैककपालस्येदं ग्रहणम्, उत वारुणप्राघासिकस्येति । किं प्राप्तम् । वैश्वदेविकस्येति ब्रूमः । किं कारणम् । तस्य विहिता धर्माः अलङ्कृत्यअभिपूर्य उपांशु यष्टव्यः, आविः पृष्ठः कार्य्य इत्येवमादयः । वारुणप्राघासिकस्त्वधर्मकः । यस्य विहिता धर्मास्तत्रैतद् युज्यते वक्तुं, तद्वदिदं कर्त्तव्यमिति । तस्माद् वैश्वदेविकस्य ग्रहणम् ॥ नन्वेन्द्राग्निसमुच्चारणादेककपालोऽपि वारुणप्राघासिक एव स्यात् । नावश्यमेकपर्वणोरेव समुच्चारणेन भवितव्यं, नानापर्वणोरपि समुच्चारणमविरुद्धम् । तस्माद् वैश्वदेविकस्य ग्रहणम् । इति प्राप्ते उच्यते । वारुणप्राघासिकस्यैककपालस्य ग्रहणमिति । कुतः । तत एककपालानां वैश्वदेविकः प्रकृतिः । कथं ज्ञायते । आग्रयणे सर्वहोमापरिवृत्तिदर्शनात् । आग्रयणे द्यावापृथिवीयस्यैककपालस्य सर्वहोममपर्यावृत्तिं च दर्शयति । यत् सर्वहुतं करोति सा त्वेका परिचक्षा, हुतो हुतः पर्यावर्त्तते सा द्वितीया । आज्यस्यैव द्यावापृथिव्यौ यजेतेति आज्ययागविधिपरे वाक्ये एककपालस्य सर्वहोममपर्यावृत्तिं च प्राप्तां दर्शयति । एतस्माद्दर्शनाद् अवभृथे च सकृद्द्वयदानस्य वचनाद्, अवभृथे च अवधारणं भवति । इदमेवैककपालस्य द्विरवद्यतीति । तेन ज्ञायते, नूनमन्यत्र न द्विरवदानमिति । तच्चैतत् सर्वं वैश्वदेविके एककपाले विहितम् । तस्मादेककपालानां वैश्वदेविकः प्रकृतिः । किमतः ? । साकमेधिकेऽप्येककपाले वैश्वदेविका धर्माः प्राप्तास्तेषामतिदेशोऽनर्थकः । वारुणप्राघासिकस्य ये धर्मा वैशेषिका अप्राप्तास्तेषामतिदेशोऽर्थवान् । तस्माद् वारुणप्राघासिकस्य एककपालस्येदं ग्रहणमिति । उच्यते । लिङ्गमेतत् । कुतः प्राप्तिरिति । प्राप्तिमुत्तरत्र वक्ष्यामः । स्वरसामैककपालामिक्षं चेत्यत्र । के पुनस्ते धर्माः । हिरण्यमय्यः रूचः शमीमय्यो वेत्येवमादयः ॥ २३ ॥ साकमेधे वारुणप्राघासिकैककपालातिदेशोऽधिकरणम् ॥ ५ ॥ इति श्रीशाबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये सप्तमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ ७ ॥ १ ॥

अथ सप्तमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ ७ ॥ २ ॥

साम्नोऽभिधानशब्देन प्रवृत्तिः स्याद्यथाशिष्टम् ॥१॥

इदं श्रूयते- रथन्तरमुत्तरयोगायति, कवतीषु रथन्तरं गायती-
त्येवमादीनि समाप्नायन्ते । तत्र चिन्ता । किमिह अतिदिश्यते इति ।
ननु यद् रथन्तरादिभिः शब्दैरुच्यते, तदतिदिश्यते । बाढम् । तदेव
तु न ज्ञायते, किमेभिः शब्दैरुच्यते इति । ननु सिद्धमेतद् गीतिषु
सामाख्या इति । तथा सिद्धस्य आक्षेपः करिष्यते । स एव तु निर्ण-
यो भविष्यति । यदि स एव निर्णयः, किमर्थ आक्षेपः ? । दाढ्यार्थः ।
स्थूणानिखननवत् । तत्र किं प्राप्तम् । तदुच्यते । सस्तोभस्वरकाला-
भ्यासविकारायां हिङ्गारप्रणवप्रस्तावोद्गीथप्रतिहारोपद्रवनिधनवत्या-
मृचि गीतौ सामशब्दोऽभियुक्तैरुपचर्यते । तस्मात् संशयः । उच्यते ।
ननु गीतौ सत्यां भावाद् गानाख्यस्य संस्कारकर्मणो वाचका एते
शब्दा इत्युक्तम् । तदेवेदमुक्तमाक्षिप्यते । नेमे संस्कारस्य वाचकाः ।
किं कारणम् । अकर्मकाले प्रयोगात् । अकर्मकाले साम प्रयुज्यते ।
न च संस्कारकर्माणि प्रोक्षणावक्षेपणपर्यग्निकरणादीन्यकर्मकाले
प्रयुज्यन्ते । प्रयोजनाभावात् । अथ नु मन्त्रा एते, ततोऽन्वहं स्वाध्या-
योऽध्येतव्य इति नियमादकर्मकाले प्रयोगो युज्यते । तस्माद् ऋचां
नामानि ॥ किञ्च, संज्ञाभेदात् । संज्ञाभेदश्च भवति, रथन्तरं बृहदि-
त्येवमादिः । स एकत्वात् संस्कारकर्मणोऽनर्थकः । एकेनैव हि तदा
पर्याप्तम् । यथा गीतिरिति । अथ ऋचां नामानि । ततस्तासां भेदात्
संज्ञापृथक्त्वं युक्तम् ॥ अपिच । यदि गानं रथन्तरं गानं च बृहत् ।
इदं रथन्तरमिदं बृहदिति पृथक्त्वेन संज्ञानिवेशो नोपपद्यते । ऋङ्-
नामत्वे तूपपद्यते ॥

किञ्च, विकारपृथक्त्वात् । प्रतिसाम च विकारपृथक्त्वात् ।
प्रतिसाम च विकारपृथक्त्वं दृश्यते । तद् एकत्वाद् गानस्यानुपपन्न-
म् । संस्कारभेदे हि विकारपृथक्त्वं दृष्टम् । तद् यथा, अवहन्तेस्त-
ण्डुलीभावः, पिषेश्चूर्णनम् । न तु एकस्य तण्डुलीभावश्चूर्णनं च ।
अथ ऋङ्नामानि एतानि । तत ऋचां भेदाद्विकारपृथक्त्वं युज्यते ।
तस्माद् ऋङ्नामानीति । तत उत्तरं पठति । साम्नोऽभिधानशब्देन
प्रवृत्तिः स्याद्यथाशिष्टमिति । साम्नोऽभिधानशब्देन यथाशिष्टं प्रवृत्तिः

स्यात् । यच्छिष्टं प्रवक्तृभिः शिष्येभ्यः । किञ्च शिष्टम् ? स्तोभाद्विशिष्टा
 ऋक् साम । सा प्रवर्त्तत । किं कारणम् । तस्या रथन्तरादि नामधे-
 यमिति ॥ १ ॥ पूर्व० ॥

शब्दैस्त्वर्थविधित्वादर्थान्तरेऽप्रवृत्तिः स्यात् पृथग्-
 भावात् क्रियाया ह्यभिसम्बन्धः ॥ २ ॥

तुशब्दः पक्षनिवृत्तौ । न त्वेवं स्याद्, ऋचः प्रवृत्तिरिति । कथम् ।
 इह कवतीषु रथन्तरं गायतीति कवतीनां वा कार्य्ये अभिवृत्योऽति-
 दिश्येरन्, कवतीनां वा उपरि आचार्य्याधेयभावेन ? । तत्र कार्य्ये
 तावदतिदेशो न घटते । कुतः ? । शब्दैरर्थविधित्वात् । शब्दानामर्थ-
 विधानं कार्य्यम् । न च, कवतीषु रथन्तरं गायतीति कवतीभिर्यो-
 ऽर्थोऽभिधीयते. तमभिवृत्यः शक्नुवन्ति वक्तुम् । तस्मान्न कार्य्याति-
 देशः । आधेयत्वेऽपि न सम्भवति । पृथग्भावात् । न हि शब्दः शब्दे
 समवैति, पृथगेवावतिष्ठते । अभि त्वा, कया न इति । क्रियाया हि
 गानक्रियायाः शब्देन अभिसम्बन्धां भवेद् न शब्दस्य । तस्मादाधे-
 यत्वेनापि नातिदेशः । अतो नायमृचः प्रदेश इति ॥२॥ पूर्वपक्षनिरासः ॥

स्वार्थं वा स्यात् प्रयोजनं क्रियायास्तदङ्ग-
 भावेनोपदिश्येरन् ॥ ३ ॥

स्वार्थं वा प्रवर्त्तमाना अभिवृत्यः कवतीनामङ्गभावेनोपदिश्येरन् ।
 कथं पुनः कवतीषु गायतीत्यङ्गभावः शक्य उपदेष्टुम् ? । शक्यो
 यथा, येन कर्मणेत्येत्तन्न जयान् जुहुयादिति । किं पुनः प्रयोजनं
 कवतीनामभिवृत्यो निर्वपन्तीति ? । उच्यते । प्रयोजनमदृष्टं कल्प्यम् ।
 कुतः ? । क्रियायाः । यस्मात् क्रिया श्रूयते । कवतीषु रथन्तरं गाय-
 तीति । यथा प्रयाजादीनां प्रयोजनं क्रियायाः ॥ उच्यते । अयमेवा-
 ऽस्मिन् पक्षे दोषो, यत् प्रयोजनं क्रियायाः कल्पयितव्यम् । तस्माद्-
 यमपि पक्षो दुःश्लिष्टः ॥ ३ ॥

शब्दमात्रमिति चेत् ॥ ४ ॥

इति चेत् पश्यसि, कवत्यङ्गभावेन अभिवतीनामुपदेशो दुःश्लिष्ट
 इति । तेन तर्हि शब्दमात्रं प्रदिश्यताम् । रथन्तरशब्दं कवतीषु प्रयु-
 जीत । कवतीः रथन्तरशब्देन अभिलपेदिति । किं कारणम् । शब्दे

उच्चरिते, तत्र तावन्मुख्या प्रतिपत्तिः । शब्दे कार्य्यस्य असम्भवात्, अर्थे कार्य्ये विज्ञायते । यथा गामानयेति । इह तु शब्दे एव कार्य्ये सम्भवति, न अर्थे । अतोऽत्र शब्दं विज्ञास्यामः ॥ ४ ॥ पूर्व० ॥

नौत्पत्तिकत्वात् ॥ ५ ॥

पूर्वस्मादेष वादः पापीयान् । कस्मात् । औत्पत्तिकत्वात् । औत्पत्तिको हि नामिनाम्नोः सम्बन्धः । यः शब्दो यस्मिन् अर्थे औत्पत्तिकेन सम्बन्धेन प्रसिद्धो, न स ततोऽन्यं प्रत्याययितुं शक्नोति । न हि गोशब्देन अश्वोऽभिघातुं शक्यते ॥ ५ ॥ पूर्व० नि० ॥

शास्त्रञ्चैवमनर्थकं स्यात् ॥ ६ ॥

एवञ्च सति अतिदेशशास्त्रमनर्थकं स्यात् । अशक्यार्थत्वात् । तस्मान्न शब्दस्यापि प्रदेशो युक्तः । वृत्तिकारस्तु मेने, गानशास्त्रमौक्थिक्यमनर्थकं स्यादिति । तस्याभिप्रायः, सत्याङ्गतौ नैतावान् प्रयासः शिष्टानामफलोऽभ्युपगन्तुं न्याय्य इति ॥ ६ ॥ युक्तिः ॥

स्वरस्येति चेत् ॥ ७ ॥

इति चेत् पश्यसि, नाम्नोऽतिदेशोऽयुक्त इति । तेन तर्हि, स्वरस्यातिदेशो भवतु । स्वरः सामशब्देन लोकेऽभिधीयते । सुसामा देवदत्त इति । सुस्वरो देवदत्त इति । स्वरो घोषो नाद् इति समानार्थाः । स सामशब्देनोच्यते । साम च रथन्तरम् । तस्मात् तस्याऽतिदेशः ॥ ७ ॥ पूर्व० ॥

नार्थाभावाच्छ्रुतेरसम्बन्धः ॥ ८ ॥

नैतदेवं, स्वरस्यातिदेश इति । कुतः । अर्थाभावात् । अर्थस्याऽभावात् । अर्थस्य अभिवतीस्वरस्य कवतीष्वभावात् । नन्वसन्नेव असौ अतिदेशेन भाव्यते । उच्यते । भावयितुमपि न शक्यते । न हि अभिवत्यक्षराणामभिव्यञ्जको नाद्ः कवतीषु भावयितुं शक्यः । यदि भाव्येत, न कवत्यो भवेयुः । न चेद् भाव्यते, न भूतः । कवतीषु रथन्तरं गायतीत्येतस्याः श्रुतेः, पदान्तरेणाभिसम्बन्धो न स्यात् । तस्मान्न स्वरस्यातिदेशः ॥ ८ ॥ पूर्व० नि० ॥

स्वरस्तूत्पत्तिषु स्यान्मात्रावर्णाविभक्तत्वात् ॥ ९ ॥

तुशब्दः पश्चान्तरपरिग्रहे । यद्यभिवतीस्वरस्य कवतीषु प्रदेशो

नोपपद्यते, अनुवादो भवतु । कवतीषु रथन्तरं गायतीति । कथम् । तदुच्यते । इह कवतीषु रथन्तरं गायतीत्यस्य वाक्यस्य द्वे वचन-
व्यक्ती भवतः । कवतीषु यद् रथन्तरं, तद् गायतीत्येका । रथन्तरं
यत्, तत् कवतीषु गायतीत्यपरा । तयोर्धैषा द्वितीया, रथन्तरं यत्-
त् कवतीषु गायतीति । सा स्वरस्य सामत्वे न सम्भवतीत्युक्तम् ।
न हि अभिवतीस्वरः कवतीषु समावेशयितुं शक्य इति । पूर्वा तु स-
म्भवति । कवतीषु यद् रथन्तरं, तद् गायतीति ॥ ननु साऽपि न
सम्भवति । न हि कवतीषु रथन्तरमस्ति । अतः परमुच्यते । स्वर-
स्तूत्पत्तिषु स्यात् । स्वरस्त्वभिवतीस्वरः, कवतीनाम् उत्पात्तिषु
उच्चारणेषु स्यात् । कथम्।मात्रावर्णाविभक्तत्वात् । बहवो मात्रावर्णा-
भ्याभिवतीनां कवतीनां च अविभक्ता अभिवतीष्वपि विद्यन्ते, कव-
तीष्वपि । सोऽसावभिवतीस्वरः कवतीषु साधारणवर्णसमवेतां विद्य-
ते । तस्यानुवादोऽयं घटते । कवतीषु रथन्तरं गायतीति । तस्मात्
स्वरस्यानुवादः ॥ ९ ॥ पूर्व० ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १० ॥

लिङ्गं च दृश्यते, एतस्मिन् अर्थे । अस्ति रथन्तरमुत्तरयोरिति ।
किं तल्लिङ्गं भवति । एवमाह । रथन्तरमुत्तरयोर्न पश्यामीति विश्वा-
मित्रस्तपस्तेपे, बृहदुत्तरयोर्न पश्यामीति वसिष्ठ इति । यच्च विद्यमानं
न दृश्यते, तद्दर्शनाय यत्नः क्रियते । यथा घटं न पश्यामीति प्रदीपं
करोति, न शशविषाणं न पश्यामीति । तस्मादस्त्युत्तरयो रथन्तरं
बृहच्च । तयोरनुवाद इति ॥ १० ॥ युक्तिः ॥

अश्रुतेस्तु विकारस्योत्तरास्तु यथाश्रुति ॥ ११ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यार्त्तयति । नैतदेवम् । स्वरस्यानुवाद इति । कुतः।
एवं सति उत्तरास्तु विकारो न कश्चिच्छ्रुतो भवति । तदा उत्तरा
यथाश्रुताः प्रयोक्तव्याः । यथा स्वाध्यायकाले श्रुताः । तन्न रथन्तरमु-
त्तरयोर्गायतीत्येतदनुवादमात्रमप्रवृत्तिविशेषकरमनर्थकमेवापद्यत ।
अतो न स्वरस्यानुवादो युक्तः ॥ ११ ॥ पूर्व० नि० ॥

शब्दानाञ्चासामञ्जस्यम् ॥ १२ ॥

रथन्तरादीनां च सामशब्दानामसामञ्जस्यं स्यात् । रथन्तरमुत्त-
रयोः, बृहदुत्तरयोरिति । कथम् । तदुच्यते । अयं रथन्तरशब्दो बृह-

च्छब्दो वा स्वरस्य सामशब्दत्वे स्वरसमुदाये आनुपूर्व्या व्यवहिते स्वरविशेषे प्रयुक्तः । स एकदेशे भिन्नानुपूर्वे वा असमञ्जसो भवति । तस्मात्तद् युक्तम् । स्वरस्य सामशब्दः । तस्य चानुवाद इति ॥ अत्राह । एवं भवता सर्वे पक्षा निरुद्धाः । ततः किमग्रहृत्तिरेव ? इति उच्यते । ऋच एव प्रदेशो भवतु । ननूक्तं, न शक्या ऋच ऋगन्तरे प्रदेष्टुमिति । बाढं, देशलक्षणा भविष्यति । कवतीषु रथन्तरं गायतीत्युच्यते । न च शक्यते कवतीषु रथन्तरं गातुम् । तत्र देशलक्षणा भवति । कवतीदेशे इति । यथा, अग्नौ तिष्ठति, कूपे तिष्ठति इति । धर्मलक्षणा वा स्यात् । रथन्तरधर्मा वा कवतीषु रथन्तरशब्देनातिदिश्यन्ते । यथा रथन्तरे प्रस्तूयमाने पृथिवीं मनसा ध्यायेदित्येवमाद्यः । यथा आचार्य्ये प्रोषिते, आचार्य्यानी भवतामाचार्य्ये इत्याचार्य्यशुश्रूषा आचार्य्यान्यामतिदिश्यते ॥१२॥ युक्तिः ॥ तथा, पूर्व०

अपि तु कर्मशब्दः स्याद्भावोऽर्थः प्रसिद्धग्रहण-
त्वाद्धिकारो ह्यविशिष्टोऽन्वैः ॥ १३ ॥

अपि तु नैवं स्याद् ऋचः सामशब्दः । तस्याश्च प्रदेश इति । तथा देशलक्षणा धर्मलक्षणा वाऽऽश्रयणीया । अगतिश्चैषा यल्लक्षणापरिग्रहः । किन्तर्हि ? कर्मशब्दः स्यात् । रथन्तरादिर्गानाख्यस्य संस्कारकर्मणो वाचकः । कुतः । उक्तो न्यायो, गीतिषु सामाख्या इत्यत्र । तत्र गीतिविशिष्टायाम् ऋचि एष शब्दो दृष्टः । न चागृहीत-विशेषणा विशेष्ये बुद्धिरुत्पद्यते । तस्माद् विशेषणं तावद्भिधीयते । विशेषणप्रत्ययाश्च सहचरिते विशिष्टे प्रत्ययः । अतो नास्ति ऋचः शब्देन संस्पर्श इति । तेनैव न्यायेन गीतिनामधेयमिति ब्रूमः ॥ किञ्च, प्रसिद्धग्रहणत्वात् । अयं च गायतीति शब्दो गानक्रियायां प्रसिद्धः । का पुनरसौ । शब्दस्योच्चारणविशेषः । गायति गानं करोतीति । तद्ग्रहणश्च रथन्तरादिशब्दः । तद्वचन इत्यर्थः । तेन समुच्चारणाद् द्वितीयासामर्थ्याच्च । यथा, आसारितकं गायतीति, वर्द्धमानकं गायतीति ॥ ननु शब्दवचनेनापि समुच्चारणं भवति, गाथां गायति, ऋचं गायतीति । सत्यम् । विपरिणम्य तु शब्दं, गानेन ऋचं संस्करोतीति । यथानिपतितेन अर्थेन न सम्बद्ध्यते गानं करोति ऋचमिति । तस्माद् गीतिवचनः ॥ इतश्च गीतिवचनः ।

कुतः । विकारो हि अविशिष्टोऽन्यैः । विकारश्चात्र ऋग्द्रव्यस्य दृश्यते । ह्रस्वानामक्षराणां दीर्घता, दीर्घाणां च ह्रस्वत्वम् । विवृतानां संवृतत्वं, संवृतानां विवृतत्वम् । सोऽविशिष्टोऽन्यैः संस्कारकर्मभिः । यथा अवहन्तिना व्रीहीणां तण्डुलीभावः, पिषिणा तण्डुलानां पिष्टीभावः । तस्माच्छब्दानां संस्कारो गानाख्यो रथन्तरादिभिः शब्दैरुच्यते । तस्यायं प्रदेशो, रथन्तरमुत्तरयोर्गायतीत्येवमादिः ॥१३॥सि०॥

अद्रव्यञ्चापि दृश्यते ॥ १४ ॥

अपि च अद्रव्यं साम दृश्यते । द्रव्यशब्दश्छन्दोगैर्ऋक्षु आचरितः । अद्रव्यम् अनृचमित्यर्थः । अनृचं साम दृश्यते, प्रजापतेर्हृदयमनृचं गायतीति । प्रजापतिहृदयं नाम साम । तद् अनृचि उत्पन्नम् । यदि ऋचि सामशब्दः, कथं प्रजापतिहृदयमनृचं स्यात् । अथ गीतेः सामशब्दस्ततो विनापि ऋचा गीतिर्भवति । तत्रैतदुपपद्यते । प्रजापतेर्हृदयमनृचं गायतीति । तस्मादपि गीतिः साम ॥१४॥युक्तिः ॥

ननूक्तं, संस्कारकर्मत्वेऽगर्थकोऽकर्मकाले प्रयोग इति । तत्र ब्रूमः-

तस्य च क्रिया ग्रहणार्था नानार्थेषु विरूपित्वादर्था

ह्यासामलौकिको विधानात् ॥ १५ ॥

तस्य क्रिया अकर्मकाले ग्रहणार्था शिक्षितुमभ्यसितुं च । नानार्थेषु नानाभूतेषु अर्थेषु भिन्नेष्वित्यर्थः । विरूपित्वात् । आश्रयभेदाद् विविधरूपं यद् गानं भवति । तत् प्रत्यृचं शिक्षितव्यमभ्यसितव्यं च प्रयोगप्राशुभावाय । भूमिरथिकवत् । तद् यथा, भूमिरथिको भूमौ रथमालिख्य योग्यां करोति । सा तस्य योग्या प्रयोगकाले सौकर्यमुत्पादयति । अर्थो ह्यासां रथन्तरादिसंज्ञानां न लौकिके व्यवहारे सिद्धः । यथा अवहन्त्यादीनाम् । कुतः । विधानात् । विधीयते ह्यसौ शिष्योपाध्यायसम्बन्धेन । एवं रूपं रथन्तरं भवतीति । न लौकिको विज्ञायते । तस्मान्नपरिचोदनैषा । अकर्मकाले प्रयोगादिति ॥ १५ ॥

अथ यदुक्तं, संज्ञापृथक्त्वादिति । तत्रोच्यते—

तस्मिन् संज्ञाविशेषाः स्युर्विकारपृथक्त्वात् ॥ १६ ॥

तस्मिन्नेकस्मिन्नपि गानाख्ये संस्कारे संज्ञाविशेषा भवेयुः । कुतः विकारपृथक्त्वात् । तुल्येऽपि गाने विशेषो भवति । गानविशेषाच्च संज्ञापृथक्त्वम् । यथा, आसारितकं, वर्द्धमानकमिति । अन्यथा-

लक्षणा आसारितकगीतिः, अन्यथालक्षणा वर्द्धमानकगीतिः । एव-
मिहापि अन्यथालक्षणा रथन्तरगीतिः, अन्यथालक्षणा बृहद्रीतिः ।
तस्मात् संज्ञापृथक्त्वम् ॥ १६ ॥ आ० नि० ॥

योनिशस्याश्च तुल्यवदितराभिर्विधीयन्ते ॥ १७ ॥

योनिश्चासौ शस्या च योनिशस्या । योनिशस्याश्च ऋचः, तुल्य-
वद् इतराभिरयोनिशस्याभिर्विधीयन्ते । याम्याः शंसति, शिपिविष्ट-
वन्तीः शंसति, रथन्तरस्य योनिमनुशंसति, बृहतो योनिमनुशंसती-
ति । का तत्र तुल्यता । शंसतिशब्देनाभिधानात् । इह एतौ स्तौति-
शंसतिशब्दौ समानेऽपि स्तुत्यर्थत्वे व्यवस्थितविषयौ । प्रगीतेषु मन्त्र-
वाक्येषु स्तौतिशब्दः, अप्रगीतेषु शंसतिशब्दः । यथा प्र उ गं शंसति,
निष्केवल्यं शंसतीति । आज्यैः स्तुवते, पृष्टैः स्तुवते इति । अतः
शंसतिशब्देन विधानादप्रगीताम् ऋचं रथन्तरस्य योनिं दर्शयति ।
यदि च गीतिः रथन्तरं, ततस्तस्य अप्रगीता ऋग् योनिः । अन्यथाऽयं
व्यपदेशो नोपपद्यते । रथन्तरस्य योनिमिति । तस्माद् गीतिषु
सामाख्या ॥ १७ ॥

अयोनी चापि दृश्यते अतथायोनि ॥ १८ ॥

अयोनी च साम दृश्यते । स्थाल्यां सकत्ववधीयते इत्याहुयद्
बृहद् गायत्रीषु क्रियतेऽपि चैनां रुजति । न चास्यां सम्भवतीति ।
बृहतो बृहती योनिः । तस्य गायत्रीषु प्राप्तिर्नास्ति । यदि ऋचः साम-
शब्दः । अथ नु गीतेः । ततः सा बृहद्रीतिर्गायत्रीषु वचनात् प्राप्ता ।
तस्या अयमनुवादो घटते, यद् बृहद् गायत्रीषु क्रियते इति । अतथा-
योनि च साम दर्शयति । यादृशी यस्य योनिस्ततोऽन्यादृशे यो वै
विच्छन्दसि सामोहति स ऋचं संश्रृणाति, साम वा विलिशति,
साम संश्रृणाति, ऋचं विलिशतीति । यतरद् वर्षीयस्तस्य विलेशः ।
यतरद् वर्षीयस्तस्य संशयः । तत्र गीतौ एव सास्त्रि युज्यते, न ऋचि
ऊहतिशब्दश्च गीतावेव समर्थो, न ऋचि । ऋक् चेत, सैव यथाम्नायं
पठ्यते । तत्र नास्त्यूहप्रसङ्गः । तस्मादपि गीतौ सामशब्दः ॥ १८ ॥
युक्तिः ॥

ऐकार्थ्ये नास्ति वैरूप्यमितिचेत् ॥ १९ ॥

यदुक्तं, तस्य क्रिया ग्रहणार्था इति । तत्र परिबोधते । ऐकार्थ्ये

नास्ति वैरूप्यमिति । रथन्तरगीतेर्बृहद्गीतिरर्थात्तरम् । तेन रथन्तर-
गीतौ गृहीतायां बृहद्गीतिरगृहीता भवतीति युक्तो रथन्तरे गृहीते
बृहतः शिक्षार्थमकर्मकाले प्रयोगः । रथन्तरगीतेस्त्वेक एवार्थः । तस्य
योन्यां प्रयोगे शिक्षिते पुनरुत्तरासु न शिक्षितव्यम् । तासु अकर्मका-
ले प्रयोगः संस्कारकर्मत्वे न युक्तो भवति । तस्मान्न संस्कारस्य
सामशब्द इति स्थितायां प्रतिज्ञायां सूत्रेण परिचोदयति ॥१९॥ आ० ॥

स्यादर्थान्तरेष्वनिष्पत्तेर्यथा पाके ॥ २० ॥

स्याद् वैरूप्यम् । कुत एतत् । अर्थान्तरेषु अनिष्पत्तेः । ऋगन्तरेषु
आश्रयभेदात् । यथा पाके । यथा एक एव अयमर्थः पाको नाम ।
तस्यार्थान्तरे वैरूप्यं भवति । अन्यथालक्षण ओदनस्य पाकः,
अन्यथालक्षणो गुडस्य । येन ओदनपाको गृहीतो, न असौ
अशिक्षित्वा गुडं पक्तुं जानाति । तस्मात् तस्याप्यकर्मकाले प्रयोग
उपपद्यते ॥ २० ॥ आ० नि० ॥

शब्दानाञ्च सामञ्जस्यम् ॥ २१ ॥

एवञ्च सामशब्दानाम् ऋक्शब्दानां च सामञ्जस्यं भवति । कव-
तीषु रथन्तरं गायतीति कवतीशब्दः, ऋच एव वक्ष्यति, रथन्तर-
शब्दञ्च साम । इतरथा कवतीशब्दे वा देशलक्षणा स्यात् । रथन्तर-
शब्दे वा धर्मलक्षणा । तस्माद् गीतौ सामशब्द इति ॥ २१ ॥ युक्तिः ॥
रथन्तरादिशब्दस्य गानविशेषार्थताधिकरणम् ॥ १ ॥ इति श्रीशबर-
स्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये सप्तमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ ७ ॥ २ ॥

अथ सप्तमस्य अध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ७ ॥ ३ ॥

उक्तं क्रियाभिधानंतच्छ्रुतावन्यत्र विधिप्रदेशः स्यात् ॥ १ ॥

नाम्ना धर्मप्रदेशं वक्ष्याम इत्यादौ प्रतिज्ञातं सोऽयमुच्यते ।
कुण्डपायिनामयने भ्रूयते, मासमग्निहोत्रं जुह्वतीति । तत्रैतत् सम-
धिगतं, नैयमिकाद्ग्नहोत्रात् कर्मान्तरमेतदिति । अधुना अग्निहोत्र-
शब्दश्चिन्त्यते । कथमयं प्रयुक्त इति, तदर्थमारभ्यते । उक्तं क्रिया-
भिधानं तच्छ्रुतावन्यत्र विधिप्रदेशः स्यादिति । उक्तमादौ, क्रिया-
भिधानं कर्मनामधेयम्, अग्निहोत्रशब्द इति- तत्रस्थं चाम्यशास्त्र-
मित्यत्र । तस्यान्यत्र श्रुतौ कौण्डपायिनामयनीये जुहोतौ विधिप्रदेशः
स्याद् धर्मप्रदेशः । नैयमिकस्याग्निहोत्रस्य ये धर्मास्तेऽस्मिन्ननेन

नाम्नाऽतिदिश्येरन् । किङ्कारणम् । उच्यते । परशब्दोऽयं परत्र वृत्तः । परशब्दस्य परत्र वृत्तौ तद्वद्भावो गम्यते । स यत्र विज्ञातो भवति तत्रानुद्यते । यथा, सिंहो देवदत्त इति । यत्राविज्ञातस्तत्र विधीयते । यथा, अग्नी पिष्टपिण्डाः सिंहाः क्रियन्तामिति । इह चाविज्ञातोऽस्य जुहोतेरग्निहोत्रवद्भावः । तस्मात् स विधीयते । मासमग्निहोत्रं जुहोतीति, अग्निहोत्रवज्जुहोतीति । कथं पुनरसति घतिप्रत्यये वत्य-
ऽर्थः शक्योऽवगन्तुमिति । उच्यते । साहचर्यात् । अग्निहोत्रशब्दोऽयं कर्मणा सम्बद्धस्तत्सहचरितदोहनादिधर्मवत्तां लक्षणया शक्नोति गमयितुम् । शक्नोति चेद् गमयितुम्, प्रदेष्टुमपि शक्नोति । एव-
मन्तरेणापि घति, वत्यर्थः शक्योऽवगन्तुमिति ॥ १ ॥ सि० ॥

अपूर्वे वापि भागित्वात् ॥ २ ॥

वा अपि इति विपर्ययासेन प्रयुक्ते । अपि वा इत्यर्थः । अपि वा अपूर्वे एते उभे कर्मणी स्याताम् । न कौण्डपायिनामयनीयो जुहोति-
नैयमिकपूर्वः । साधारणं च नामधेयमुभयोः । कुतः । भागित्वात् । अयमपि जुहोतिर्भागी एतस्य नामधेयस्य । यथैव तत्राग्निहोत्रं जुहो-
तीति समुच्चारणम्, एवमिहापि । तत्र तुल्ये समुच्चारणे तस्यैवैत-
न्नामधेयम् । नास्येत्यत्र विशेषहेतुर्नास्ति । तस्मादुभयोः साधारणं
नामेति नास्ति धर्मप्रदेशः ॥ २ ॥ पूर्व० ॥

नैतद् युक्तम् । कुतः ?

नाम्नस्त्वौत्पत्तिकत्वात् ॥ ३ ॥

औत्पत्तिको हि नामिनाम्नोः सम्बन्धः । यन्नाम यस्मिन् अर्थे
औत्पत्तिकेन सम्बन्धेन प्रसिद्धं, तस्मिन्नेव सदा विज्ञेयं, नान्यत्र च ।
तथा अव्यवस्थायां शब्दार्थे विश्वासो न स्यात् । उक्तम् । अन्याय-
भ्रानेकार्थत्वमिति । यदा च नोभयार्थस्तदा नैयमिकं तावद् आह ।
तस्माद्दृश्यविधानार्थं चेतरेणापि प्रयोग उपपद्यते इति नास्तीतराभि-
धानत्वे हेतुः । तस्माद् विधिप्रदेशः स्यात् ॥ ३ ॥ उत्तरम् ॥

अत्राह । कस्मात् पुनस्तन्नामधेयमिदमिह प्रयुक्तमित्युच्यते, न
पुनरेतन्नामधेयं तत्रेति । तत आह—

प्रत्यक्षाद् गुणसंयोगात् क्रियाभिधानं स्यात्तदः

भावेऽप्रसिद्धं स्यात् ॥ ४ ॥

नैयमिकेऽग्निहोत्रे प्रत्यक्षो गुणसंयोगः । प्रत्यक्षविहिता धर्माः सन्ति । इत्थं दोग्धि, इत्थं श्रपयति, चतुरुन्नयति, खादिरी अग्निहोत्र-समिद्भवति, इत्थं जुहोति । एवं प्रत्यक्षाद् गुणसंयोगान्नैयमिकस्य तद् नामधेयमिह प्रयुज्यमानं दोहनादि क्रियाभिधानं स्यात् । धर्मप्रदेश-कमित्यर्थः । अस्य पुनर्जुहोतेर्न केचिद् धर्माः सन्ति । तदभावे तेषां धर्माणामभावे अप्रसिद्धं स्यात् । न प्रज्ञायेत, किमर्थमयमग्निहोत्र-शब्द इह प्रयुक्त इति ॥

एवं वा । प्रत्यक्षो गुणसंयोगो, नैयमिकस्य द्रव्यदेवतासंयोगः । दध्ना जुहोति, पयसा जुहोति, अग्नये च प्रजापतये च सायं जुहो-तीति । एतस्मात् प्रत्यक्षाद्गुणसंयोगात् क्रियाभिधानं स्यात् । कर्म-नामधेयम् । इत्थंरूपो जुहोतिरग्निहोत्राख्य इति । अथेतरजुहोते रूपं नास्ति । तदभावेऽप्रसिद्धं स्याद्, न ज्ञायेत कीदृशं तद्ग्निहोत्र-मिति ॥ ननु मासोऽस्य रूपं भविष्यति । न मासः कर्माङ्गं, कर्त्तृ-धर्मः सः । अपि च । अग्निहोत्रं तु मासे विधीयते, न मासेन अग्नि-होत्रं रूप्यते । तस्मान्नैयमिकस्यैतन्नामधेयमितरत्र तद्वदतिदेश इति ॥ ४ ॥ आ०नि० ॥ अग्निहोत्रादिनाम्ना धर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ १ ॥

किमेष एवोत्सर्गः । सर्वं कर्मनाम, अन्यत्र श्रूयमाणं धर्माणां ग्राहकमिति । एवं खलु प्राप्तम् । एवं प्राप्ते इदम् आरभ्यते—

अपि वा सत्रकर्मणि गुणार्थेषा श्रुतिः स्यात् ॥ ५ ॥

गवामयने श्रूयते, वैश्वानरो ज्योतिष्टोमः प्रायणीयम् अहर्भवती-ति । अस्ति तु द्वादशाहे प्रथमम् अहः प्रायणीयं नाम । प्रायणीयो-ऽतिरात्रे इति । तयोर्नानात्वं तेनैव न्यायेन सिद्धम् । प्रकरणान्तरे प्रयोजनान्यत्वमिति । तत्रायं प्रायणीयशब्दः परत्रापि श्रूयमाणो न धर्माणां ग्राहकः । किन्तर्हि ? गुणार्थेषा श्रुतिः । कथम् । लक्षणया नामधेयं धर्माणां ग्राहकमुक्तम् । असति च श्रुत्यर्थे लक्षणार्थो ग्राह्यः । इह तु श्रुत्यर्थ एव सम्भवति । गुणार्थ एष शब्दः । गुणेन क्रिया-योगेनातस्मिन् कर्मणि श्रुत्यैव प्रयुज्यते । प्रयन्ति अनेनेति प्रायणीयं, प्रवर्त्ततेऽनेन सत्रमिति । वाक्यशेषश्चास्यैतमेवार्थमाह । ज्योतिरेव पुरस्ताद्दधातीति । येन ज्योतिः प्रायणीयं भवति, तेन ज्योतिः पुर-स्तात् क्रियते इत्यर्थो, ज्योतिरेव पुरस्ताद् दधातीति । तस्मान्नाय-

मतिदेशः ॥ ५ ॥ प्रायणीयेति नाम्ना धर्मानतिदेशाधिकरणम् ॥ २ ॥

विश्वजिति सर्वपृष्ठे तत्पूर्वकत्वाज्ज्योतिष्टोमिकानि

पृष्ठान्यस्ति च पृष्ठशब्दः ॥ ६ ॥

विश्वजित् सर्वपृष्ठो भवतीति श्रूयते । तत्र विचार्यते । किमय-
मनुवादः, विधिः ? इति । किं प्राप्तम् । अनुवाद इति । कुतः । यो
हि असर्वपृष्ठस्तस्य सर्वपृष्ठता विधेया । यस्तु सर्वपृष्ठ एव, तस्य
तथा किं विहितया । अयं च सर्वपृष्ठ एव । कथम् । तत्पूर्वकत्वात् ।
ज्योतिष्टोमपूर्वकत्वात् । ज्योतिष्टोमिकानि स्तोत्राणि अत्र प्राप्यन्ते ।
तेषु माहेन्द्रस्तोत्रादीनि चत्वारि सन्ति । तानि सर्वाणि अस्य । तैरयं
सर्वपृष्ठो भवति । ननु न तानि पृष्ठानि । उच्यते । अस्ति च पृष्ठ-
शब्दः । तेषु अस्ति पृष्ठशब्दः । सप्तदशानि पृष्ठानीति । तस्मादनुवादः
॥ ६ ॥ पूर्व० ॥

षड्हाद्या तत्र हि चोदनाः ॥ ७ ॥

नायमनुवादः, किन्तर्हि । विधिः । अनुवादीऽप्रवृत्तिविशेषकरोऽन-
र्थकः स्यात् । अपि च ज्योतिष्टोमे न पृष्ठबहुत्वमस्ति, यस्यायमनुवादः
स्यात् । षडहे तु तदस्ति । तत्र हि चोदनाः, पृष्ठानां रथन्तरं पृष्ठं भव-
तीत्येवमाद्याः । तस्मात् षाड्हिकानामतिदेशको विधिरिति ॥७॥ सि०

लिङ्गाच्च ॥ ८ ॥

लिङ्गं चैतमर्थं दर्शयति । पवमाने रथन्तरं करोत्यार्मवे बृहत् ।
मध्ये इतराणि । वैरूपं होतुः साम, वैराजं मैत्रावरुणस्य, रैवतं ब्राह्म-
णाच्छंसिनः, शाकरमच्छावाकस्येति विनिवेशपरे वाक्ये षाड्हिकानि
पृष्ठानि दर्शयति ॥ ८ ॥ युक्तिः ॥

उत्पन्नाधिकारो ज्योतिष्टोमः ॥ ९ ॥

अथ यदुक्तम्, अस्ति च पृष्ठशब्द इति । तत्र ब्रूमः । न त्वेष
श्रौतपत्तिकः पृष्ठशब्दः । उत्पन्नानां स्तोत्राणामसौ अधिकारः । या-
न्येतावि पृष्ठानीति । ज्ञाते च तेषां पृष्ठत्वे, तदुपपद्यते न च तत्र ज्ञात-
म् । कथं तर्हि अयमनुवादः । लिङ्गसमवायात् । एकं तत्र माहेन्द्र-
स्तोत्रमिति । षाड्हिकानां पुनः पृष्ठत्वं ज्ञातम् । कथम् । तत्र हि
चोदनेत्युक्तम् । तेषां वादे, श्रौतः पृष्ठशब्दस्वार्थः परिगृहीतो भवति।

इतरथा लाक्षणिकः । तस्मात् षाड्हिकानां प्रदेश इति ॥९॥आ०नि०॥

द्वयोर्विधिरिति चेत् ॥ १० ॥

इति चेत् पश्यसि, षाड्हिकानां पृष्ठानां विधिरिति । नैतद् युक्तम् । किं कारणम् । द्विकर एवं सर्वपृष्ठशब्दोऽयुपगम्यते । पृष्ठानि च विदधाति । तेषां च सर्वत्वम् । अस्तु । को दोषः । असम्भव इत्याह । यदि पृष्ठशब्दः पृष्ठानि विदधाति, सर्वशब्देन न शक्यते विशेषयितुम् । अथानुवदति, तथा शक्यते । पृष्ठानि त्वविहितानि भवन्ति । तेषु असत्सु कस्येदं सर्वत्वं विधीयते । उभयक्रियायाश्च असम्भवः ॥ अथात्र बृहद्दूरयन्तरयोर्विकल्पेन प्राप्तयोः सामस्त्यं केवलं विधीयते, सर्वपृष्ठो भवतीति । उभे अपि बृहद्दूरयन्तरे भवतो, नैकमिति । ततोऽयं दोषो न भवति । तस्माद् द्वयोरधिकारः ॥१०॥आ०

न व्यर्थत्वात् सर्वशब्दस्य ॥ ११ ॥

नैवमेतत् । कुतः । व्यर्थत्वात् सर्वशब्दस्य । एवं सति सर्वशब्दो व्यर्थो भवति अर्थशून्यः । अयं हि बहुविषयो द्वयोरनं युज्यते । षाड्हिकानां तु विधाने नैष दोषः । ननु च तत्रापि द्विकरः शब्दो भविष्यति । उच्यते । न भविष्यति । सर्वत्वं केवलं पृष्ठानां विधास्यति, न पृष्ठानि । ननूक्तं, पृष्ठेष्वसत्सु कस्येदं सर्वत्वं विधीयते ? इति । उच्यते । पृष्ठानां सर्वत्वं हि विहितम् । तत् सम्पादयितव्यम् । न च पृष्ठान्यऽकुर्वता तत् सम्पादयितुं शक्यते । तत्रार्थात् पृष्ठानि करिष्यति । एवं न द्वयः शब्दो भविष्यति । सर्वशब्दश्च समर्थितः । तस्मात् षाड्हिकानामतिदेश इति ॥ ११ ॥ आ० नि० ॥ सर्वपृष्ठशब्देन षट्-पृष्ठानामतिदेशाधिकरणम् ॥ ३ ॥

तथावभृथः सोमात् ॥ १२ ॥

वरुणप्रघासेषु भ्रूयते । वारुण्या निष्कासेन तुषैश्चावभृथं यन्तीति । तत्र सन्देहः । किं दार्शपूर्णमासिके अपां व्युत्सेके तुषनिष्कासं विधीयते, उत सौमिकादवभृथाद्धर्मातिदेश इति । किं युक्तम् । दार्शपूर्णमासिके गुणविधिः । एवं सन्निहितप्रत्ययोऽनुगृह्यते । सन्निहितो हि असौ चोदकेन प्रापितः । ननु नासौ अवभृथः । उच्यते । अस्ति तत्रावभृथशब्द इति । एष वै दर्शपूर्णमासयोरवभृथ इति । एवं प्राप्ते इदमाह ॥ तथाऽवभृथः सोमात् ॥ यथा षड्हात् पृष्ठानाम्

अतिदेशः । एवं सौमिकाद् अवभृथादिह धर्मातिदेशः । कुतः । अभि-
हितो व्यायः । उक्तं क्रियाभिधानं तच्छ्रुतावन्यत्र विधिप्रदेशः स्या-
दिति ॥ १२ ॥ सि० ॥

प्रकृतेरिति चेत् ॥ १३ ॥

अथ यदुक्तं, दार्शपौर्णमासिके अवभृथे गुणविधिर्भवति ।
तस्य कः परिहारः ? इत्याभाषान्तं सूत्रम् ॥ १३ ॥ आ० ॥

न भक्तित्वात् ॥ १४ ॥

नैतद् युक्तम् । कुतः । यतो नास्ति दर्शपूर्णमासयोरवभृथः । नन्वेव
एव दर्शपूर्णमासयोरवभृथ इति श्रूयते । सत्यं श्रूयते, न त्वेवमव-
भृथत्वमस्य भवति । कथम् । उच्यते । एष वै दर्शपूर्णमासयोरवभृथ
इत्येतस्य वाक्यस्य द्वयी वचनव्यक्तिः । निर्हातावभृथत्वस्य पदार्थस्य
वा दर्शपूर्णमाससम्बन्ध उच्यते । यथा देवदत्तो यज्ञदत्तस्य पुत्र इति
निर्हातपुत्रत्वस्य देवदत्तस्य यज्ञदत्तसम्बन्ध उच्यते । निर्हातसम्बन्ध-
स्य वा अनिर्हातावभृथत्वस्य अवभृथत्वम् । यथा, अयमाग्नौ यज्ञदत्तस्य
पुत्र इति । निर्हातयज्ञदत्तसम्बन्धस्याग्नपुत्रत्वमुच्यते । तदस्यापां
व्युत्सेकस्य दर्शपूर्णमाससम्बन्धः प्रकरणाभिर्हातो, न अवभृथत्वम् ।
अतोऽस्यावभृथत्वमुच्यते । न चायमवभृथः ॥ नन्वयमप्यवभृथो भ-
वतु । नैतद् युक्तम् । अन्यायो हि अनेकार्थत्वम् । कथं तर्हि शब्द-
प्रयोगः । सादृश्यात् । किं सादृश्यम् । अप्सु सम्बन्धः । स एष
भक्त्या प्रशंसावादोऽपां व्युत्सेकस्य, अवभृथ इवायमिति । यथा आग्ने
पुत्रवादः । तस्मान्नास्ति दर्शपूर्णमासयोरवभृथः । अतो नात्र गुण-
विधिः ॥ १४ ॥ आ० नि० ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १५ ॥

लिङ्गं चैतमर्थं दर्शयति । किं लिङ्गं भवति । एवमाह । नायुर्दा
जुहोति, न साम गायति, न वा गमनमन्त्रं जपतीति । सौमिकाव-
भृथधर्माणां प्रतिषेधं ब्रुवन् तद्धर्मप्राप्तिं दर्शयति । तस्मात् सौमिकाद्
अवभृथाद्धर्मप्रदेश इति ॥ १५ ॥ ॥ युक्तिः ॥ अवभृथनाम्ना सौमिक-
धर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ ४ ॥

द्रव्यादेशे तद्द्रव्यः श्रुतिसंयोगात् पुरोडाश-

स्त्वनादेशे तत्प्रकृतित्वात् ॥ १६ ॥

वारुणप्राघासिकोऽवभृथः सौमिकाद् अवभृथाद्धर्माणां ग्राहक इत्युक्तम् । तत्रेदं चिन्त्यते । किं पुरोडाशद्रव्यकोऽसौ, उत तुषनिष्कासद्रव्यक इति । कुतः । नाम्ना पुरोडाशः प्राप्यते । ननु प्रत्यक्षश्रुतं तुषनिष्कासम् । सत्यं प्रत्यक्षश्रुतं, न तु शक्यते विधातुम् । अवभृथोऽत्र विधीयते । अवभृथं यन्तीति । यदि तुषनिष्कासमपरं विधीयते, ततो वाक्यं भिद्येत । अवभृथं यन्ति । तच्च तुषनिष्कासेनेति । तुषनिष्कासश्रवणमिदानीं किमर्थम् । अनर्थकम् । सम्बन्धाभावात् ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः । द्रव्यादेशे तद्द्रव्यः । द्रव्यादेश एतस्मिंस्तुषनिष्कासेन अवभृथं यन्तीति । तद्द्रव्यः स्यात्, तुषनिष्कासद्रव्यः । कुतः । श्रुतिसंयोगात् । तुषनिष्कासप्रत्यक्षश्रुतं, पुरोडाशस्त्वानुमानिकोऽतिदेशेन प्राप्यते ॥

ननु पुरोडाशोऽपि प्रत्यक्षश्रुतो नाम्ना । यद्यपि प्रत्यक्षश्रुतः, सामान्येन तु प्राप्यते । तुषनिष्कासं तु विशेषेण बाध्यते च सामान्यं विशेषेण । अपिच लक्षणया पुरोडाशो गम्यते, श्रुत्या तुषनिष्कासम् । श्रुतिलक्षणयोश्च श्रुतिन्याय्या । तस्मात् तुषनिष्कासद्रव्यक इति । अथ यदुक्तं, न सम्बद्ध्यतेऽवभृथेन तुषनिष्कासम् । वाक्यभेदप्रसङ्गादिति । तत्र ब्रूमः । यद्यवभृथं विहाय तुषनिष्कासं विधीयते, ततो वाक्यभेदः स्यात् । तुषनिष्कासद्रव्यकोऽपूर्वोऽवभृथश्चोद्यते । तथा, सगुणकर्मविधानमविरुद्धम् । अविधीयमाने च तुषनिष्कासे तद्ग्रहणमनर्थकमेव स्यात् । तस्मात्तुषनिष्कासद्रव्यकः । पुरोडाशस्त्वनादेशे तत्प्रकृतित्वात् । यद्यत्र प्रत्यक्षश्रुतं न द्रव्यं स्यात्, ततः पुरोडाशस्तुषप्रकृतित्वात् स्यात् । अत्र तु प्रत्यक्षश्रुतं तुषनिष्कासम् । तस्मान्न पुरोडाशः ॥ १६ ॥ वारुणप्राघासिकावभृथस्य तुषनिष्कासद्रव्यकत्वाधिकरणम् ॥ ५ ॥

आतिथ्ये श्रूयते, वैष्णवो नवकपालो भवतीति । तथा राजसूये, पूर्वस्मिन्नसंयुक्ते वैष्णवस्त्रिकपाल इति । तत्र विचारः । योऽर्थं त्रिसंयुक्तं वैष्णवस्त्रिकपाल इति वैष्णवशब्दः, अयम् आतिथ्यधर्माणां ग्राहको, न ? इति । किं युक्तम् । ग्राहक इति । कुतः । विहितधर्मके कर्मणि हृष्टः शब्दोऽन्यास्मिन् अविहिते श्रूयमाणो ग्राहकः इत्युक्तम् । उक्तं क्रियाविधानम् इति । तत्रायमपि विहितधर्मकः आतिथ्ये हृष्टः । इदानीमविहितधर्मके त्रिसंयुक्ते हृश्यते । तस्माद्

धर्माणां ग्राहक इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

गुणविधिस्तु न गृह्णीयात् समत्वात् ॥ १७ ॥

गुणविधिरयम्, आतिथ्यस्य गुणं विष्णुदेवतासंयोगं विदधाति । स एष धर्मान् ग्रहीतुं न शक्नोति । कुतः । समत्वात् । समो हि अयमातिथ्ये त्रिसंयुक्ते च । यथा तत्र विष्णुदेवतां विदधाति । एवमत्रापि । श्रुत्यर्थासम्भवाच्च लक्षणया धर्माणां ग्राहकः कल्प्यते । इह च प्रत्यक्षश्रुत्यर्थ एव सम्भवति देवताविधिः । तस्मान्नायं ग्राहक इति ॥ १७ ॥ वैष्णवशब्दादातिथ्ये धर्मानतिदेशाधिकरणम् ॥ ६ ॥

निर्मन्थ्यादिषु चैवम् ॥ १८ ॥

पशौ अग्नीषोमीये धर्मवान् निर्मन्थ्योऽग्निराम्नातः । साध्या वै देवा इत्यारभ्य अग्नौ श्रूयते, निर्मन्थ्येनेष्टकाः पचन्तीति । तथा, दर्शपूर्णमासयोर्बर्हिंराज्ये धर्मवती । पशौ श्रूयते, बर्हिषा यूपवटमवस्तृणातीति, आज्येन यूपमनक्तीति । तत्र सन्देहः । किं निर्मन्थ्यादयः शब्दा धर्माणां ग्राहकाः, न ? इति । तत्र अधिकरणातिदेशः क्रियते । निर्मन्थ्यादिषु चैवम् । यथा वैष्णवशब्दे । अत्राप्ययं यौगिको निर्मन्थ्यशब्दः, सद्योनिर्मथितमग्निमाह । तथा बर्हिंराज्यमिति द्रव्यशब्दौ । ते द्वयोऽपि स्वार्थं विधाय कृतार्था भवन्ति, धर्मान् ग्रहीतुं न शक्नुवन्ति । तस्मान्न ग्राहकाः ॥ १८ ॥ निर्मन्थ्यादिशब्दैर्धर्मानतिदेशाधिकरणम् ॥ ७ ॥

चातुर्मास्येषु श्रूयते— द्वयोः प्रणयन्ति, तस्माद् द्वाश्यामेतीति । अस्ति तु सोमे प्रणयनं धर्मवत् । तथा दर्शपूर्णमासयोरधर्मकम् । तत्र सन्देहः । किं सौमिकमेतत् प्रणयनम्, उत दार्शपूर्णमासिकमिति । तत्र सूत्रेणैवोपक्रमः—

प्रणयनन्तु सौमिकमवाच्यं हीतरत् ॥ १९ ॥

सौमिकमेतत् प्रणयनम् । किं कारणम् । अवाच्यं हीतरद् दार्शपूर्णमासिकम् । चोदकेन प्राप्तत्वात् । कथं पुनरयं प्रणयतिशब्दः, प्रणयनमात्रवचनः सन् सौमिकं प्रणयनविशेषं शक्नोति वक्तुम् । लक्षणयेति ब्रूमः । तीर्थशब्दवत् । तद् यथा तीर्थशब्दस्तीर्थमात्रवचनः सँस्तीर्थविशेषं धर्मसाधनं कदाचिद् ब्रूते, तीर्थयात्रां गत इति ॥ १९ ॥ पूर्व० ॥

उत्तरवेदिप्रतिषेधश्च तद्वत् ॥ २० ॥

न वैश्वदेवे उत्तरवेदिमुपवयन्ति न सुनासीरीये इति । प्राप्तिपूर्वो हि प्रतिषेधो भवति, सौमिके च प्रणयने उत्तरवेदिर्न दार्शपौर्ण-
मासिके ॥ २० ॥ युक्तिः ॥

प्राकृतं वाऽनामत्वात् ॥ २१ ॥

प्राकृतं वा एतत् प्रणयनं, दार्शपौर्णमासिकम् । कुतः । अनाम-
त्वात् । प्रणयनशब्दः सौमिकस्य प्रणयनस्य न नामधेयम् । नैतत् तस्य
वाचकमित्यर्थः । यद्यथं तस्य वाचकः स्यात्, ततस्तदिह ब्रूयात् ।
इदं तु पदार्थनामधेयं, पदार्थस्य प्राकृतनयनस्य वाचकम् । तदिह
शक्नोत्यग्नेः प्राचीनं नयनं वक्तुम् । तच्चह अस्त्येव । तस्मात् तस्य
वाचकः । एवं सन्निहितप्रत्ययो न बाधितो भवति ॥

अथ यदुक्तं, तीर्थशब्दवद् भविष्यतीति । अत्र ब्रूमः । तीर्थ-
शब्दोऽपि तीर्थमात्रमेव ब्रूते । तीर्थयात्रां गत इति तु उक्त्वा कानि-
चिर्तीर्थानि अनुकान्तानि । यतोऽसौ तद्विशिष्टार्थो विज्ञायते । यत्र
तु केवलः प्रयुज्यते, तत्र तीर्थमात्रमेव ब्रूते । यथा, तीर्थे स्नाति तीर्थ-
मेव हि समानानां भवतीति । अपि च सम्भवति श्रुत्यर्थे, लक्षणा-
ऽर्थोऽप्राह्यः । सम्भवति चात्र श्रुत्यर्थः । तस्मान्न लक्षणार्थो प्राह्य
इति ॥ २१ ॥ सि० ॥

परिसङ्ख्यार्थं श्रवणं गुणार्थमर्थवादो वा ॥ २२ ॥

तत्राह । यदुक्तम्- अवाच्यं हीतरदिति । तस्य कः परिहारः ।
उच्यते । परिसङ्ख्यार्थं वा स्यात् । द्वयोः प्रणयन्ति, न चतुर्विधिति ।
गुणार्थम् । अर्थवादार्थं वा । तस्माद् द्वाभ्यामेतीति । तत्र परि-
सङ्ख्यार्थां तावत् त्रयो दोषाः । गुणाऽपि न कश्चिद् विधीयते । परि-
शेषादर्थवादार्थम् । नन्वर्थवादोऽपि निष्प्रयोजनः । प्रणयनस्य प्राप्त-
त्वात् । अर्थवादस्य प्रयोजनमुत्तरस्मिन्नधिकरणं वक्ष्यामः । मध्य-
मयोर्वा गत्यर्थवाददिति ॥ २२ ॥ आ० नि० ॥ द्वयोः प्रणयन्तीत्यनेन
सौमिकधर्मानतिदेशाधिकरणम् ॥ ८ ॥

प्रथमोत्तमयोः प्रणयनमुत्तरवेदिप्रतिषेधात् ॥ २३ ॥

द्वयोः प्रणयन्तीति श्रूयते । तत्र सन्देहः । कतरयोर्द्वयोरिति ।
अनियमे प्राप्ते, उच्यते । प्रथमोत्तमयोः प्रणयनम् । कुतः । उत्तर-

वेदिप्रतिषेधात् । तत्रोत्तरवेदिः प्रतिषिद्धयते । न वैश्वदेवे उत्तरवेदि-
मुपवयन्तीति, न सुनासीरीये इति । अस्मिन् प्रणयने उत्तरवेद्या-
मग्निनिधानं विहितम् । अतो यत्र प्रणयनं, तत्रोत्तरवेदिप्राप्तिः ।
प्राप्तौ च सत्यां प्रतिषेधः । प्रथमोत्तरयोश्चासौ । तस्मात् तयोः प्रणयन-
मिति ॥ २३ ॥ पूर्व० ॥

मध्यमयोर्वा गत्यर्थवादात् ॥ २४ ॥

मध्यमयोर्वा पर्वणोः प्रणयनम् । कुतः । गत्यर्थवादात् । गत्यर्थ-
वादेनैतद् द्वयोः प्रणयनमुच्यते । तस्माद् द्वाभ्यामेतीति । ऊरू सं-
स्तुते वा एते पर्वणोः, ऊरू वा एतौ यज्ञस्य, यद् वरुणप्रघासाश्च
साकमेधाश्चेति । ऊरू च गमनसाधने तत्रैवं स्तुतिसम्बन्धो विज्ञा-
यते । ऊरू यज्ञस्य, वरुणप्रघासाश्च साकमेधाश्चेति, तयोर्द्वयोः प्रण-
यन्ति । तस्माद् द्वाभ्यामूरुभ्यां यज्ञः समाप्तिं याति । प्रणयनेन हि
तौ बलवन्तौ भवतः । अङ्गभूयस्त्वादिति । एतत् तदर्थवादस्य प्रयो-
जनम् ॥ २४ ॥ सि० ॥

अथ यदुक्तम्, उत्तरवेदिप्रतिषेधादिति । तत्र ब्रूमः—

औत्तरवेदिकोऽनारभ्यवादप्रतिषेधः ॥ २५ ॥

अनारभ्य कश्चित् पर्वविशेषं चातुर्मास्येषूत्तरवेदिराम्नाता—
उपात्र वपन्तीति । तस्यानारभ्य विधेरयं प्रतिषेधः । ननु वरुणप्राघा-
सानां गुणवाक्यप्राप्तौ एव अयं तेषामेव अत्र इति वादः स्यात् । नै-
तदेवम् । प्रकरणाच्चातुर्मास्यानामेव । यदि वरुणप्रघासानां वादः
स्यात्, तत्र प्रतिषेधे त्रीण्यपि पर्वाणि उत्कीर्त्तयेत् । अथाच्येत, द्वयोः
पर्वणोर्वाद्दो भवत्विति । अत्र ब्रूमः । न द्वयोः पर्वणोः प्रकरणं, चातुर्मा-
स्यानां वा प्रकरणं, वरुणप्रघासानां वा । वरुणप्रघासानां द्वयोः प्र-
करणे पर्वणोरुत्कीर्त्तनं प्रतिषेधे न स्यात् । तस्माच्चातुर्मास्यानामेव
वादः । नन्वेवमपि अर्थवादं नैतज्ज्ञातं, मध्यमयोः प्रणयनमिति ।
किमर्थं प्राप्तस्य प्रणयनस्य पुनःश्रवणमिति । अत्र प्रयोजनं नोक्तम् ।
अस्ति प्रयोजनेऽन्यस्मिन् परिसङ्ख्यार्थमेव भवति । तत्र दोषा
उक्ताः । तस्माद् गुणार्थमेवैतच्छ्रवणम् । ननु नास्ति कश्चिद् गुणः ? ।
उच्यते । गुणः भूयते, उत्तरवेद्यामग्निनिधानम् । तस्मात् तदर्था

पुनः श्रुतिः ॥ २५ ॥ आ० नि० ॥ द्वयोः प्रणयन्तीत्यनेन मध्यमयोर्द्वयोः
प्रणयनाधिकरणम् ॥ ९ ॥

स्वरसामैककपालामिक्षञ्च लिङ्गदर्शनात् ॥ २६ ॥

गवामयने श्रूयते, अभितो दिवाकीर्त्यमहस्त्रयः स्वरसामानो
भवन्तीति । तेषां विशेषधर्मा आम्नाताः । यथा, सप्तदशा भवन्ति,
सन्ततयाऽतिप्राज्ञा गृह्यन्ते इत्येवमादयः । पुनरन्यत्र श्रूयते, पृष्ठयः
षडहो द्वौ स्वरसामानौ इति । तथा वैश्वदेवे श्रूयते, द्वावापृथिव्य
एककपाल इति । तत्र आम्नाता विशेषधर्माः, सर्वहुतं जुहोत्यपर्या-
धर्षयञ्जुहोतीति । पुनरपरत्र, काय एककपाल इति । तत्रैव श्रूयते ।
वैश्वदेव्यामिक्षा इति । तत्रापि विशेषधर्माः केचिद् आम्नाताः । पुन-
रन्यत्र, मैत्रावरुणी आमिक्षा इति । तत्र सन्देहः । किं स्वरसामशब्दो-
ऽन्यत्र श्रूयमाणो गवामयनिकेभ्यः स्वरसामभ्यो धर्माणां प्राहकः ?
उत नेति । एवमेककपाल मिक्षाशब्दावपि ॥

* तत्र गुणविधिस्तु न गृह्णीयात् । समत्वादित्यग्रहणे प्राप्ते, इदमु-
च्यते । स्वरसामैककपालामिक्षञ्च धर्माणां प्राहकम् । किं कारणम् ।
लिङ्गदर्शनात् । लिङ्गं तत्र तादृशं दृश्यते । येन ज्ञायते, सर्वे एते
धर्माणां प्राहका इति । स्वरसामसु तावत् पृष्ठयः षडहो द्वौ स्वर-
सामानौ इत्युक्त्वा आह । तत्र यत्तृतीयं सप्तदशमहस्तत् त्रयस्त्रिंश-
स्य स्थानमभिपर्याहरन्ति, स उत्तराणां स्तोमानामव्यवायाय त्रया-
णां च सप्तदशानाम् अनुचीनताया इति । यद्येतौ स्वरसामानौ,
गवामान्यनिकानां धर्माणां प्राहकौ, तत्रैतावपि सप्तदशौ । तथाऽत्र त्रयः
सप्तदशा अनुचीना भवन्ति । तत्रैतद्वचनं युज्यते । त्रयाणां सप्तद-
शानामनुचीनताया इति ॥ तथा आप्रयणे, द्वावापृथिव्यमेककपालं
विधाय आह, यत् सर्वहुतं करोति, सा त्वेका परिचक्षा, हुतो हुतः
पर्याधर्षते सा द्वितीया । आज्यस्यैव द्वावापृथिव्यौ यजेतेति आज्य-
विधिपरे प्राक्ये सर्वहोमपर्याहृत्तिञ्च वैश्वदेविकौ धर्मौ प्राप्तौ
दृश्यन्ति ॥ तथा मैत्रावरुण्यामामिक्षायां न वाजिनेन प्रचरन्तीति
वाजिनेज्यां वैश्वदेविकं धर्मं प्रतिषेधैस्ततो धर्मप्राप्तिं दर्शयति । एते-
भ्यो लिङ्गेभ्य एतज्जायते, यथास्वं धर्माणां प्राहका इति । प्रतिपत्य-
र्थकर्म वाजिनेज्यां द्विष्टकृणुस्यां मत्वा एतदुक्तम् । आह । लिङ्ग-

मपदिष्टम् । कुतः प्राप्तिरिति ? । उच्यते । लक्षणया प्राप्तिर्लिङ्गास्तु
लक्षणापरिग्रहः ॥ २६ ॥ सि० ॥

घोदनासामान्याद्वा ॥ २७ ॥

स्वरसामत्वसामान्याद्, एककपालत्वसामान्याद्, आमिक्षासा-
मान्याद्वा यस्य लिङ्गम्, अर्थसंयोगादित्यनेन प्राप्तिरिति ॥ २७ ॥
हेतुः ॥ स्वरसामादिशब्देन धर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ १० ॥

कचिच्छ्रूयते— वासो ददाति, अनो ददातीति । तत्र विच्चा-
र्यते । किं वाससोऽनसश्च क्रिया प्राप्यते, उत नेति । तत्राह । एवं
तावद् नः परीक्ष्यम् । किं कर्मनिमित्तावेतौ शब्दौ, उत आकृतिनि-
मित्ताविति । यदि कर्मनिमित्तौ, ततः प्राप्यते । अथाकृतिनिमित्तौ,
ततो न ? इति । किं तावत् प्राप्तम् । कर्मनिमित्ताविति । कुतः । कर्मा-
गमे तद्दर्शनात् । यदा तस्मिन् द्रव्ये दारुणि सूत्रे वा दारुकारेण
तन्तुवायेन वा कर्म कृतं भवति, तदैतौ शब्दौ प्रवर्त्तते, न प्राक् । अतो
विज्ञायते, कर्मनिमित्ताविति । यदा कर्मनिमित्तौ, तदेतदारभ्यते—

कर्मजे कर्म यूपवत् ॥ २८ ॥

कर्मजे एतस्मिन् वासआदौ द्रव्ये भूयमाणे, कर्म प्राप्यते । कथ-
म् । यूपवत् । यथा यूपशब्दो जोषणादिक्रियानिमित्तः । स यत्र
भूयते, तत्र जोषणाद्याः क्रियाः प्राप्यन्ते । एवमिहापीति ॥ २८ ॥ पूर्व० ॥

रूपं वाऽशेषभूतत्वात् ॥ २९ ॥

अत्रोच्यते, नैतौ कर्मनिमित्तौ । किं कारणम् । ये नैमित्तिकाः
शब्दाः, ते निमित्तमुपलभ्य प्रयुज्यन्ते । यथा दण्डी लुत्रीति । इमौ
त्वनुपलभ्य क्रियाम्, आकृतिमात्रे प्रयुज्येते । तस्माच्चैतौ क्रियानि-
मित्ताविति । अत्रोच्यते । आकृत्या क्रियामनुमाय ततः शब्दं प्रयुञ्जे
इति । अत्र झूमः । प्रत्यक्षां निमित्ततां गम्यमानामुत्सृज्य, अदृष्टायां
क्रियायां निमित्तत्वकल्पनायां हेतुर्नास्तीति । यन्तूक्तं, क्रियोत्तरकालं
प्रवृत्तिदर्शनादिति । अत्र झूमः । प्राक् क्रियाया आकृतिरनभिव्यक्ता ।
सा क्रियया अभिव्यज्यते । यतः क्रियोत्तरकालं शब्दप्रयोगः । त-
स्मादाकृतिनिमित्तौ । यदैवं, तदा सिद्धं रूपं देयम् । कुतः । अशेष-
भूतत्वात् । नात्र क्रिया शेषभूता । क्रियावाचिनः शब्दस्याभावात् ।
यूपे तु प्रत्यक्षविहिता जोषणाद्याः क्रियाः । यूपवदिति । अनुल्लोप-

न्यासः ॥२९॥ सिद्धान्तः ॥ वासो ददातीत्यादौ वासआदिशब्दाना-
माकृतिनिमित्तताधिकरणम् ॥ ११ ॥

विशये लौकिकः स्यात् सर्वार्थत्वात् ॥ ३० ॥

गर्गत्रिरात्रे आज्यदोहानि सामानि प्रकृत्य भ्रूयते, अग्निमुपनिधाय
स्तुवते इति । अत्र विशयः । किं लौकिकोऽग्निरुपनिधेयः, उत वैदि-
क इति । किं प्राप्तम् । वैदिक इति । कुतः । सर्वकर्मार्थ उत्पन्नोऽसौ ।
यानि अहं कर्माणि करिष्ये यैश्चास्मि अधिकृत इति । अतो वैदिक
उपनिधेय इति । एवं प्राप्ते उच्यते । विशये लौकिकः स्यात् । सर्वा-
ऽर्थत्वात् । एतस्मिन् विशये, लौकिकं वैदिकम् ? इति, लौकिकः
स्यात् ॥ ३० ॥ सि० ॥

अथ यदुक्तं, वैदिकं सर्वकर्मार्थमुत्पन्नम् । तस्मात् तदुपनिधेय-
मिति । अत्र भ्रूमः—

न वैदिकमर्थनिर्देशात् ॥ ३१ ॥

न वैदिकमग्निद्रव्यं शास्त्रेणोत्पादितम् । तस्य शास्त्रेणैव कार्य्यं
निर्दिष्टम् । यदाहवनीये जुहोतीत्यारभ्य तस्मिन् सर्वार्थं कल्प्यमाने
निर्देशोऽनर्थकः स्यात् । तस्माल्लौकिकोऽग्निरुपनिधेयः । सर्वार्थत्व-
श्चैषां स्वे स्वे कार्य्ये वर्त्तमानानां भविष्यति । एवमुभयमविरुद्धम् ।
सर्वार्थत्वं निर्देशश्चेति ॥ ३१ ॥ पूर्वपक्षनिरासः ॥

अथ धिष्ण्या अग्नयः कस्मात्प्रापनिधीयन्ते ? । अत्रोच्यते—

तथोत्पत्तिरितरेषां समत्वात् ॥ ३२ ॥

इतरेषामप्यग्नीनां धिष्ण्यानां तथोत्पत्तिः, न सर्वार्थं इत्यर्थः ।
कुतः । समत्वात् । एतेऽपि इतरैरग्निभिः समाः । एतेषामपि निर्दिष्टं
कार्य्यं, प्रागासीनो धिष्ण्यान् आघारयतीति । अतस्ते नोपनिधेया
इति ॥ ३२ ॥ ॥ आ० नि० ॥ गर्गत्रिरात्रे लौकिकोऽग्नौ उपनिधाना-
ऽधिकरणम् ॥ १२ ॥

संस्कृतं स्यात्तच्छब्दत्वात् ॥ ३३ ॥

एकादशिन्यां भ्रूयते, उपशयो यूपो भवतीति । तत्र सन्देहः ।
किमेतदुपशयद्रव्यं संस्कृतं, जोषणादयः संस्कारा अत्र कर्त्तव्याः ?
उत नेति । किं युक्तम् । संस्कृतं स्यात् । कर्त्तव्या अत्र जोषणादयः
संस्काराः । कुतः । तच्छब्दत्वात् । अयं यूपशब्दः संस्कारनिमित्तः ।

स एषोऽस्तसु संस्कारेषु नोपपद्यते । तस्मात्ते कार्या इति ॥३३॥पूर्व०॥

भक्त्या वाऽयज्ञशेषत्वाद् गुणानामभिधानत्वात् ॥३४॥

न वा कर्त्तव्याः । कुतः । अयज्ञशेषत्वात् । एते संस्कारा अस्मिन् काष्ठे क्रियन्ते । एतेन द्वारेण, यजतिना सम्भत्स्यन्ते । इत्थं संस्कृते काष्ठे नियुक्तेन पशुना यजिः क्रियमाणोऽपूर्वं निर्वर्त्तयति । अस्मिन् श्लोपशये न पशुर्नियुज्यते, तत्र कृताः संस्कारा अनस्युः । ननु वचनसामर्थ्याद्दृष्टार्था भविष्यन्ति । उच्यते । नात्र वचनं, यूपः कर्त्तव्य इति । वर्त्तमानापदेशोऽयम् । ननु वर्त्तमानापदेशोऽपि न घटते संस्काराणामभावे । उच्यते । भक्त्या भविष्यति । यथा, यजमानो वै यूप इति । आह । तत्र सादृश्यात् । इह पुनः कथमिति । उच्यते । गुणानामभिधानत्वात् । यूपगुणानां यूपसंस्काराणामभिधानत्वाद् यूपसंस्काराः । तत्र केचिदर्थप्राप्ताश्छेदनादयस्तूष्णीञ्कृताः सन्ति । तैरयमभिधीयते, यूप इति, अयूपः सन् । यथा स्नाता कन्धा अनलङ्कृता मालागुणेनापि अलङ्कृता इति । एवमेकदेशेनापि संस्काराणां, संस्कृत इति स्तुत्याऽभिधीयते ॥ ३४ ॥ उपशयो यूपो भवतीत्यादौ यूपशब्दस्य संस्काराप्रयोजकताधिकरणम् ॥ १३ ॥

अग्नौ श्रूयते, पृष्ठैरुपतिष्ठन्ते इति । तत्र चिन्त्यते । किं पृष्ठधर्माः कर्त्तव्याः, उत नेति । के पुनस्ते । सामान्यधर्माः— हिङ्गुरादयः, विशेषधर्माः— रथन्तरे प्रस्तूयमाने, पृथिवीं मनसा ध्यायंद् बृहति समुद्रमित्येवमादयः । किं तावत् प्राप्तम् । तत आह । एतत् तावद् नः परीक्ष्यम् । किमथं पृष्ठशब्दः कर्मणो वाचकः, उत द्रव्यस्येति । ननु सिद्धमेतत् कर्मनामधेयं पृष्ठशब्द इति, यस्मिन् गुणोपदेशः प्रधानतोऽभिसम्बन्ध इत्यत्र । तास्वेव चोदनास्वेतदुक्तम्— सप्तदशानि पृष्ठानि, वैरूपं पृष्ठं, वैराजं पृष्ठमिति । इदानीं, पृष्ठैरुपतिष्ठन्ते इत्यस्यां चिन्त्यते । किं पुनरत्र युक्तम् । तत आह—

कर्मणः पृष्ठशब्दः स्यात् तथाभूतोपदेशात् ॥ ३५ ॥

कर्मणः पृष्ठशब्दः स्यात् । कुतः । तथाभूतोपदेशात् । तथाभूतः सन्नुपदेशः । यत्रायं पृष्ठशब्दः कर्मनाम अधिगतस्तथाभूतोऽयमपि । किमस्य तथात्वम् । पृष्ठशब्दसामान्यम् । पृष्ठशब्दस्तत्र कर्मवचनोऽधिगतः । स एवायम् । तस्मादिहापि तद्वचन एवावगन्तव्यः । विशेषे-

षाभावात् । यद्यन्यार्थः कल्प्येत, एकः शब्दोऽनेकार्थः स्यात् । तत्र को दोषः । शब्दे उच्चरिते संशयः स्याद्, न अर्थप्रत्ययः । तत्र व्यवहारो न सिद्ध्येत् । व्यवहारार्थश्च शब्दप्रयोगः । कारणान्तरंच प्रकरणाद्यपेक्ष्यम् । एकार्थत्वे तु निरपेक्षोऽर्थप्रत्ययः । तस्मादनेकार्थत्वमन्याय्यम् । तस्मात् कर्मनाम पृष्ठशब्दः । यदा कर्मनाम, तदा यदि तावत् तानि कर्माणीहोपपद्यन्ते, तत्र उत्पत्तिरेषामनर्थिका । अथ मा भूदेष दोष इत्येतदुपस्थानं, तत्र विज्ञायते । तत इदं प्रकरणं बाध्येत । तस्मात् सादृश्यविधिरयम् । पृष्ठैरुपतिष्ठन्ते । पृष्ठसदृशैः कर्मभिरुपतिष्ठन्ते इति । तत्सादृश्यं च धर्मैर्भवति । तस्मात् कर्त्तव्या धर्मा इति ॥३५॥ पूर्व० ॥

अभिधानोपदेशाद्वा विप्रतिषेधाद् द्रव्येषु

पृष्ठशब्दः स्यात् ॥ ३६ ॥

न चैतदेवं, कर्मणः पृष्ठशब्द इति । किन्तर्हि । द्रव्येषु पृष्ठशब्दः स्यात् । ऋग्द्रव्येषु अभित्वा शूर नो नुम इत्येवमादीनाम् ऋचां वाचकः । कुतः । अभिधानोपदेशात् । अभिधानोपदेशोऽयं पृष्ठैरुपतिष्ठन्ते इति । पृष्ठैरभिधातीत्यर्थः । कथं पुनरयमुपस्थानवचनोऽभिधानार्थः शक्यो विज्ञातुम् । उच्यते । उपग्रहविशेषान्मन्त्रकरणे उपतिष्ठतेरात्मनेपदं भवति । मन्त्रस्त्वभिधानस्य करणं, नोपस्थानस्य । उपस्थानं शरीरेण क्रियते, मनसा वा । तस्मादभिधानार्थः । स एष विप्रतिषेधः । यदि पृष्ठशब्दः कर्मसु कल्प्यते, आत्मनेपदं बाध्यते । न हि तदा मन्त्रः करणं भवति । अथ आत्मनेपदमनुरुद्ध्यते, उपस्थानविप्रतिषेधस्तदा अभिधानार्थता आपतति । तत्र आत्मनेपदानुरोधो न्याय्यः । पृष्ठशब्दो हि लक्षणया पृष्ठसाधनं मन्त्रं ब्रुषन् अर्थवान् । आत्मनेपदं तु मन्त्रकरणेनैवोपपद्यते । अतः पृष्ठसाधनेषु मन्त्रेषु पृष्ठशब्दः ॥ आह । नैतद् युक्तम् । उपस्थानार्थता हि श्रुत्या उपतिष्ठतेः । आत्मनेपदाह्लिङ्गादभिधानार्थता । न च लिङ्गेन श्रुतिर्बाधितव्या । उच्यते । नैवात्र श्रुतिर्बाध्यते । स्वार्थमेवोपतिष्ठतिराह समीपस्थानम् । तत्त्वभिधानाय । अभिधानं निर्वर्त्तयितुम् । अग्निसमीपे तिष्ठेदिति तिष्ठतिराह आत्मनेपदात् । ततोऽविरोधः ॥ आह । एवमप्यभिधानस्य मन्त्रः करणं, नोपतिष्ठतेः । तत्रासम्बन्ध एवोपस्थानस्य मन्त्रेण । तथा, पृष्ठैरुपतिष्ठन्ते इतिसमुच्चारणमनर्थकं स्यात् । उच्य-

ते । अभिधानमभिनिर्वर्त्तयन् मन्त्र उपस्थानस्य करणं भवति । यतोऽस्य प्रयोजनं निर्वर्त्तयति । न हि निष्प्रयोजनमनुष्ठीयते । तस्माद् मन्त्रेष्वेव पृष्ठशब्दः । मन्त्रेषु चेद्, नास्ति धर्माणां प्राप्तिः । न हि मन्त्राणां प्राप्तिर्न हि मन्त्राणां धर्माः । अधर्मकास्त इति ॥ ३६ ॥ ॥ सिद्धान्तः ॥ पृष्ठैरुपतिष्ठन्ते इत्यादौ पृष्ठशब्दस्य ऋग्द्रव्यवाचिताधिकरणम् ॥ १४ ॥ इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ श्रीमांसाभाष्ये सप्तमस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ७ ॥ ३ ॥

अथ सप्तमस्य अध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ७ ॥ ४ ॥

इतिकर्त्तव्यताविधेयजतेः पूर्ववत्त्वम् ॥ १ ॥

अनारभ्य किञ्चिच्छक्यते, सौख्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकाम इति । तत्रैषोऽर्थः समधिगतः । यागोऽयं चोद्यते इति । यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेषां कर्मसम्बन्धाद् इति । तथेदमप्युक्तं, कर्मफलयोः सम्बन्धे कर्म गुणतः फलं प्रधानत इति । प्रत्यर्थं चाभिसंयोगात् । कर्मतो हि अभिसम्बन्धः । तस्मात् कर्मोपदेशः स्याद्— इति । इदमपि चोक्तं, यजिरपूर्वं साधयति । ततश्चापूर्वात् कालान्तरे फलं भवतीति, चोदना पुनरारम्भः — इत्यत्र । एवमेतस्मिन् सति, सौख्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकाम इत्यत्र सौख्यंयागेन अपूर्वं कृत्वा ब्रह्मवर्चसं साधयेद् ब्रह्मवर्चसकाम इत्येवं विज्ञायते ॥ आह । यत्र तृतीयायुक्तो यजिस्तत्र युक्तो गुणभावाऽभ्युपगमः । यथा, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेति । इह त्वसत्यां तृतीयायां कथं तृतीयार्थो गम्यते इति । उच्यते । किमत्र तृतीयानिर्दिष्टेन यजिना कार्यम् ? यदा स्वभावसिद्धः कर्मणां फलं प्रति गुणभावः । यत्राप्यसौ श्रुतस्तत्राप्यकिञ्चित्कर एव । गतार्थत्वात् । तथा, यत्रापि द्वितीया श्रुतिः । यथाऽग्निहोत्रं जुहुयादिति । तत्रापि विभक्तिव्यत्ययो वा ईप्सितत्वस्य वाऽविवक्षा कामं वा आनर्थक्यं स्याद्, न तु कथञ्चिदपि कर्मणः प्रति गुणभावः शक्योऽपह्नोतुम् । तस्माद् यागेनापूर्वसाधनमत्रोच्यते । तत्र यागो विज्ञायते । लौकिकोऽसौ पदार्थः । तेन तु कथमपूर्वं साधयते इत्येतद् न विज्ञायते । इह तु यागेन अपूर्वं साधयेदित्येतावदेषोक्तम् । कथं साधयेद्वितीतिकर्त्तव्यता नोक्ता । येषां चार्थानां ज्ञायत एवेतिकर्त्तव्यता, तेषां कर्त्तव्यत्वमात्रमुपदिश्य-

ते । यथा ओदनं पचेदिति । येषां तु न ज्ञायते, ते सह इतिकर्त्तव्यतया एवोपदिश्यन्ते । यथा दर्शपूर्णमासौ । एवं चेद् नूनं ज्ञायते, यागेन अपूर्वनिर्वृत्तौ इतिकर्त्तव्यता यस्मादुक्ता, तस्मान्मन्यूनमसावस्तीति ॥ आह । यद्यस्ति लोके, ततो ज्ञायेतैव । अथ नास्त्येव, कथं शक्या ज्ञातुमिति । उच्यते । बाढमस्ति लौकिकी वैदिकी च । लौकिकी तावत् पार्वणस्थालीपाकादिषु, वैदिकी दर्शपूर्णमासादिषु । यदि तत्पूर्वा एताभ्योदनास्तद्दृष्ट्याः सौर्ययागेनापूर्वं साध्येद् यथाज्ञातया इतिकर्त्तव्यतयेति । ततो युक्त इतिकर्त्तव्यताया अविधिः । न च विधीयते । अत इतिकर्त्तव्यताया अविधेर्यजतेः पूर्ववत्त्वं, विहितेति-कर्त्तव्यताकत्वमिति ॥

अथ ये आहुः— यजेत यागं कुर्यादिति । जुहुयाद् होमं कुर्यादिति । तेषां, किं नैव धर्माकाङ्क्षा भवति ? । भवतीति ब्रूमः । यद्यपि, प्रज्ञातेतिकर्त्तव्यतो यजिर्द्रव्यं देवतां प्रत्युत्सृज्यते इति । तथापि यदा फलार्थः क्रियते, तदा धर्मान् आकाङ्क्षति । न हि अधर्मकात् फलं भवति । कथं ज्ञायते । यो हि अमेध्यं द्रव्यमुच्छिष्टः शयानो वा प्रौढपादो वामेन हस्तेन वा, पादेन, यथाकथञ्चिद्देवतायै उत्सृजति, तस्य फलं न भवतीति शिष्टाः स्मरन्ति । यस्तु मेध्यं द्रव्यं शुचौ देशे प्रथतः प्राङ्मुखो दक्षिणेन हस्तेन समाहितमना मन्त्रवाग्निमवच्च देवतायै उत्सृजति, तस्य फलं भवतीति स्मरन्ति । तस्माद् यावान् यजतिः फलायाम्नायते, स सर्वो धर्मान् आकाङ्क्षति । अतस्तेषामप्यस्ति धर्माकाङ्क्षा । सत्यामाकाङ्क्षायां सन्निहितैर्धर्मैरविप्रतिषिद्धः सम्बन्धः प्रकृतौ त्वानुमानिकैः ॥ १ ॥ सौर्ये चरौ इतिकर्त्तव्यतावत्त्वा-धिकरणम् ॥ १ ॥

स लौकिकः स्याद् दृष्टप्रवृत्तित्वात् ॥ २ ॥

अधुनैवं चिन्त्यते । किमनियमः । लौकिकी वैदिकी वा इति कर्त्तव्यता, उत लौकिकी एव, आहोस्विद् वैदिकीति । अत्र विशेषाभावादनियमे प्राप्ते, उच्यते । स लौकिकः स्यात् । स खलु कर्त्तव्यतोपायो लौकिकः स्यात् । कुतः ? । दृष्टप्रवृत्तित्वात् । दृष्टा हि अस्य तत्र तत्र प्रवृत्तिः । यथा पार्वणस्थालीपाके अष्टकाचरौ आग्रहायणीयकर्मणि, इत्येव यत्र यागेन अपूर्वं साध्यते, तत्र तत्रास्य प्रवृत्ति-

हेष्टा । अतोऽन्वयाद् विज्ञायते, यागस्यापूर्वं साधयतोऽयमुपाय इति ।
अयञ्चापि यागः । तस्मादस्यापि स एवाभ्युपायः ॥ २ ॥ पूर्व० ॥

वचनात्तु ततोऽन्यत्वम् ॥ ३ ॥

आह, किमेष एवोत्सर्गः । सर्वत्र लौकिकीतिकर्त्तव्यतेति । एवं
खलु प्राप्तम् । एवं प्राप्ते ब्रूमः, वचनात्तु ततोऽन्यत्वमिति । यत्र प्रत्यक्षं
वचनं वैदिक्याः, तत्र न लौकिकी स्यात् । वचनसामर्थ्याद् वैदिकी
एव स्यात् । यथोपसत्सु गृहमेधीये च ॥ ३ ॥ आ० नि० ॥

लिङ्गेन वा नियम्येत लिङ्गस्य तद्गुणत्वात् ॥ ४ ॥

लिङ्गेन वा इतिकर्त्तव्यता नियम्येत । कतरा । यस्या लिङ्गम् । वैदि-
क्याश्च लिङ्गम् । तस्माद् वैदिकी । किं पुनर्लिङ्गम् । सौर्ये तावच्चरौ
भ्रूयते, प्रयाजे कृष्णलं जुहोतीति । तथा पेन्द्रबार्हस्पते, अर्द्धं बर्हिषो
लुनाति, अर्द्धं न, स्वयन्दितमर्द्धं वेद्याङ्कुरोत्यर्द्धं न इति । तथा पितृ-
यज्ञे न होतारं वृणीते न आर्षेयमिति । एतैर्लिङ्गैर्ह्रायते वैदिकी इति-
कर्त्तव्यतेति । कथम् । तद्गुणत्वात् । एते हि प्रयाजादयो वैदिकस्य
अपूर्वस्य गुणाः । यदि च तदीयेतिकर्त्तव्यता प्रवर्त्तिता, तत एतेषु
कर्मसु एते सन्ति । तत्रैतानि वचनान्युपपद्यन्ते, प्रयाजे प्रयाजे
कृष्णलं जुहोतीत्येवमादीनि । तस्माद्वैदिकीइतिकर्त्तव्यता नियम्येत
॥ ४ ॥ सि० ॥

अपिवाऽन्यायपूर्वत्वाद्यत्र नित्यानुवादवचनानि स्युः॥५॥

अपिवा नैवं स्याद्, वैदिकी इतिकर्त्तव्यतेति । यत्कारणम् एतै-
र्लिङ्गैर्न शक्यते वैदिकी नियन्तुम् । कुतः । अन्यायपूर्वत्वात् । न्याय-
पूर्वकं हि वचनं तत्साधकं भवति । न चैतानि न्यायपूर्वाणि । न हि
वैदिक्याः प्रवृत्तिर्युक्ता । निषद्वा हि सा प्रकरणादिभिः कारणैर्दर्श-
पूर्णमासादिषु । कथं तर्हि एतानि लिङ्गानि । उच्यते । यत्र नित्या-
ऽनुवादवचनानि स्युः॥ इह तावद्, अर्द्धं बर्हिषो लुनाति अर्द्धं न इति,
बर्हिर्यत्रैव भविष्यति । यत्कारणं, सतो बर्हिष उच्यते । न चेहास्ति
बर्हिः । न होतारं वृणीते न आर्षेयमिति नित्यानुवादो भविष्यति ॥
ननु नित्यानुवादः सन् अनर्थको भवति । किं क्रियतां, यस्यार्थो
नास्ति । प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोतीतिवचनं प्रयाजानां भविष्यति।
कथं पुनरत्र प्रयाजाश्च कृष्णलहोमश्च शक्यो वक्तुम् । भिद्यते हि

तथा वाक्यम् । एवं तर्हि न प्रयाजान् वक्ष्यति । प्रयाजे कृष्णलहोर्म विधास्यति । न चासत्सु प्रयाजेषु कृष्णलहोमः शक्यते कर्तुमित्य-
ऽर्थात् प्रयाजान् करिष्यति । तस्मान्न लिङ्गेन वैदिक्या निबन्धः ।
यथोक्तेन न्यायेन लौकिकीतिकर्त्तव्यतेति ॥ ५ ॥

मिथो विप्रतिषेधाच्च गुणानां यथार्थकल्पना स्यात् ॥६॥

तच्चाह । अथ कस्मान्नोमे अपि इतिकर्त्तव्यते सह प्रवर्त्तते इति ।
किमेवं भविष्यति । एवं तुल्यापेक्षा कर्मणामन्यतरतो न बाधिता
भवति । उच्यते । सह प्रवृत्तौ एकया चेत् कर्मनिरपेक्षं कृतं, द्विती-
यस्याः प्रवृत्तिर्विप्रतिषेद्धा । अतो मिथः प्रवृत्तेर्विप्रतिषेधाद् यथार्थ-
कल्पना स्यात् । एकस्याः प्रवृत्तिः स्यादित्यर्थः । कथमेकस्याः प्रवृत्ते-
र्धर्माणां यथार्थकल्पना भवति । ये धर्मा येषु कार्याण्यु प्रकृतौ उत्पन्ना-
स्ते इहापि तेष्वेव भवन्ति । इतरथा द्वितीयस्या धर्मा अयथार्थाः
भवेयुः पूर्वधर्मैः । तेषां कार्याणां निर्वर्त्तितत्वात् । एवमेकस्याः
प्रवृत्तेर्यथार्थकल्पना भवति । अतो यथार्थकल्पना स्यादित्यनेन एक-
स्याः प्रवृत्तिरित्युक्तं भवेत् । एकस्याः प्रवृत्तौ यथोक्तेनैव न्यायेन
लौकिक्याः प्रवृत्तिरिति ॥ ६ ॥ आ० ॥

**भागित्वात्तु नियम्येत गुणानामभिधानत्वात्सम्बन्धा-
दभिधानवद् यथा धेनुः किशोरेण ॥ ७ ॥**

तुशब्दः पक्षनिवृत्तौ । न त्वेवं स्यात्, लौकिकी इतिकर्त्तव्यतेति ।
किन्तर्हि वैदिकी नियम्येत । कुतः । भागित्वात् । वैदिकी अपि भा-
गिनी प्रवृत्तिः । साऽपि हि अपूर्वस्य इतिकर्त्तव्यता । समाने च भा-
गित्वे उभयोर्वैदिकी एव स्यात् । गुणानामभिधानत्वात् । गुणा एते
प्रयाजादयः सौर्यादिषु दृश्यमाना अभिधायका भवन्त्येतस्यार्थस्य ।
यथा वैदिकी अत्रैतिकर्त्तव्यतेति बोधका भवन्तीत्यर्थः ॥

कस्मात् ? । सम्बन्धात् । एते हि तथैतिकर्त्तव्यतया सम्बन्धाः ।
अतः साहचर्यात् तां गमयन्ति । अभिधानवत् । यथा कौण्डपायि-
नामयने अग्निहोत्रमित्यभिधानं कर्मणो वाचकम् । तत् कर्म सह-
चरितान् धर्मानानयति । तेष्वसत्सु एतदभिधानमिह न युज्यते इति
तेषां धर्माणां तत्र भावो विज्ञायते । एवम् इहाऽपि प्रयाजादीनां

दर्शनमसत्यां वैदिक्यां न युज्यते इति, तस्या अपीह भावो विज्ञा-
स्यते । नन्वसति न्याये लिङ्गमकारणम् । सत्यमेवम् । उक्तस्तु न्यायो
भागित्वादिति । यत्तु दृष्टप्रवृत्तिर्लौकिकीति । तत्र ब्रूमः । यद्यपि दृष्ट-
प्रवृत्तिः स्यात्, तथापि वैदिकी एव नियम्येत । कथम् । यथा धेनुः
किशोरेण । तद् यथा, कृष्णकिशोरा धेनुरिति । यद्यपि धेनुशब्दो
गोधेन्वां दृष्टप्रवृत्तिस्तथाप्यभिधानसामान्यादश्वधेन्वामपि भागीति
किशोरेण लिङ्गेन अश्वधेन्वां विज्ञायते । एवमिहापि यद्यपि लौकिकी
दृष्टप्रवृत्तिः, तथापि इतिकर्त्तव्यतासामान्येन भागित्वाल्लिङ्गेन वैदिकी
विज्ञेया ॥ ७ ॥ आ० नि० ॥

उत्पत्तीनां समत्वाद्वा यथाधिकारं भावः स्यात् ॥८॥

अथ वा नैव लिङ्गेन नियम इति । कुतः । उत्पत्तीनां समत्वात् ।
धर्माणां प्रयाजादीनामुत्पत्तयः समाः, सर्वेषामग्नेयाद्यङ्गभावेन, न
परस्पराङ्गत्वेन । किमतः । यदि प्रयाजादीनामनुयाजादयोऽङ्गानि
स्युस्ततो यत्र प्रधानं, तत्र अङ्गानीति प्रयाजदर्शनेन अनुयाजादयो-
ऽनुमीयेरन् । यदा तु समप्रधाना एते, तदा प्रयाजदर्शनेन कामं प्र-
याजा अनुमीयेरन्, प्रयाजधर्मा वा । न त्वनुयाजादयः । तस्मा-
ल्लिङ्गमनियामकम् । यत्तु, अभिधानवदिति । अत्र ब्रूमः । युक्तं तत्र ।
तत्र हि परशब्दः परत्र प्रयुक्तः सन् धर्मानतिदिशतीत्युक्तम् ॥ अपि
च, विधिरसौ । अग्निहोत्रवद्धोतव्यमिति । अयं पुनरनुवादः । तेनात्र
प्रयाजादीनामेव नास्ति प्राप्तिः, कुतोऽनुयाजादीनाम् । तस्माद् विषम
उपन्यासः, अभिधानवदिति । अतो यथाधिकारं भावः स्यात् । ये
धर्मा यस्यापूर्वस्याधिकारे आम्नातास्ते तत्रैव भवेयुः ॥ ८ ॥

एवं तर्हि, सौख्यं चरुं निर्वपेदित्यनेनाख्यातेन प्रधानस्य विधानो-
त्पत्तिः, शेषाणां च वचनं भवतु । कथं कृत्वा । न अनङ्गं प्रधानमुच्य-
मानं कस्मैचित् प्रयोजनाय कल्पते इति । तेन च प्रापितानामङ्गाना-
मेतेभ्यो लिङ्गेभ्यो विशेषावधारणं भविष्यति । तत्रेदमुच्यते—

उत्पत्तिशेषवचनं च विप्रतिषिद्धमेकस्मिन् ॥ ९ ॥

एकस्मिन् शब्दे प्रधानस्योत्पत्तिरङ्गानां च वचनं न सम्भव-
ति । किङ्करणम् । उत्पन्नं हि प्रधानमङ्गानपेक्षते । अपेक्षया च तानि
पृथक्पन्ते । तस्मान्नैतदपि युक्तम् । यदि च निर्वपेदित्यनेन शब्देन

अङ्गान्यपि विधीयेरस्ततस्तेषामपि फलसम्बन्धः स्यात् । तथा अङ्गत्वमेव व्याहन्येत । ततोऽयमपि वादो न घटते । तस्माद् यथोक्तो लौकिक एवाभ्युपायः ॥ ९ ॥ आ० ॥

विध्यन्तो वा प्रकृतिवच्चोदनायां प्रवर्त्तन्त तथा हि
लिङ्गदर्शनम् ॥ १० ॥

विध्यन्तो वा सौर्यादिकायां चोदनायां प्रवर्त्तन्त, न धर्मा लौकिकाः । कः पुनरयं विध्यन्तो नाम । विधेरन्तो विध्यन्तः । अथ विधिः कः । यद् वाक्यमुपलभ्य, पुरुषः कस्मिंश्चिदर्थे प्रवर्त्तते, कुतश्चिद् वा निवर्त्तते स विधिः । विधीयते ह्यनेनार्यः । यथा लोके, देवदत्त गामभ्याज, शुक्लामिति । तस्य अभ्याजेत्यादिः । इतरोऽन्तः । वेदेऽपि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतेति विध्यादिः । विध्यन्तोऽपि प्रधानविधिवर्जितं कृत्स्नं पौरोडाशिकं ब्राह्मणम् । तेन समेतोऽयं विध्यादिर्विशिष्टापूर्वनिर्घृष्टिं प्रति पुरुषं प्रवर्त्तयति । तस्मात् सोऽस्यान्तः । तथा, सोमेन यजेतेति विध्यादिः । सौमिकमपि ब्राह्मणं विध्यन्तः । एष विध्यन्तो नाम । एतेषु च सौर्यादिषु विध्यादिरस्ति, विध्यन्तो नास्ति । एतेष्वपि स विध्यन्तः कल्प्येत । कथं कृत्वा । अपरिपूर्णं यद् वाक्यं, तद् अभ्याहारेण वा पूर्येत, व्यवहितकल्पनया वा । तत्राभ्याहाराद् व्यवहितकल्पना ज्यायसी । अभ्याहारे हि अभ्युतः कल्प्येत । इतरत्र ध्युतेन सम्बन्धः । तस्माद् व्यवहितो ब्राह्मणावयवोऽस्य परिपूरकः कल्प्यते । यथा, वसन्ताय कपिञ्जलानालभते, ग्रीष्माय कलविड्ढुगानालभते इति । तेन वैदिकी इतिकर्त्तव्यता प्राप्यते ॥ यदि तद् ब्राह्मणमस्यान्तः कल्प्यते, तत्र न भवति । तदेतन्मयूरनृत्यमापद्यते । तद् यथा मयूरस्य नृत्यतोऽन्यदपात्रियतेऽन्यत् संत्रियते । एवमिहापीदं संत्रियते तदपात्रियते । नैष दोषः । प्रत्यक्षस्तस्य तत्र भावः । इह पुनरानुमानिकः । न चानुमानिकं प्रत्यक्षं बाधते । इह तर्हि न प्राप्नोति । प्रत्यक्षविरोधात् । स्यादेवं, यदि विरोधः स्यात् । न त्वास्ति विरोधः । तथापि भविष्यति, इहापि तदेतदुक्तं, विध्यन्तो वा प्रकृतिवच्चोदनायां प्रवर्त्तन्तेति ॥ उच्यते । प्रकृतिवदिति किम् । आह । अष्टमे प्रकृतिनियमं करिष्यति । इमनस्य प्रकृतिरिति । तदुच्यते, विध्यन्तो वा प्रकृतेरिव प्रवर्त्तन्त । या या तस्य कर्मणः प्रकृतिरिति

यस्याग्नेयः प्रकृतिस्रस्याग्नेयादेव । यस्याग्नीषोमीयस्रस्याग्नीषोमीया-
दित्येवं सर्वत्र ॥

अथ कस्मात् लौकिको विध्यन्तः कल्प्यते । उच्यते । लौकि-
कस्य विधेरभावाद् विध्यन्त एव नास्ति । कुतस्तत्कल्पनेति । आह ।
लौकिकी इतिकर्त्तव्यता प्राप्यतां, किं विध्यन्तकल्पनयेति । उच्यते ।
वैदिकी हि अत्रेतिकर्त्तव्यता, न लौकिकी । कस्मात् । तथा हि लिङ्ग-
दर्शनं प्रयाजादि समर्थितं भवति ॥ १० ॥ आ० नि० ॥

लिङ्गहेतुत्वादलिङ्गे लौकिकं स्यात् ॥ ११ ॥

यदि लिङ्गाद् वैदिकोऽभ्युपायो भवति, तेन तर्हि अलिङ्गे लौकिकं
स्यात् । यत्र कर्मणि किञ्चिल्लिङ्गं नास्ति, तत्र लौकिकं स्याद् विधान-
म् । यथा, ऐन्द्राग्नेकादशकपालं निर्घपेद् यस्य सजातावीयुरि-
ति ॥ ११ ॥ आ० ॥

लिङ्गस्य पूर्ववत्त्वाच्चोदनाशब्दसामान्यादेकेनापि
निरूप्येत यथा स्थालीपुलाकेन ॥ १२ ॥

अत्रोच्यते । स्यादेवं, यदि लिङ्गहेतुको वैदिक उपायः स्यात् ।
न त्वसौ लिङ्गहेतुकः । किंहेतुकस्तु । विध्यन्तहेतुकः । विध्यन्तोऽपि
न्यायपूर्वः । स च न्यायस्तुल्यः सर्वेषां कर्मणां वैकृतानां लिङ्गवतां
च । कुतः । चोदनाशब्दसामान्यात् । कर्मचोदनायां शब्दः समानः ।
सर्वत्र विध्यादिरस्ति, न विध्यन्तः । तुल्यश्च अपेक्षया अन्यत्र
श्रुतेन विध्यन्तेन सम्बन्धः । तदेतद् न्यायपूर्वकं लिङ्गमंकापि
दृश्यमानं, तुल्यन्यायानां सर्वेषां धर्मवत्तां ज्ञापयति । यथा स्थाल्यां
तुल्यपाकानां पुलाकानामेकमुपगृह्यान्वेषामपि सिद्धतां जानाति ।
तुल्यो हेतुरस्य चान्येषां च सिद्धत्वस्येति । तस्मात् सर्वत्र
वैदिकी इतिकर्त्तव्यता ॥ अथ यदुक्तं, दृष्टप्रवृत्तिलौकिकी इतिकर्त्त-
व्यतेति । अत्र ब्रूमः । सामान्यतो दृष्टमेतदुपदिश्यते । सामान्यतो
दृष्टं च यदव्यभिचारि, तत् प्रमाणम् । सव्यभिचारं चैतत् । दृष्टा हि
गणयागादयोऽनेवमितिकर्त्तव्यताकाः । तस्माद् दृष्टप्रवृत्तित्वादित्य-
हेतुः ॥ यत्तु वैदिक्या भागित्वात् तत्पूर्वकाणि लिङ्गानि भविष्यन्ती-
ति । अत्र ब्रूमः । भागित्वस्यापूर्वैतिकर्त्तव्यताकत्वं किल हेतुः । त-
द्भावश्च तस्याः शब्दपूर्वः । शब्देन च दर्शपूर्णमासयोरसौ विज्ञायते,

न सर्वत्रेति । तस्मान्न भागित्वम् । अतो विध्यन्तेनैवेतिकर्त्तव्यता प्राप्यते, नान्यथा । अथ कस्मादेतानि वैकृतानि वाक्यानि न्यूनान्येव नानुमन्यन्ते, किमेभिः पूरितैः ? । न्यूनानि अनर्थकानि भवन्ति । भवन्तु, को दोषः । शिष्टैरेषां सम्परिग्रहो न युज्यते । प्रमादाद् भविष्यतीति । नास्त्यऽक्षरे मात्रायां वा प्रमादः । कुत पतावति ग्रन्थे भविष्यति । कथम् । तुल्यं च साम्प्रदायिकम्- इत्युक्तम् । व्यामोहोऽपि विदुषां युगसहस्राणि बहूनि नानुवर्त्तत । युज्यते चैषामपेक्षया पूरणम् । तस्माद्नानि नानुमन्यन्ते । अतो वैदिकी इतिकर्त्तव्यतेति सिद्धम् ॥ १२ ॥ आ० नि० ॥ सौर्ये चरौ वैदिकेतिकर्त्तव्यताधिकरणम् ॥ २ ॥

द्वादशाहिकमहर्गणे तत्प्रकृतित्वादैकाहिकमधिका-

ऽऽगमात्तदाख्यं स्यादेकाहवत् ॥ १३ ॥

प्रजाकामा गवामयनम् उपेयुरिति सत्रं विधाय आम्नायते । ज्योतिर्गौरायुरिति । गवामयने द्वादशाहिको विध्यन्त इति वक्ष्यति । गणेषु द्वादशाहस्येति । तत्र चोदकेन द्वादशाहिका धर्माः प्राप्यन्ते । एकाहानामपि यथास्वं नामभिः प्रातिस्विकाः । ये तत्र द्वादशाहिका ऐकाहिकैरविरुद्धाः, ते यथाप्राप्तं क्रियन्ते । विरुद्धेषु संशयः । किं द्वादशाहिको धर्मः कर्त्तव्यः, उत ऐकाहिक इति । किं प्राप्तम् । तत्र सूत्रेणैवोपक्रमः । द्वादशाहिकमहर्गणे तत्प्रकृतित्वात् । द्वादशाहप्रकृतित्वाद् विध्यन्तेनैव प्राप्यन्ते ॥ नन्वेवं नामधेयं बाध्यते । न बाधिष्यते नामधेयं ज्योतिरादि । अधिकागमाद् भविष्यति । ये ज्यौतिष्टौमिकेभ्योऽधिकाः स्तोत्रशस्त्रविकारास्तदागमात् । एकाहवत् । यथा तस्मिन्नेव ज्योतिषि एकाहे ज्योतिःशब्दोऽधिकागमाद् भवति । सत्सु ज्यौतिष्टौमिकेषु ज्योतिष्टोमेऽभावात् । अधिकधर्माऽर्थोऽयं शब्दः । न चाधिकानां द्वादशाहिकैर्विरोधोऽस्ति । तस्माद् द्वादशाहिकं धर्मजातं विरुद्धं कर्त्तव्यमिति ॥

अधिकागमात्तदाख्यं स्यादेकाहवदित्येतस्यापरा व्याख्या । ये द्वादशाहे अधिका ऐकाहिकेभ्यः केचिद् धर्मा उच्यन्ते । अभिप्लवोऽन्वहं भवति, गोरिवीतमन्वहं भवतीति । तेषामधिकानामागमात् तदाख्यं स्यात् । एतद् द्वादशाहिकमहर्गणोतिराख्यमायुराख्यं वा ।

कथम् । एकाहवत् । यथा तस्मिन्नेवैकाहेऽयं ज्योतिरादिशब्दो ज्यो-
तिष्टौमिकेभ्योऽधिकेषु वैशेषिकेषु धर्मेषु आगतेषु भवति, एवमिहा-
ऽप्यधिकगमसामान्याद् गौणो भविष्यति । यथा षड्द्विकानां पृष्ठानां
भाषादेकाहो विश्वजित् षडह इत्युक्तम् । तमेकाहं षडह इत्याचक्षते
इति । एवमिहापि । गौणश्चेद् न प्रापकः । तस्मान्नास्ति नामधेया-
द्धर्मप्राप्तिरिति ॥ १३ ॥ पूर्व० ॥

लिङ्गाच्च ॥ १४ ॥

लिङ्गाच्चैतज्जायते, यथा द्वादशाहिकं कर्त्तव्यमिति । किं लिङ्गं
भवति । द्वाभ्यां लोमावद्यति द्वाभ्यां त्वचं द्वाभ्यामसृग् द्वाभ्यां मां-
समिति । एवं षड् द्विकाननुकम्याह । यद् द्वादशोपसदो भवन्ति,
आत्मानमेतन्निरवद्यते इति द्वादशाहिकं धर्मं द्वादशोपसत्त्वं दर्श-
यति । तदुपपद्यते । द्वादशाहिकं धर्मजातं विरोधि कर्त्तव्यम् । इत-
रथा च एकाहिकं पडुपसत्त्वं स्यात् । तस्मात् पश्यामो, द्वादशा-
हिकं कर्त्तव्यमिति । तथेदमपरं लिङ्गम् । यस्यातिरिक्तमेकादशि-
न्यामालभेरन् न प्रियं भ्रातृव्यमतिरिच्येत । अथ यद् द्वौ द्वौ पशू
समस्ययुः, कनीय आयुः कुर्वीरन् । यद्येते ब्राह्मणवन्तः पशव आल-
भन्ते न अप्रियं भ्रातृव्यमत्यतिरिच्येत न कनीय आयुः कुर्यीतेति,
एकादशिन्यां विहारं द्वादशाहिकं धर्मं दर्शयति । कथम् । विहारे
सति अतिरेकः पशूनामापद्यते । अतिरेकभयाच्च द्वयोर्द्वयोः समासः ।
एकाहधर्मप्राप्तौ विहारो न स्यात् । तत्रैतद्दर्शनं न युज्यते । तस्माद्
द्वादशाहिकं कार्यम् ॥ १४ ॥ युक्तिः ॥

न वा ऋत्वभिधानादधिकानामशब्दत्वम् ॥ १५ ॥

न वा द्वादशाहिकं कार्यम् । किं तर्हि । एकाहिकम् । किं कार-
णम् । चोदकं द्वादशाहिकं प्राप्नोति, नामधेयेन एकाहिकम् ।
नामधेयं च चोदकाद् बलीयः । कुतः । प्रत्यक्षत्वात् । प्रत्यक्षं नाम-
धेयं, चोदकं त्वानुमानिकम् । ननु विध्यन्तोऽपि प्रत्यक्षः । सत्यं प्र-
कृतौ प्रत्यक्षो विध्यन्तो, विकृतौ त्वानुमानिकः । नामधेयं पुनर्विकृ-
तावपि प्रत्यक्षम् । प्रत्यक्षं चानुमानाद् बलीयः । तस्मादैकाहिकं का-
र्यम् ॥ नन्वधिकार्यं नामधेयमित्युक्तम् । अत्रोच्यते, अधिकानाम-
शब्दत्वम् । अधिकानां शब्दो नास्ति । इमे ज्योतिरादयः शब्दाः

कर्मनामधेयानीत्युक्तम् । अपि वा नामधेयं स्याद्, यदुत्पत्ताद्यपूर्वम-
ऽविधायकत्वादिति । यत्तु, अधिकागमात्तदाख्यं स्यादिति । तत्र ब्रूमः ।
वचनादधिकागमो, न नामधेयेन । यत्तु, तेष्वसत्सु शब्दस्याभावा-
दिति । नैते कदाचिदायुरादिषु न सन्ति । कथं तेषामभावे शब्द-
स्याभावो दृष्टः । यत्तु, ज्योतिष्टोमे नास्ति ज्योतिरादिः शब्द इति ।
कर्मान्तरत्वात् । ज्योतिष्टोमे आयुरादिः शब्दो नास्ति, न धर्माभावात् ।
तस्मादैकाहिकं विरुद्धं धर्मजातं कर्त्तव्यमिति । अधिकागमात्
तदाख्यं स्यात् । एकाहवदित्येतस्य द्वितीयव्याख्यापरिहारः । गौणः
सन्ननुवादमात्रमनर्थकं स्यात् । तस्मात् पूर्वोक्तेन न्यायेन नामधेयं
धर्माणां प्रापकमिति ॥ १५ ॥ सि० ॥

लिङ्गं सङ्घातधर्मः स्यात्तदर्थपत्तेर्द्रव्यवत् ॥ १६ ॥

अथ यल्लिङ्गमुपदिष्टं, द्वादशोपसत्त्वदर्शनं, तस्य परिहार उच्य-
ते । लिङ्गं सङ्घातधर्मः स्यात् । लिङ्गमेतत् सङ्घातधर्मः स्यात् । द्वाद-
शाहोऽहःसङ्घातः । स फलाय चोद्यते । द्वादशाहमृद्धिकामा उपेयु-
रिति । गवामयनमपि अहःसङ्घातान्तरम् । तस्मिन्नेव कार्य्ये फल-
सिद्धौ विधीयते । तस्य तत्कार्य्यापत्त्या द्वादशाहधर्मान् गृह्णाति, न
चोदकेन । द्रव्यवत् । यथा द्रव्ये ब्रीहौ धर्माः श्रुतास्ते तत्कार्य्यापन्नेषु
प्रतिनिधिभूतेषु प्राप्यन्ते, न चोदकेन । तद्वत् ॥ १६ ॥ पूर्वपक्षलिङ्ग-
निरासे पूर्वपक्षः ॥

न वार्थधर्मत्वात् सङ्घातस्य गुणत्वात् ॥ १७ ॥

नैतद् युक्तम् । कुतः । अर्थधर्मत्वात् । अपूर्वधर्मत्वादित्यर्थः ।
अपूर्वधर्मो द्वादशोपसत्त्वं, न सङ्घातधर्मः । कस्मात् । सङ्घातस्य
गुणत्वात् । अहानि अत्र प्रधानानि । द्वादशाहेनेति द्वादशत्वं तेषां
गुणः । विशेषणमित्यर्थः । विशेष्ये एव कार्य्यं प्रतीयते, न विशेष-
णे । यथा राजपुरुष आनीयतामित्युक्ते पुरुष आनीयते, न राजा ।
यथा च, मृष्टं भुङ्क्ते देवदत्त इत्युक्ते, न शाकं सूपो वा प्रतीयते ।
यदेव प्रधानं तत् प्रतीयते । किमतः । अतोऽहानि फलवन्ति, न स-
ङ्घातः । फलवत्तश्च धर्माः । तस्मान्न द्वादशोपसत्त्वं सङ्घातधर्मः ।
एवञ्चेद् न गवामयने कार्य्यापत्तितो धर्माः प्राप्यन्ते । अतोऽपरिहारो-
ऽयम् ॥ १७ ॥ पूर्वपक्षलिङ्गनिरासे उत्तरपक्षः ॥

अर्थापत्तेर्द्रव्येषु धर्मलाभः स्यात् ॥ १८ ॥

यदुक्तं, द्रव्यवदिति । युक्तं द्रव्येषु । तत्र हि व्रीहिकार्यापन्ना
नीवाराः कार्यापत्तितस्तद्धर्माल्लभन्ते । इह पुनर्द्वादशोपसत्त्वं नैव
सङ्घातधर्म इत्यपदिष्टो हेतुः । तस्माददृष्टान्तो द्रव्यवदिति ॥ १८ ॥

आह । कथन्तर्हीदं लिङ्गदर्शनम् ? । अत्रोच्यते,

प्रवृत्त्या नियतस्य लिङ्गदर्शनम् ॥ १९ ॥

गवामयने द्वादशाहिकं प्रथममहः । प्रायणीयोऽतिरात्रः । तस्य
धर्मो द्वादशोपसत्त्वम् । तदुपादाने मुख्यस्यानुग्रहः । षडुपसत्त्वोपा-
दाने जघन्यानां ज्योतिरादीनां, मुख्यस्य प्राप्तकालमनुग्रहमतिक्रमितुं
किञ्चित् कार्यं नास्ति । अतस्तदनुग्रहार्थं द्वादशोपसत्त्वं भवति ।
तथा मुख्यया प्रवृत्त्या नियतस्यैतद्दर्शनं, न चोदकप्राप्त्या । यस्मा-
च्छोदको नामधेयादबलः । वक्ष्यति च, विप्रतिषिद्धधर्माणां समवाये
भूयसां स्यात् सधर्मत्वम् । मुख्यं वाऽपूर्वचोदनाल्लोकवदिति ॥ १९ ॥

अथ यद् द्वितीयं लिङ्गदर्शनमुक्तम्, एकाद्रशिन्यां विहारदर्शन-
म् । तत्रोच्यते—

विहारदर्शनं विशिष्टस्यानारभ्यवादानां प्रकृ-
त्यर्थत्वात् ॥ २० ॥

अनारभ्यैकाद्रशिन्यां विहारः शिष्टः । तदादिप्रभवाः पशवः
स्युः । तथा तानेवानूचीनान् अहरहरालभेरन्, आग्नेयमेव प्रथमे-
ऽहनि आलभेरन्, सारस्वतीं मेरीं द्वितीये, सौम्यं बभ्रुं तृतीये,
घारुणमन्ततः । अथ पुनः पथ्यावर्त्तेष्वग्नेयमेव प्रथमेऽहन्यालभेरन्,
सारस्वतीं मेरीं द्वितीये, सौम्यं बभ्रुं तृतीये, वारुणमन्तत इति । तद्
अनारभ्यवादानां प्रकृत्यर्थत्वाज्ज्योतिष्टोमं प्रविष्टम् । तत्राह्नां बहुत्य-
स्याभावादसम्भवादपरां प्रकृतिं द्वादशाहमागतम् । तत्रापि पुन-
ज्योतिरादीनां पथ्यावर्त्तेषु इत्येतद् न युज्यते इति तृतीयां प्रकृतिं
गवामयने प्रविष्टम् । एवमागतस्य एतद्दर्शनमिति ॥२०॥ पूर्वपक्षलिङ्ग-
निरासः ॥ गवामयने ऐकाहिकेतिकर्त्तव्यतानुष्ठानाधिकरणम् ॥ ३ ॥

इति श्रीशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये सप्तमस्याध्यायस्य

चतुर्थः पादः ॥ ७ ॥ ४ ॥ सम्पूर्णोऽयं

सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

अथ अष्टमस्य अध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ ८ ॥ १ ॥

अथ विशेषलक्षणम् ॥ १ ॥

एवं तावत् सप्तमेन अध्यायेन सामान्यतोऽतिदेशलक्षणमुक्तम् । अविहितधर्मकेष्वैन्द्राग्न्यादिषु कर्मसु विहितधर्मकेभ्यो दर्शपूर्णमासादिभ्यो धर्मा अतिदिश्यन्ते इति । तत्र चिन्ता भवति । किमेकस्मिन् कर्मणि सर्वकर्मसु धर्मातिदेशः, उतैकस्मादिति । अविशेषात् सर्वेभ्य इति प्राप्तम् । एकेन तु निराकाङ्क्षीकृते कर्मणि द्वितीयधर्मप्राप्तौ किञ्चित् कारणं नास्ति । सत्यम् । तदेव तु न ज्ञायते । कस्मिन् कस्येति । तदर्थं विशेषलक्षणं वक्तव्यमस्मिन्नस्येति । तदिदमध्यायादौ प्रतिज्ञायते । अथ विशेषलक्षणमिति । अथेदानीं वृत्तात् सामान्यातिदेशलक्षणादनन्तरं, विशेषलक्षणं वक्ष्यामः । तदुच्यमानं यथाकालं बोद्धव्यमिति ॥ १ ॥ प्रतिज्ञाधिकरणम् ॥ १ ॥

तदेतत् सङ्क्षेपेणैवोच्यते—

यस्य लिङ्गमर्थसंयोगादभिधानवत् ॥ २ ॥

यस्य वैदिकस्य विध्यन्तस्य लिङ्गं किञ्चित्, शब्दगतम् अर्थगतं वा वैकृत्यां कर्मचोदनायां, तद्गुणवाक्ये वा दृश्यते । तत्र स विध्यन्तः स्यात् । कुतः । अर्थसंयोगात् । तस्यार्थस्य लिङ्गस्य तेन विध्यन्तविशेषणेन संयोगोऽनुभूतपूर्वः । संयोगिनोश्चान्यतरो दृश्यमान उत्तरमदृश्यमानमप्यनुमानाद् बुद्धौ सन्निधापयति । अभिधानवत् । यथाऽग्निहोत्रमित्यभिधानं कौण्डपायिने ध्रूयमाणं नैयमिकाग्निहोत्रधर्मान् बुद्धौ सन्निधापयति । किमतोऽत्र । एतदतो भवति । अपूर्वं यद् वाक्यं, तत् पूरणसमर्थेन अवयवेन बुद्धौ सन्निहितेनैकवाक्यतां याति । यथा दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतेति विध्यादिः, कथमिति विध्यन्तापेक्षः । अग्न्यन्वाधानादिविधानकाण्डेन, पाठाद् बुद्धौ सन्निहितेन एकवाक्यतां याति । दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतेत्यमिति । एवं विध्यन्तापेक्षो यो वैकृतो विध्यादिः, सोऽपि वैदिकेन विध्यन्तेनानुमानाद्बुद्धौ सन्निहितेनैकवाक्यतां यास्यति । यथा सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकाम इति । तत्र कथमिति विध्यन्तापेक्षायामनेकविध्यन्तसन्निधापते असाधारणेन निर्वपति-शब्देन दार्शपौर्णमासिकविध्यन्तसंयोगिना लिङ्गेन तदीयो विध्यन्तः प्रसज्यते । तत्रापि

आग्नेयाद्यनेकापूर्वविध्यन्तप्रसङ्गे, एकदेवतात्वेन वा ओषधिना वा असाधारणेन लिङ्गेनाग्नेयविध्यन्तो नियम्यते । तदेतदेवं विज्ञायते । सौर्य्यं चरुं निर्वपेद् आग्नेयवत् । आग्नावैष्णवमेकादशकपालं निर्वपेद्ग्रीषोमीयवत् । सर्वत्रैवम् । प्रतिपदास्थाने तु गौरवं परिहरद्भि-
रुंसिकारैः सर्वसामान्यः शब्दः परिगृहीतः प्रकृतिवदिति । एवं यत्र सूक्ष्ममपि किञ्चित् सामान्यं, शब्दो वा अर्थो वा हविर्देवतादि तद्-
शुणा वा रूपादय उपलभ्येरन्, तत्र तदीयो विध्यन्तः कल्प्यः । तदे-
तत् संक्षेपेणात्रैव सर्वमुक्तम् । शिष्यहितार्थमुत्तरः प्रपञ्चः । श्लोकम-
प्युदाहरन्ति—

वितीर्य हि महज्जालमृषिः संक्षिप्य चाब्रवीत् ।

इष्टं हि विदुषां लोके समासव्यासधारणम्, इति ॥ २ ॥

सिद्धान्तः ॥ विशेषकर्मणो धर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ २ ॥

प्रवृत्तित्वादिष्टेः सोमे प्रवृत्तिः स्यात् ॥ ३ ॥

ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेति श्रूयन्ते । तत्र विध्यन्तं प्रति चिन्ता । कुतोऽस्मिन् विध्यन्तः स्यादिति । तदुच्यते । प्रवृत्तित्वा-
दिष्टेः सोमे प्रवृत्तिः स्यात् । दार्शपौर्णमासिको विध्यन्तः सोमं स्यात् । कुतः । प्रवृत्तित्वात् । दीक्षणीयादिषु इष्टिषु दार्शपौर्णमासिको वि-
ध्यन्तः प्रवृत्तः । दीक्षणीयायाम् आतिथ्यायां प्रायणीयायां पशौ च । तदनन्तरं सोमः । तत्रापि स एव प्रवृत्त्या विज्ञायते । यथा, देव-
दत्तो भोजयितव्यः, विष्णुमित्रो भोजयितव्यः, माठरः कौण्डिन्यो भारद्वाज इत्युत्तरेष्वपि भोजयितव्य इति प्रवृत्त्या अनुबद्ध्यते । त-
स्मादैष्टिकः सोमे विध्यन्तः ॥ ३ ॥ पूर्व० ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ४ ॥

तस्यैकशतं प्रयाजानुयाजा इति च ऐष्टिका धर्माः सोमे दृश्य-
न्ते । तस्माद्वास्मिन् ऐष्टिको विध्यन्तः ॥ ४ ॥ युक्तिः ॥

कृत्स्नविधानाद्वाऽपूर्वत्वम् ॥ ५ ॥

अपूर्वत्वमेव हि सोमे । स न कुतश्चिद् धर्मान् गृह्णाति । कुतः । कृत्स्नविधानात् । इतिकर्त्तव्यताविधेर्यजतेः पूर्वत्वम् उक्तम् । वि-
हितेतिकर्त्तव्यतश्चायम् । तस्मादपूर्वः ॥ ५ ॥ सि० ॥

स्रुगभिधारणाभावस्य च नित्यानुषादात् ॥ ६ ॥

सुगभिघारणस्य चाभावानुवादः सोमे भवति । घृतं वै देवावन्नं कृत्वा सोममघ्नन् स्रुचौ बाहू । तस्मात् स्रुचि सोमहविनांसाद्यते । न सोममाज्येनाभिघारयन्तीति । तदुपपद्यते । यद्यपूर्वः सोमः, अथ दर्शपूर्णमासप्रकृतिः स्यात् । आद्येनाभिघार्य्य सुगभ्यां ह्येत । तत्रैतद्दर्शनं नोपपद्यते तस्मादपूर्वः ॥ ६ ॥ युक्तिः ॥

विधिरितिचेत् ॥ ७ ॥

इतिचेत् पश्यसि, सुगभिघारणाभावानुवाददर्शनादपूर्वः सोम इति । अथ कस्माद्दर्शपूर्णमासप्रकृतित्वेन प्राप्तस्य स्तुगभिघारणस्य प्रतिषेधकाऽयं विधिर्न भवति ? इति स्थितायां प्रतिज्ञायां सूत्रेण परिच्छादयति ॥ ७ ॥ आ० ॥

न वाक्यशेषत्वात् ॥ ८ ॥

नायं विधिः । कस्मात् । वाक्यशेषत्वात् । अन्योऽत्र विधिराम्नातः । तदाह । अंशुरंशुस्ते देव सोमाप्यायतामिति । तस्य वाक्यशेषोऽयम् । कथं ज्ञायते । तेम आकाङ्क्षितत्वात् । अवधिपूर्वा एतत् सोमं यदभिपुण्वन्ति । यदस्य स्रुचौ बाहू कुर्वन्ति । यच्चाज्यमन्तिकमकार्षुः । यदाह, अंशुरंशुस्ते देव सोमाप्यायतामिति । यदेवास्यादातुः श्रुग्मश्रुग्स्तदाप्याययन्तीति । यद्ययमपि विधिः स्याद् वाक्यम्भिद्यत । तस्मान्न विधिः ॥ ८ ॥ आ० नि० ॥

शङ्कते चानुपोषणात् ॥ ९ ॥

सोमे शङ्कते, यदनुपोष्य प्रयायाद् श्रीववद्धमेनममुष्मिल्लोके नेनायेरन्निति । दार्शपौर्णमासिके विध्यन्ते सति, नियतमुपोषणं स्यात् । तदाऽनुपोषणाशङ्कानु न युज्यते । तस्मादपूर्वः ॥ ९ ॥

दर्शनमैष्टिकानां स्यात् ॥ १० ॥

यच्च प्रयाजानुयाजानां दर्शनं, लिङ्गत्वेनोपदिष्टं, तस्थैकशतं प्रयाजानुयाजा इति । तद् दीक्षणीयादीनां सोमाङ्गभूतानां कर्मणां ये प्रयाजानुयाजास्तेषां समुच्चयवचनम् । किं कारणम् । सोमस्याऽपूर्वत्वात् । तेषां च तावतां, तत्र भावात् । अङ्गाङ्गमपि च तस्येति शक्यते वक्तुम् । यथा वाजपेयस्य यूप इति । तस्मादपूर्वः सोमः ॥ १० ॥ आ० नि० ॥ सोमे ऐष्टिकधर्मानतिदेशाधिकरणम् ॥ ३ ॥

इष्टिषु दर्शपूर्णमासयोः प्रवृत्तिः स्यात् ॥ ११ ॥

इष्टय उदाहरणम्, ऐन्द्राग्नेमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकाम इत्येवमाद्याः । तत्र सन्देहः । किं दार्शपौर्णमासिको वा, सौमिको वा विध्यन्तः ? उत दार्शपौर्णमासिक एवेति । किं प्राप्तम् । अनियमः । दर्शपूर्णमासयोरपि विध्यन्तोऽस्ति सामेऽपि । इमाश्चेष्टयो विध्यन्ताऽपेक्षाः । एकेन च विध्यन्तेन भवितव्यमित्युक्तम् । न च गृह्यतेऽन्यतरनियमे विशेषः । तस्मादनियमः ॥

एवं प्राप्ते उच्यते । इष्टिषु दर्शपूर्णमासयोः प्रवृत्तिः । हेतुर्नोक्तः प्रज्ञात इति । कः पुनरसौ । चोदनायां प्रकृतिलिङ्गसंयोगः । किं पुनस्तत् प्रकृतिलिङ्गम् । तद्धितेन देवतोपदेशः कपालवत्ता निर्वपति-शब्दाश्च, ऐन्द्राग्नेमेकादशकपालं निर्वपेदिति । इतरत्रापि तथैव ऐन्द्राग्ने द्वादशकपाल इति । निर्वपतिरप्यग्निहोत्रहवण्या हवींषि निर्वपतीति । प्रकृतिलिङ्गेन च विध्यन्तविशेष उक्तः— यस्य लिङ्ग-मर्थसंयोगाद् इति । तस्माद् दार्शपौर्णमासिकस्तासु विध्यन्तः । तच्च दर्शयति प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोतीति । अलिङ्गास्वपि स्थालीपुलाकवत् सिद्धिः ॥ ११ ॥ ऐन्द्राग्नादौ ऐष्टिकधर्मातिदेशा-ऽधिकरणम् ॥ ४ ॥

पशौ च लिङ्गदर्शनात् ॥ १२ ॥

पशौ अग्नीषोमीये चिन्त्यते । किं दार्शपौर्णमासिको विध्यन्तः ? उत सौमिक इति । किं प्राप्तम् । तथैव पूर्वपक्षः । तत्रोत्तरमभिधी-यते । पशौ च लिङ्गदर्शनात् । पशौ च दार्शपौर्णमासिक एव विध्यन्तः । कुतः । लिङ्गदर्शनात् । एकादश प्रयाजान् एकादशानु-याजानिति । तथा सौम्यमाघार्य्य जुहा पशुमनकीति । ननु लिङ्गमप-दिष्टं, कुतः प्राप्तिः । चोदनासामान्यात् । किं सामान्यम् । व्यक्तचोदन-त्वम् । का व्यक्तिः । द्रव्यदेवतावत्ता, अग्नीषोमीयं पशुमिति । इत-रद् ऐन्द्रं पय इति । अव्यक्तचोदनस्तु सौमः ॥ १२ ॥ अग्नीषोमीय-पशौ दार्शपौर्णमासिकधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ ५ ॥

दैक्षस्य चेतरेषु ॥ १३ ॥

इह पशुबन्धा उदाहरणम् । सवनीयो निरूढः पशुः, सौम्या-दयश्च । तेषु किं दार्शपौर्णमासिको विध्यन्त, उत दैक्षस्येति । दैक्ष इत्यग्नीषोमीय उच्यते । दीक्षासम्बन्धात् । किं प्राप्तम् । यथोक्तेन

न्यायेन दार्शपौर्णमासिक इति । तथा प्राप्ते उच्यते । दैक्षस्य चेतरेषु पशुषु सवनीयादिष्वग्नीषोमीयस्य विध्यन्तः । आलभतिचोदनासामान्यात्, पशुत्वचोदनासामान्याच्च । तच्च दर्शयति— वषया प्रातः-सवने चरन्ति, पुरोडाशेन मध्यन्दिनेऽङ्गैस्तृतीयसवने इति वषा-पुरोडाशाङ्गप्रचारं दर्शयति । भेदेन च तथा कश्चिद्, औत्तुम्बरो यूषो भवतीति यूषं दर्शयति । तस्मादग्नीषोमीयः पशूनां प्रकृतिः ॥ १३ ॥ सवनीयादिपशौ अग्नीषोमीयधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ ६ ॥

ऐकादशनेषु सौत्यस्य द्वैरशन्यस्य दर्शनात् ॥ १४ ॥

ऐकादशिनाः पशव उदाहरणम् । कृष्णशीर्षा आग्नेय इत्या-रभ्य आम्नाताः । अन्येषां च आग्नेयेन वापयति, मिथुनं सारस्वत्या करांति, प्रजनयति सौम्येनेति । तेषु सन्देहः । किमग्नीषोमीयविध्यन्तः, उत सवनीयविध्यन्त इति । किं प्राप्तम् । पूर्वोक्तेन न्यायना-ऽग्नीषोमीयस्य ॥

इति प्राप्ते उच्यते । ऐकादशनेषु सौत्यस्य । सौत्य इति सुत्या-कालत्वात् सवनीयमाहुः । तदीयो विध्यन्त ऐकादशनेषु । कुतः । द्वैरशन्यस्य दर्शनात् । अग्निष्ठा द्वे द्वे रशने आदाय द्वाभ्यां रशना-भ्यामेकैकं यूषं परिव्ययतीति । अग्नीषोमीयप्रकृतित्वे ऐकैकरशन्यं स्यात् ॥ अथ वचनमिदं कस्मान्न भवति । अग्निष्ठा द्वे द्वे रशने आदाये-त्येतदत्र विधीयते । यदि रशनाद्वित्वमपि विधीयते, तदा वाक्यं भिद्यते । तस्मात् तदनूद्यते । ननु लिङ्गमपदिष्टं, कुतः प्राप्तिः । उच्य-ते । समाने पशुत्वे सुत्याकालता वैशेषिकं लिङ्गम् । ततः प्राप्तिः ॥ ॥ १४ ॥ ऐकादशिनपशौ सवनधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ ७ ॥

तत्प्रवृत्तिर्गणेषु स्यात् प्रतिपशु यूषदर्शनात् ॥ १५ ॥

इह पशुगणा उदाहरणम् । वसन्ते ललामांस्त्रीन् वृषभानालभते । तथा, मैत्रं श्वेतमालभेत, वारुणं कृष्णमपां च ओषधीनां च सन्धौ अन्नकाम इति । तत्र विचार्यते । किमग्नीषोमीयस्य विध्यन्तः, उत ऐकादशिनानामिति । यथोक्तेन न्यायेनाग्नीषोमीयस्य ॥

एवं प्राप्ते उच्यते । तत्प्रवृत्तिर्गणेषु स्यात् । तेषामैकादशिनानां प्रवृत्तिः पशुगणेषु स्यात् । कुतः । प्रतिपशु यूषदर्शनात् । यत् त्रिषु यूषेषु आलभेत षड्विद्धाऽस्मादिन्द्रीयं वीर्यं दध्यात्, भ्रातृव्यमस्य

जनयेदेकयूप आलभेतेति यूपत्रित्वं प्रतिषिद्धौकं यूपं सौत्रामण्यां विदधाति । तदुपपद्यते, यदि ऐकादशिनविध्यन्तः । तत्र हि पशुयूपाः । अग्नीषोमीयप्रकृतित्वे एक एव यूपः स्यात् । तत्रैतन्नोपपद्यते । तस्मादैकादशिनानां विध्यन्तः पशुगणेषु ॥ १५ ॥ पशुगणेषु ऐकादशिनधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ ८ ॥

अव्यक्तासु तु सोमस्य ॥ १६ ॥

इदं श्रूयते, अभिजिना यजेतेति । एवञ्जातीयका यजतयः । तेषु विध्यन्तचिन्ता । किमेषु सौमिको विध्यन्तः, उत दार्शपौर्णमासिक इति । अविशेषादनियमं प्राप्ते । उच्यते । अव्यक्तासु तु सोमस्य । का अव्यक्तता । द्रव्यदेवतस्याभावः । द्रव्यदेवतेन हि यागोऽभिव्यज्यते । एताश्चाद्रव्यदेवताश्चोदनाः । अभिजिता यजेतेति । एतासु अव्यक्तासु सौमिको विध्यन्तः स्यात् । कुतः । अव्यक्तसामान्यात् । सोमोऽप्यव्यक्तचोदनः । ज्योतिष्टोमेन यजेतेति । ननु सोमेन यजेतेत्येपा व्यक्तचोदना । तथापि देवताया अभावाद्रव्यक्तता । तथा च, दूणाशेन यजेतेत्यव्यक्तचोदिते, दीक्षणीयादीनि सोमाङ्गानि दर्शयति दीक्षणीयायां द्वादशमानं हिरण्यं दक्षिणा । चतुर्विंशतिमानं प्रायणीयायामिति । तस्मात् तासु सौमिको विध्यन्तः ॥ १६ ॥ अव्यक्तयजतौ सौमिकधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ ९ ॥

गणेषु द्वादशाहस्य ॥ १७ ॥

इह अहर्गणा उदाहरणम्, द्विरात्रादयः शतरात्रपर्यन्ताः । तेषु सन्देहः । किं ज्योतिष्टोमिको विध्यन्तः, उत द्वादशाहिक इति । पूर्वेण न्यायेन सौमिके प्राप्ते, उच्यते । गणेषु द्वादशाहिको विध्यन्त इति । कुतः । चोदनासामान्यात् । द्वादशाहेन यजेत, द्विरात्रेण यजेतेति । अहःशब्दोऽप्यहोरात्रवचनः । रात्रिशब्दोऽपि । एतच्छब्दगतं लिङ्गम् । अर्थगतमपि गणत्वम् । गण एव सङ्गतधर्मैर्गणमनुग्रहीतुं समर्थो, नैकाहः । द्वाभ्यां लोमावद्यति द्वाभ्यां मांसमिति च । एतद्वारभ्य द्वादशोपसत्त्वं द्वादशाहिकं धर्मं गवामयने दर्शयति । तस्माद्दहर्गणानां द्वादशाहः प्रकृतिः ॥ १७ ॥ अहर्गणेषु द्वादशाहिकधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ १० ॥

गव्यस्य च तदादिषु ॥ १८ ॥

इह संवत्सरसत्राण्युदाहरणम्, आदित्यानामयनप्रभृतीनि । तेषु चिन्त्यते किं द्वादशाहिको विध्यन्तः, उत गवामयनिक इति । पूर्वा-
केन न्यायेन द्वादशाहिके प्राप्तेऽभिधीयते । गव्यस्य च तदादिषु ।
गव्यमिति, गवामयनं ब्रूमः । गोसम्बन्धात् । गावो वा एतत् सत्रमा-
सत इति । तस्य विध्यन्तस्तदादिषु संवत्सरसत्रेषु स्यात् । कुतः ।
संवत्सरसामान्यात् । पत्नय उपगायन्तीति च महाव्रतिकं धर्मं सं-
वत्सरसत्रे दर्शयति । ऋत्विज उपगायन्तीति च सहस्रसंवत्सरे ॥१८॥
संवत्सरसत्रेषु गवामयनिकधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ ११ ॥

निकायिनाञ्च पूर्वस्योत्तरेषु प्रवृत्तिः स्यात् ॥ १९ ॥

निकाय- इति सङ्घात औत्तराध्यर्षेणावस्थित उच्यते । स एषां,
ते निकायिनः । यथा साहस्राः साद्यस्काः । तेषां पूर्वस्य केचिद्
धर्मा आम्नाताः । उत्तरे त्वधर्मकाः । तत्र चिन्त्यते किं ज्योतिष्टोम-
स्य विध्यन्तः, उत प्रथमस्य निकायिन इति । अव्यक्तचोदनत्वा-
ज्ज्योतिष्टोमस्य ॥ इति प्राप्ते, उच्यते । निकायिनां च पूर्वस्यांत्तरेषु
प्रवृत्तिः स्यात् । कुतः । निकायित्वसामान्यात् । साहस्राणां साहस्र-
सामान्यात् । साद्यस्काणां साद्यस्क्रधर्मसामान्यात् । एवं सर्वत्र
पूर्वस्मिञ्च साहस्रे सहस्रं दक्षिणामाम्नायोत्तरस्मिन् दर्शयति । याव-
दस्य साहस्रस्योत्तरा गौः समाहिता भवति, तावदस्माल्लोकादसौ
लोक इति । तथा पूर्वस्मिन् साद्यस्के साण्डस्त्रिसंवत्सरः सामक्रयणः
स्पर्द्धमानानामित्याम्नाये उत्तरस्मिन्नपि तमेव दर्शयति । स्त्री गौः साम-
क्रयणी व्यावृत्ता हि एषां स्पर्द्धिता इति । तस्मात् पूर्वस्योत्तरेषु धर्माः
॥ १९ ॥ निकायिनामुत्तरेषु पूर्वनिकायधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ १२ ॥

कर्मणस्त्वप्रवृत्तित्वात् फलनियमकर्तृसमुदाय-

स्थानन्वयस्तद्वन्धनत्वात् ॥ २० ॥

इह फलनियमकर्तृसमुदाया उदाहरणम् । फलं स्वर्गः, नियमो
यावज्जीविकोऽभ्यासः, कर्त्ता स्वर्गकामः, समुदायो दर्शपूर्णमासावि-
ति । तत्र चिन्त्यते किं फलनियमकर्तृसमुदायानां सौर्यादिषु प्रवृत्तिः,
न? इति । किं प्राप्तम् । इष्टिषु दर्शपूर्णमासयोः स्याद्-इत्यनेन न्यायेन
प्रवृत्तिरिति प्राप्तम् । तथा प्राप्ते उच्यते । फलनियमकर्तृसमुदाय-
स्याप्रवृत्तिः । कुतः । कर्मणोऽप्रवृत्तित्वात् तद्वन्धनत्वाच्च फलादीनां

कर्म तावन्न प्रवर्त्तते । किङ्कारणम् । विध्यन्तेन धर्माः प्रवर्त्तन्ते । न च कर्म विध्यन्तविहितं, विध्यादिविहितं तत् । तस्मान्न प्रवर्त्तते । तस्याऽप्रवृत्तित्वात् फलनियमकर्तृसमुदायस्यानन्वयोऽप्रवृत्तिरित्यर्थः । कुतः ? । तद्वन्धनत्वात् । फलं तावत् । दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतेति । दर्शपूर्णमाससंयुक्तं श्रुतम् । तद् यत्र दर्शपूर्णमासौ, तत्र भवितुमर्हति । न च सौर्यादिषु तौ स्तः । अतः स्वर्गस्यापि तत्राभावः । एवं नियमोऽपि कर्मबन्धनः । यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतेति । स दर्शपूर्णमासाभावे कथं स्यात् । तथा कर्त्ता कर्मबन्धनः । दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकाम इति । सोऽपि कथं तयोरसतोः स्यात् । समुदायोऽप्याग्नेयादीनाम् । तानि सौर्यादिषु न मन्तीति तत्समुदायः कथं तत्र भवेत् । तस्मात् तेषामप्रवृत्तिः ॥२०॥ सि०

प्रवृत्तौ चापि तादर्थ्यात् ॥ २१ ॥

अपि च धर्माणां प्रवृत्तिः कर्मार्था, कर्मण उपकर्तुम् । न च फलादीनि कर्मण उपकुर्वन्ति । फलं तावत् पुरुषस्यापकरोति, न कर्मणः । उक्तं हि, फलं च पुरुषार्थत्वादिति । नियमोऽपिनकर्मधर्मः । कर्तृधर्मोऽस्मावित्युक्तम् । कर्तुर्वा श्रुतिसंयोगाद् इति । तथा कर्त्ता स्वर्गकामो, न कर्मार्थः । कर्म स्वर्गकामार्थम्, न हि स्वर्गकामः कर्मण उपदिश्यते । स्वर्गकामो यजेतेति । किं तर्हि । कर्म स्वर्गकामस्योपदिश्यते । स्वर्गकामो यजेत, नान्यत् कुर्यादिति । तथा समुदायो न कर्मार्थः । फलार्थोऽसौ, दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेति । एवमतेषां कर्मणोऽनुपकारकत्वात्, प्रवृत्तिरनर्थिका स्यात् । तस्मान्न प्रवर्त्तेरन् ॥ २१ ॥ युक्तिः ॥

अश्रुतित्वाच्च ॥ २२ ॥

अत्राह । यदि दर्शपूर्णमाससंयोगात् फलादीनामप्रवृत्तिः, प्रयाजादीनामपि तत्सम्बन्धाद्प्रवृत्तिः प्राप्ता । तान्यपि हि तत्संयुक्तानीति । उच्यते । यद्यपि तानि दर्शपूर्णमासयोः श्रुतानि, विध्यन्तेन तु सौर्यादिष्वप्यतिदिष्टानि । फलादीनि तु न विध्यन्तेनातिदिश्यन्ते । तेषां यदि प्रत्यक्षा प्रवर्त्तिका श्रुतिः स्यात्, ततः प्रवर्त्तेरन् । न चासावस्ति । तस्मादश्रुतित्वाच्च प्रवर्त्तन्ते ॥ २२ ॥ आ० नि० ॥ फलादीनामनतिदेशाधिकरणम् ॥ १३ ॥

गुणकामेष्वश्रितत्वात् प्रवृत्तिः स्यात् ॥ २३ ॥

इह गुणकामा उदाहरणं- गोदोहनेन प्रणयेत् पशुकामस्य, उपास्मै गायता नर इति, प्रामकामाय प्रतिपदं कुर्यादित्येवमादयः । तत्र विचार्यन्ते । किं गुणकामानां वैकृतेषु प्रवृत्तिः, उत नेति । ततः सूत्रेणैषोपक्रमः । गुणकामेष्वश्रितत्वात् प्रवृत्तिः स्यात् । प्रवृत्तिर्गुणकामानाम् । कुतः । आश्रितत्वात् । गोदोहनं प्रणयनाश्रितं गोदोहनेन प्रणयेदिति । तच्च प्रणयनं प्रवर्त्तते । आश्रये च प्रवर्त्तमाने तदाश्रितमपि प्रवर्त्तते । यथापटे आकृष्यमाणे तदाश्रितं चित्रमप्याकृष्यते । यथा च चमसः प्रवर्त्तते । यथा च, खादिरं वीर्यकामाय यूपं कुर्यादिति । एवं गोदोहनमपि प्रवर्त्तते । गोदोहने च प्रवर्त्तमाने तदाश्रितः कामोऽपि प्रवर्त्तितुमर्हति । तस्माद् गुणकामानां प्रवृत्तिः ॥ २३ ॥ पूर्व० ॥

निवृत्तिर्वा कर्मभेदात् ॥ २४ ॥

निवृत्तिर्वा गुणकामानामप्रवृत्तिः । कुतः । कर्मभेदात् । कार्यभेदादित्यर्थः । अन्यत् कार्यं गोदोहनस्य, अन्यच्चमसस्य । चमसः क्रत्वर्थो, गोदोहनं तु पुरुषार्थः । तदुक्तं— यस्मिन् प्रीतिः पुरुषस्य तस्य लिप्साऽर्थलक्षणाऽविभक्तत्वादित्यत्र । अक्रत्वर्थः किमर्थं प्रवर्त्तते । क्रतूपकाराय हि तस्य प्रवृत्तिः । एवं प्रतिपदः । तस्मान्न प्रवर्त्तेरन् गुणकामाः ॥ २४ ॥ सि० ॥

यत्तूपन्यस्तं, यथा खादिरं वीर्यकामाय यूपं कुर्यादित्यत्र प्रवृत्तिरेवमत्रापीति । तत्र श्रुमः—

अपि वाऽतद्विकारत्वात् क्रत्वर्थत्वात् प्रवृत्तिः
स्यात् ॥ २५ ॥

अपि वा, एवंविधेषु प्रवृत्तिः स्यात् । कुतः । अतद्विकारत्वात् । न खादिरः क्रत्वर्थविकारः । अयमपि क्रत्वर्थ एव । तदुक्तम्— एकस्य तूभयत्वे संयोगपृथक्त्वमिति । क्रत्वर्थश्चेत् पलाशवत् प्रवर्त्तते । तस्मिंश्च प्रवर्त्तमानं तदाश्रितः कामोऽपि प्रवर्त्तते । खादिरेण हि स स्तिङ्गति । स च खादिरोऽस्ति । तस्मात् कामं साधयिष्यति ॥ २५ ॥ पूर्वपक्षयुक्तिनिरासः ॥ ॥ गुणकामानां गोदोहनादीनामनतिदेशाऽधिकरणम् ॥ १४ ॥

एककर्मणि विकल्पोऽविभागो हि चोदनैकत्वात् ॥ २६ ॥

सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकाम इति भूयते । अस्ति तु प्रकृ-
त्तावभिमर्शनद्वयं, चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत्, पञ्चहोत्राऽमावा-
स्यामिति । तदिह चोदकेन प्राप्यते । तत्र संशयः । किं सौर्यो यदा
पौर्णमास्यां प्रयुज्यते तदा चतुर्होत्राऽभिघ्नष्टव्यः, यदाऽमावास्यायां
तदा पञ्चहोत्रा ? उतोभयत्र विकल्पः । चतुर्होत्रा वा पञ्चहोत्रा वा ?
इति । किं प्राप्तम् । व्यवस्थेति । कुतः । चोदकानुग्रहात् प्रकृतौ व्य-
वस्था कृता । इहापि चोदको व्यवस्थां प्रापयति ॥

एवं प्राप्ते उच्यते । एकस्मिन् कर्मण्यत्र सौर्यविकल्पः । कुतः ।
अविभागो हि चोदनैकत्वात् एकैषा चोदना । सौर्यं चरुं निर्वपेद्
ब्रह्मवर्चसकाम इति । तत्राविभागो भवतु । उभावप्यभिमर्शने प्रा-
प्येते । तयोरकार्यत्वात् समुच्चयो न सम्भवति । तस्माद् विकल्पः ।
यत्तु, प्रकृतौ व्यवस्थेति । नासौ कालकृता । किं तर्हि ? समुदायकृता ।
न च सौर्यं तौ समुदायौ स्तः ॥ यद्येवमभिमर्शनमेव तर्हि न प्राप्नो-
ति । तयोः समुदाययोरभावादिति । अत्रोच्यते । न प्राप्नोति । यदि
समुदाययोरभिमर्शनमुच्येत । तयोस्त्वनभिघ्नष्टव्यत्वात् समुदायि-
नां तदुच्यते लक्षणया । समुदायिविकारश्च सौर्यः । तस्मात् तत्रा-
पि चोदकः प्रापयति तत् ॥ २६ ॥ ॥ सौर्यं चरावभिमर्शनद्वयस्य
विकल्पाधिकरणम् ॥ १५ ॥

लिङ्गसाधारण्याद्विकल्पः स्यात् ॥ २७ ॥

सौर्यं कर्मणि दार्शपौर्णमासिको विध्यन्त इत्युक्तम्— इष्टेषु
दर्शपूर्णमासयोः प्रवृत्तिरिति । सन्ति तु तत्र कर्माणि आग्नेयादीनि ।
तत्र विचारः । किं यस्य कस्यचिद् दार्शपौर्णमासिकस्य कर्मणः सौ-
र्यं विध्यन्तः, उताग्नेयस्येति । किं प्राप्तम् । विकल्पः । कुतः । लिङ्ग-
साधारण्यात् । सौर्यं दार्शपौर्णमासिकविध्यन्तप्राप्तौ यल्लिङ्गमुपदिष्टं,
प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोतीति तत् साधारणं सर्वेषां विध्यन्ते स-
म्भवति । न च समुच्चयः तस्माद् विकल्पः ॥ २७ ॥ पूर्व० ॥

ऐकार्थ्याद्वा नियम्येत पूर्ववत्त्वाद् विकारो हि ॥२८॥

आग्नेयस्य विध्यन्तो नियम्येत । कुतः । ऐकार्थ्यात् । एकदेवत-
त्वादित्यर्थः । आग्नेय एकदेवत्यः । सौर्योऽपि । तेनैकदेवतत्वेन
लिङ्गेन आग्नेयविध्यन्तो नियम्येत । पूर्ववत्त्वात् । पूर्ववानग्रं सौर्यः ।

पूर्वत्राभिहितं विध्यन्तमपेक्षते । विकारो हि । विकृतिरेषा । सर्वा-
श्च विकृतयः पूर्ववत्यः । चोदनावाक्यानामसमाप्तत्वात् । तत्र लिङ्गेन
विध्यन्तनियमो भवतीत्युक्तम् । अस्तिचैकदेवतत्वं लिङ्गम् । तेनाग्नेय-
विध्यन्तः ॥ २८ ॥ सि० ॥

अश्रुतित्वान्नेतिचेत् ॥ २९ ॥

अत्राह । स्यादेतदेवं, यद्यत्रैकत्वं श्रूयते । न तु श्रूयते । कथम् ।
तद्धितेनायं निर्देशः । सौर्यमिति, तथा आग्नेयमिति । तत्र वचन-
शक्तिर्न ज्ञायते, किं सूर्यो देवता अस्य, उत सूर्यो च सूर्याश्चेति ।
तथा आग्नेयेऽपि ॥ २९ ॥ आ० ॥

स्याल्लिङ्गभावात् ॥ ३० ॥

स्याद् व्यवर्षित्तिरेकत्वस्य । कुतः । लिङ्गभावात् । लिङ्गमत्रान्नि ।
किम् । वाक्यशेषे एकत्वं श्रूयते, सौर्ये तावदमुमेव आदित्यं स्वेन
भागधेयेनोपधावति, स एवैनं ब्रह्मवर्चसङ्गमयतीति । आग्नेयेऽपि,
अङ्गिरसो वा इत उक्तम्नाः स्वर्गमायंस्ते यज्ञवास्त्वभ्यायंस्ते पुरोडाशं
कूर्मं भूत्वा प्रसर्पन्तमपश्यंस्तमब्रुवन् इन्द्राय ध्रियस्व बृहस्पतये ध्रि-
यस्व विश्वेभ्यो देवेभ्यो ध्रियस्वेति । स तानाह न ध्रिये । तमब्रुवन्
अग्नये ध्रियस्वेति । सोऽब्रवीत्, ध्रियेऽहम् । यदाग्नेयोऽष्टाकपालो-
ऽमावास्यायां पूर्णमास्यां चाच्युतो भवति । अग्निमेव स्वेन भागधेयेन
समर्द्धयतीति ॥ ३० ॥

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ ३१ ॥

अनुवाक्यायामेकत्वश्रवणम्, अग्निर्ह मूर्धा दिव इत्याग्नेये, उदु-
त्यज्ञातवेदसमिति सौर्ये । ननु पुनरुक्तमेतल्लिङ्गद्वयोपदर्शनमिति ।
तदुच्यते । नैतत् पुनरुक्तम् । एकमत्र चोदनागतम्, एकं मन्त्रगतम् ।
चोदनागतं प्रापकं, मन्त्रगतं प्राप्तस्य द्योतकमिति ॥ ३१ ॥ आ० नि०
सौर्ये चरावाग्नेयधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ १६ ॥

विप्रतिपत्तौ हविषा नियम्येत कर्मणस्तदुपाख्य-
त्वात् ॥ ३२ ॥

इदं श्रूयते, ऐन्द्रमेकादशकपालं निर्वपेदिति, आग्नेयं पय इति ।
तत्र सन्देहः । किं देवतासामान्यादैन्द्रपुरोडाशसाम्नायस्य विध्यन्तः,
आग्नेये च पयसि औषधस्य, देवतासामान्यं बलवत्तरम् ? अथ हविः-

सामान्यादुत्तरत्र साम्नाय्यस्य, पूर्वत्र औषधस्य, हविःसामान्यं बली-
यः ? इति ॥ किं प्राप्तम् । उच्यते । देवतासामान्यं बलीय इति ।
कुतः । मुख्यत्वात् । मुख्यनियन्त्रिता देवता । पेन्द्रमाग्नेयमिति ।
जघन्यनियन्त्रितं हविः । तयोर्विरोधे मुख्याऽनुग्रहो न्याय्यः । मुख्य-
स्य अविरुद्धप्रवृत्तित्वात् । जघन्यस्य तु मुख्येन विरुद्धा प्रवृत्तिः ।
तस्माद्देवतासामान्यं बलीय इति प्राप्ते भ्रूमः । विप्रतिपत्तौ हविषा
नियम्येत । विप्रतिपत्तौ पतस्यां हविर्देवतयोः, हविषा विध्यन्तो निय-
म्येत । कुतः । कर्मणस्तदुपाख्यत्वात् । कर्म देवतां प्रति द्रव्यस्यात्स-
र्गः । स च हविःषूपाख्यायते, उपलभ्यते इत्यर्थः । हविस्त्वज्यमानं
दृश्यते । किमतः । अतो हविः कर्मणः प्रत्यासन्नम् । प्रत्यासत्तिश्च
ल्लिङ्गम् । ननु देवताऽपि यागेन सम्बद्धा । न तथा विना यागो भवति ।
उच्यते । सत्यं सम्बद्धा । आराधुपकारिणी तु सा । नाऽसौ त्यज्यते ।
तस्माद् बहिरङ्गम् । अतो हविःसामान्यं बलीयः ॥ ३२ ॥ सि० ॥

तेन च कर्मसंयोगात् ॥ ३३ ॥

तेन च हविषा संयुज्य कर्म चोद्यते । पेन्द्रम्, आग्नेयमिति
हविःप्रधानः शब्दः । किमतः । अतो हविरत्र बुद्धौ सन्निहितं, तल्लिङ्गं
भवति । यथा धूमो बुद्धिविषयतामापन्नोऽग्नेर्लिङ्गं, न विद्यमानः ॥
॥ ३३ ॥ युक्तिः ॥

ननु देवताऽप्यत्र श्रूयते, पेन्द्रमाग्नेयमिति । उच्यते—

गुणत्वेन देवताश्रुतिः ॥ ३४ ॥

विशेषणत्वेन देवता श्रूयते, हविर्विशेष्यत्वेन । विशेष्यं च बुद्धौ सन्नि-
हितं भवति, न विशेषणम् । तद्विशेष्यं विशेष्यं निवर्त्तते । कथं ज्ञायते ।
विशेष्यानुबन्धसंयोगात् । यथा राजपुरुषः पूज्य इत्युक्ते पुरुषः पूज्यो
गम्यते, न राजा । एवमिहापि । पेन्द्रं पय इत्युक्ते हविर्बुद्धौ सन्नि-
धीयते, न देवता । यच्च बुद्धौ सन्निहितं, तल्लिङ्गमित्युक्तम् । तस्माद्
हविःसामान्यं बलीयः । अत पेन्द्रे पुरोडाशे आग्नेयस्य विध्यन्तः ।
आग्नेये च पयसि साम्नाय्यस्येति ॥

गुणत्वेन देवताश्रुतिरित्येतस्य सूत्रस्यापरा व्याख्या । इदं पदोत्तरं
सूत्रम् । यदुक्तं हविःसामान्यं बलीय इति । नैतद् युक्तम्, देवता-
सामान्यं बलीय इति । कुतः । सर्वोऽयं प्रयासो देवताराधनार्थं एव ।

साऽस्य प्रसन्ना फलं ददाति । एवं श्रूयते । तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयतीति । यश्चेन्द्रस्य प्रसादनोपाय इति ज्ञातः, पुनरपि इन्द्रे प्रसादयितव्ये स एवास्थेयो भवति । तस्माद्देवतासामान्यं बलीय इति ॥ अत्र ब्रूमः । स्यादेतदेवं, यदि देवतातः फलं स्यात् । यागाच्च फलं, स्वर्गकामो यजेतेति श्रूयते । यच्च, तृप्त एवैनमिन्द्र इति । तत्रेदमुच्यते । गुणत्वेन देवताश्रुतिः । यागे गुणभूता देवता । तस्या दातृत्वं स्तुत्योच्यते । यथा, अमात्येन मे ग्रामो दत्तः, सेनापतिना मे ग्रामो दत्त इति । न च अमात्यः सेनापतिर्वा ग्रामस्य प्रभवति । राजैव प्रभवति । इतरस्मिन् गुणभूते स्तुत्या दातृत्ववादः । तस्माद् यथाक्तेनैव न्यायेन हविःसामान्यमेव बलीय इति ॥ ३४ ॥ आ० नि० ॥ हविर्देवतयोः संनिपाते हविःसामान्यस्य बलीयस्त्वाधिकरणम् ॥ १७ ॥

हिरण्यमाज्यधर्म तेजस्वात् ॥ ३५ ॥

प्राजापत्यं घृते चरुं निर्वपेत्, शतकृष्णलमायुष्काम इति श्रूयते । तद् हिरण्यमाज्यधर्मं । स्यात् । उपांशुयाजविध्यन्तस्तत्र भवेत् । कुतः । तेजस्त्वसामान्यात् । तेजस्त्वं सामान्यम् । हिरण्यमश्मनां तेजः । आज्यमपि गवां सार इत्यर्थः । अथवा हिरण्यमपि तेजस्वित्वा-दुज्ज्वलम् । आज्यमपि स्निग्धत्वादुज्ज्वलमेव । तस्मात् सामान्या-दुपांशुयाजधर्मा शतकृष्णलश्चरुः ॥ ३५ ॥ पूर्व० ॥

धर्मानुग्रहाच्च ॥ ३६ ॥

हिरण्ये च बहव आज्यधर्मा अनुगृह्यन्ते अवेषणादयः । औषध-धर्मास्तु हीयेरन् अवहन्त्यादयः । तस्मादपि आज्यधर्माः ॥ ३६ ॥

औषधं वा विशदत्वात् ॥ ३७ ॥

अथवा औषधस्य हिरण्ये विध्यन्तः । कुतः ? । विशदत्वात् । हिरण्यमपि विशदम्, औषधमपि विशदम् । कः पुनरनयोः सामान्य-योर्विशेषः । न खलु कश्चित् । किन्तु विशदत्वस्य कारणद्वयमुपोद्ब-लकं, तेजस्वितायास्तद्धर्मानुग्रह एकः ॥ ३७ ॥ सि० ॥

चरुशब्दाच्च ॥ ३८ ॥

चरुशब्दश्चात्र भवति, प्राजापत्यं चरुमिति । चरुशब्दश्च औषध-स्य वक्ता, तद् बलवद् औषधस्य लिङ्गम् ॥ ३८ ॥

तस्मिंश्च श्रपणश्रुतेः ॥ ३९ ॥

तस्मिँश्चाज्ये श्रपणं श्रूयते, घृते श्रपयतीति । किमतः । अत एतद्भवति । औषधविध्यन्तेन श्रपणं प्राप्यते । तत्र केवलमाज्यं विधायिष्यते । आज्यविध्यन्ते तु श्रपणमाज्यं च विधीयेयाताम् । तथा वाक्यम्भिद्येत ॥

तस्मिँश्च श्रपणश्रुतेरित्येतस्यापरा व्याख्या । आह । साक्षादेव इहाज्यं श्रूयते । तस्मात् तस्य विध्यन्त इति । तत उत्तरमिदम् । तस्मिँश्च श्रपणश्रुतेः । दार्शपौर्णमासिकं श्रपणं तस्मिँश्च आज्ये श्रूयते । गुणगतं तत्सामान्यम् । हविर्गतं तु वैशद्यं, चरुशब्दश्च । तस्मात् ते बलवती ॥ ३९ ॥ युक्तिः ॥ शतकृष्णलास्यहिरण्ये औषधधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ १८ ॥

मधूदके द्रवसामान्यात् पयोविकारः स्यात् ॥ ४० ॥

चित्रायामिष्टौ श्रूयते, दधि मधु घृतं घाना उदकं तण्डुलाः, तत्ससृष्टं प्राजापत्यं भवतीति । तत्र, मधूदके पयोविकारः स्यात् । कुतः । द्रवसामान्यात् । द्रवं च मधूदके पयोऽद्रवम् ॥ ४० ॥ पूर्व० ॥

आज्यं वा वर्णसामान्यात् ॥ ४१ ॥

आज्यं वा इमे विकुर्याताम्, उपांशुयाजस्य तयोर्विध्यन्तः स्यात् । कुतः । वर्णसामान्यात् । समानवर्णे मधूदके आज्येन ॥ ४१ ॥ सि० ॥

धर्मानुग्रहाच्च ॥ ४२ ॥

आज्यधर्माश्च बहवो मधूदकयोः शक्याः कर्तुमुत्पवनादयो, न तु पयोधर्मा दोहनादयः ॥ ४२ ॥ युक्तिः ॥

पूर्वस्य चाविशिष्टत्वात् ॥ ४३ ॥

यत्तु पूर्व कारणमुक्तम् । द्रवत्वसामान्यं तदविशिष्टम् । आज्यमपि अग्निसंयोगाद् द्रवीभवति तस्मादुपांशुयाजविध्यन्तो मधूदकयोरिति ॥४३॥ मधूदके उपांशुयाजीयाऽऽज्यधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ १९९॥ इति श्रीभट्टशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्येऽष्टमस्याध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ ८ ॥ १ ॥

अथ अष्टमस्य अध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ ८ ॥ २ ॥

वाजिने सोमपूर्वत्वं सौत्रामण्याश्च ग्रहेषु
ताच्छन्यात् ॥ १ ॥

चातुर्मास्येषु वाजिनेज्या श्रुता । वाजिभ्यो वाजिनमिति । सौ-
त्रामण्यां च सुरा ग्रहाः । आश्विनं ग्रहं गृह्णाति, सारस्वतमैन्द्रमि-
ति । तत्र संशयः । किमुभयोः सौमिको विध्यन्तः, उत दार्शपौर्ण-
मासिक इति । तदुच्यते । वाजिने सौत्रामण्यां च ग्रहेषु सोमपूर्वत्व-
म् । सौमिको विध्यन्तः । कुतः । ताच्छब्धात् सोमशब्दत्वात् । सोम-
शब्दस्त्वत्र भ्रूयते, सोमो वै वाजिनं सुरा सोम इति । न तावद्वाजिनं
सोमो, न सुरा । न च तयोः सोमेन सादृश्यमस्ति । सादृश्याच्च पर-
शब्दः परत्र प्रवर्त्तते । तस्मात् सादृश्यमत्र विधीयते । सादृश्यं चात्र
सोमधर्मत्वकृतं शक्यं विधातुं, नान्यत् । स एष नाम्ना धर्म्मतिदेशो,
न विध्यन्तेन । यथा, कौण्डपायिनामयने अग्निहोत्रे ॥ १ ॥ पूर्व० ॥

अनुषष्टकाराच्च ॥ २ ॥

अनुषष्टकारं च सोमधर्मं दर्शयति, वाजिनस्याग्ने वीहीत्यनु-
षष्टकरोति, सुराया वीहीत्यनुषष्टकरोतीति ॥ २ ॥ युक्तिः ॥

समुपहूय भक्षणाच्च ॥ ३ ॥

समुपहूय भक्षणं च सोमधर्मः । तत्र दृश्यते । शेषं समं वा
विभज्य समुपहूय भक्षयन्तीति ॥ ३ ॥ युक्तिः ॥

क्रयणश्रयणपुरोरुगुपयामग्रहणासादन-

वासोपनहनञ्च तद्वत् ॥ ४ ॥

क्रयणादींश्च सोमधर्मान् सुरायां दर्शयति, सीसेन क्लीषात्,
क्रय्या कुवलसक्तुभिराश्विनं क्रीणातीति । एका पुरोरुक्, एका याज्या ।
उपयामगृहीतोऽस्यच्छिद्राय त्वार्च्छिद्रेणाश्विनं ग्रहं गृह्णाति ।
गृहीत्वा आसादयति । त्रिरात्रं संहता वसन्ति । क्षौमे वाससी उप-
नद्धानि तोकमानि शष्पाणि भवन्तीति । विधौ सति अनेकार्थानि
वाक्यानि स्युः । क्रयादीन् सीसकादींश्च विदधति । तस्मादुभयोः
सौमिको विध्यन्तः ॥ ४ ॥ युक्तिः ॥

हविषा वा नियम्येत तद्विकारत्वात् ॥ ५ ॥

हविःसामान्येन वा, अत्र दार्शपौर्णमासिको विध्यन्तो नियम्येत ।
कुतः । तद्विकारत्वात् । दार्शपौर्णमासिकस्य हविषो विकारः सुरा-
वाजिने । औषधविकृतिः सुरा, सन्नाय्यविकृतं वाजिनम् ॥ ५ ॥ सि०॥

प्रशंसा सोमशब्दः ॥ ६ ॥

अथ यदुक्तं, ताच्छब्धादिति । तत्र झूमः । प्रशंसार्थोऽयं सोम-
शब्दो, न विध्यर्थः । विधायकस्याभावात् । सोमो वै वाजिनं, सुरा
साम इति । प्रकृष्टफलवत्त्वात् सोमस्य । तद्भावेन सुरावाजिनयोः
प्रशंसा । यथा, सिंहो देवदत्त इति पुरुषस्य । तस्मान्नायं नाम्ना धर्मा-
तिदेशः ॥ ६ ॥ पूर्वपक्षयुक्तिनिरासः ॥

वचनानीतराणि ॥ ७ ॥

इतराणि तु सीसक्रयादीनि वाचनिकानि । प्राप्तेरभावात् ।
अगत्या च वाक्यानामनेकार्थता, सगुणकर्मविधानेन ॥ ७ ॥ पूर्व० ॥

व्यपदेशश्च तद्वत् ॥ ८ ॥

शप्पैरेव दीक्षणीयामप्रांति । तोकमभिः प्रायणीयां, सिंहलोमभि-
रातिध्यामिति । सोमविकारत्वे प्रत्यक्षमेव दीक्षणीयादीनि प्राप्नुयुः ।
प्राप्तानां शप्पादिभिस्तदाप्तिवचनं नोपपद्यते ॥ ८ ॥ युक्तिः ॥

पशुपुरोडाशस्य च लिङ्गदर्शनम् ॥ ९ ॥

पशुपुरोडाशता च ग्रहाणां श्रूयते, नैतेषां पशूनां पुरोडाशा
विद्यन्ते । ग्रहपुरोडाशा ह्येते पशव इति । तन्न तावदत्र ग्रहाः पुरो-
डाशाः । ग्रहा एव ते । यदि तु पुरोडाशधर्मकास्तत एतदुपपद्यते ।
तस्मात् पुरोडाशिकस्तेषु विध्यन्तः ॥ ९ ॥ लिङ्गम् ॥ ॥ ऐष्टिक-
सौत्रामण्योरैष्टिकधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ १ ॥

पशुः पुरोडाशविकारः स्याद्देवतासामान्यात् ॥ १० ॥

अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः । यो दीक्षितो, यदग्नीषो-
मीयं पशुमालभते इति । तत्र सन्देहः । किं पशुः पुरोडाशविकारः,
उत साम्नाय्यविकार इति । किं प्राप्तम् । पशुः पुरोडाशविकारः स्या-
त् । कुतः । देवतासामान्यात् । अग्नीषोमीयः पशुः । पुरोडाशोऽपि
तद्देवत्य एव ॥ १० ॥ पूर्व० ॥

प्रोक्षणाच्च ॥ ११ ॥

प्रोक्षणं पुरोडाशधर्मः पशौ दर्शयति । अद्भ्यस्त्वौषधीभ्यो जुष्टं
प्रोक्षामीति पशुं प्रोक्षतीति ॥ ११ ॥

पर्यग्निकरणाच्च ॥ १२ ॥

पर्यग्निकरणमपि पुरोडाशधर्मः । तदपि पशौ दृश्यते । आहव-
नीयादुल्मुकेन पशुं पर्यग्निकरोतीति । तस्मात् पुरोडाशविकारः ॥
॥ १२ ॥ हेतुः ॥

सान्नाय्यं वा तत्प्रभवत्वात् ॥ १३ ॥

सान्नाय्यं वा पशुर्विकुर्यान्नपुरोडाशम् । कुतः । तत्प्रभवत्वात् ।
पशुतः सान्नाय्यं प्रभवति, पशुश्च । तन्मिथः प्रत्यासन्नम् । प्रत्या-
सत्तिश्च लिङ्गम् । हविःसामान्यं च देवतासामान्याद् बलीय इत्यु-
क्तम् ॥ १३ ॥ सि० ॥

तस्य च पात्रदर्शनात् ॥ १४ ॥

तस्य च सान्नाय्यस्य यत् पात्रम् उखा, सा पशौ दृश्यते । यदि
पशुरुखायां पचेदिति ॥ १४ ॥ युक्तिः ॥ पशौ सान्नाय्यधर्मातिदेशा-
ऽधिकरणम् ॥ २ ॥

दध्नः स्यान्मूर्त्तिसामान्यात् ॥ १५ ॥

सान्नाय्यविकारोऽपि दध्नो विकारः स्यात् पशुः, न पयसः ।
कुतः । मूर्त्तिसामान्यात् । घनत्वं मूर्त्तिः ॥ १५ ॥ पूर्व० ॥

पयो वा कालसामान्यात् ॥ १६ ॥

पयो वा पशुर्विकुर्याद् न दधि । सद्यःकालः पशुः, पयोऽपि सद्यः-
कालम् । दधि तु द्यहकालम् । पयोऽन्तरितं, तद् बहिरङ्गम् ॥ १६ ॥ सि०

पश्वानन्तर्यात् ॥ १७ ॥

पशोश्च पयोऽनन्तरं, तत् प्रत्यासन्नं, न दधि ॥ १७ ॥

द्रवत्वं चाविशिष्टम् ॥ १८ ॥

द्रवत्वं पशुपयसोः समानम् । पशुरपि द्रवति, पयोऽपि । त-
स्मात् पयोविकारः पशुः ॥ १८ ॥ युक्तिः ॥ पशौ पयोधर्मातिदेशा-
ऽधिकरणम् ॥ ३ ॥

आमिक्षोभयभाव्यत्वाद्भयविकारः स्यात् ॥ १९ ॥

वैश्वदेवी आमिक्षा उभयोर्दधिपयसोर्विकारः स्यात् । उभयभा-
व्यत्वात् । उभाभ्यां हि सा भाव्यते । तन्न न युज्यते, विशषोऽस्यैव,
भेतरस्येति । तस्माद्भयोः ॥ १९ ॥ पूर्व० ॥

एकं वा चोदनैकत्वात् ॥ २० ॥

एकं वा विकुर्याद् दधि पयो वा, नोभे । चोदनैकत्वात् । एकैषा चोदना, वैश्वदेव्यामिक्षा इति । सा एकेन विध्यन्तेन निराकाङ्क्षी-
क्रियते । तस्मादेकं विकुर्यात् ॥ २० ॥ सि० ॥

यत्तु, न युज्यते विशेष इति । तत्रोच्यते—

दधिसङ्घातसामान्यात् ॥ २१ ॥

संहतं दधि, आमिक्षाऽपि संहता । पयो द्रवम् । एष विशेषः ।
तस्माद्घ्नो विकार इति ॥ २१ ॥ पूर्व० ॥

पयो वा तत्प्रधानत्वाल्लोकवद्दध्नस्तदर्थत्वात् ॥ २२ ॥

पयो वा आमिक्षया विक्रियते, न दधि । पयःप्रधानत्वाद् । अस्थ
च संसर्गस्य । किं प्राधान्यं पयसः । भूयस्त्वम् । प्रभूतं तत्र पयः,
अल्पं दधि । दध्नश्च तदर्थत्वात् । दधि च तत्र पयो घनीभावयितु-
मुपादीयते । लोकवत् । लोकंऽपि पय एव घनीभावयितुं दधि उपा-
दीयते । कथम् । दध्यऽभावेऽन्येनाम्लेनापि काञ्जिकादिना क्रियते ।
तत्रापि चामिक्षाशब्दो भवति । दधिनियमोऽम्ले हि अदृष्टार्थः ।
तस्मात् पय एवाम्लसंयोगेन घनीभूतमामिक्षा इत्युच्यते । पयश्चद्
आमिक्षा, पयस एव विकारो न्याय्यः ॥ २२ ॥ सि० ॥

धर्मानुग्रहाच्च ॥ २३ ॥

सद्यःकालता धर्मः पयोविकारत्वेनानुग्रहीष्यते । वैश्वदेवस्य
सद्यःकालत्वात् । दधिविकारत्वे बाध्येत । वैश्वदेवोऽपि द्व्यहकालः
क्रियेत । तथा तस्य धर्मो बाध्येत । सद्योभावं च दर्शयति । जुषन्तं
युज्यं पय इति । यदि दध्नो विकारः स्यात् । तथा द्व्यहकालभावे
दातव्यं, न कथञ्चन पयः स्यात् । तत्रैतद्वर्णनं नोपपद्यते । तस्मात्
पयोविकारश्चामिक्षा, दध्नश्चाधर्मकत्वम् ॥ २३ ॥ युक्तिः ॥ आमिक्षा-
यां पयोधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ ४ ॥

**सत्रमहीनश्च द्वादशाहस्तस्योभयथा प्रवृत्तिरैक-
कर्म्यात् ॥ २४ ॥**

द्वादशाहोऽहर्गणः, प्रायणीयोऽतिरात्रः, पृष्ठयः षडहः । त्रयश्छ-
न्दोमा अविवाक्यमहः, उदयनीयोऽतिरात्र इति । स उभयसंज्ञकः,
सत्रमहीनश्च । कथं ज्ञायते । अभियुक्तानामुपदेशात् । एवं ह्युपादि-
शान्ति । सत्रमहीनश्च द्वादशाह इति । शब्दार्थाधिगमे चाभियुक्तोप-

देशः प्रमाणम् । संज्ञाव्यवस्थया च तस्य धर्मा आम्नाताः । एको
 द्वां बहवोऽपि वा अहीनेन यजेरन् । तान् दीक्षिता याजयेयुः । गृहपति-
 सप्तदशाः स्वयमृत्विजां ब्राह्मणाः सत्रमुपेयुरित्येवमादयः । धर्मभेदा-
 च्छ संज्ञान्यवस्था । यथा, ब्राह्मणः, परिव्राट्, वानप्रस्थ इति । तद् दशमे-
 ऽध्याये वक्ष्यते- द्वादशाहस्य सत्रत्वमासनोपायिचोदनेन यजमान-
 बहुत्वे सत्रशब्दाभिसंयोगात् ॥ यजतिचोदनादहीनत्वं स्वामिनां
 चास्थितपरिमाणत्वाद्, इति ॥ स द्विरात्रादिष्वहर्गणेषु प्रवर्त्तते इत्युक्तं-
 गणेषु द्वादशाहस्य इति । तत्र सन्दिह्यते । किमुभयप्रकारोऽसौ विकृतौ
 प्रवर्त्तत, उत व्यवस्थया, क्वचिदहीनभूतः, क्वचित् सत्रभूतः ? इति । किं
 प्राप्तम् । तस्योभयथा प्रवृत्तिः स्यात् । ऐककर्म्यात् । उभयविधस्तत्र
 प्रवर्त्तत । कुतः । ऐककर्म्यात् । एकमिदं कर्म उभयविधमित्युक्त-
 म् । न तस्य प्रवृत्तौ विशेषो गृह्यते, इहैवंविधः, इहनेति । तस्मादुभ-
 यविधः प्रवर्त्तत । नन्वेकाचंद् विधा प्रवृत्ता, द्वितीयया कार्य्यं नास्ति ।
 ऐककर्म्याद् विकल्पो भविष्यति । यथा आग्नेयविकारेष्वभिमर्शन-
 स्य ॥ २४ ॥ पूर्व० ॥

अपि वा यजतिश्रुतेरहीनभूतप्रवृत्तिः स्यात्
 प्रकृत्या तुल्यशब्दत्वात् ॥ २५ ॥

अपि वा नैतदेवम् । सर्वत्रोभयथा प्रवृत्तिरिति । यत्र यजतिः
 श्रूयते, तत्राहीनभूतस्य प्रवृत्तिः । पारिशेष्यात् । यत्रासनोपायि-
 चोदना, तत्र सत्रभूतस्य । कस्मात् । प्रकृत्या तुल्यशब्दत्वात् । प्रकृत्या
 हि विकृतिस्तुल्यशब्दा भवति । तस्माच्चोदनासामान्यात् प्रकृति-
 नियमः । अहीनभूतश्च यजतिचोदनः । द्वादशाहेन प्रजाकामो य-
 जेतेति । सत्रभूत आसनोपायिचोदनः । द्वादशाहम् ऋद्धिकामा
 उपेयुः, द्वादशाहम् ऋद्धिकामा उपासीरन्निति ॥ २५ ॥ सि० ॥

द्विरात्रादीनामैकादशरात्रादहीनत्वं यजति-
 चोदनात् ॥ २६ ॥

अत्राह । के पुनस्तेऽहर्गणा यजतिचोदनाः, येषु अहीनभूतः प्र-
 वर्त्तते ? के वा आसनोपायिचोदनाः, येषु सत्रभूत इति । तदुच्य-
 ते । द्विरात्रादीनामैकादशरात्रादहीनत्वम् । तत्राऽहीनभूतः प्रवर्त्तते ।
 तेषां यजतिशब्देन चोदनात् । द्विरात्रेण यजेत इति ॥ २६ ॥

**त्रयोदशरात्रादिषु सत्रभूतस्तेष्वामनोपायि-
चोदनात् ॥ २७ ॥**

त्रयोदशरात्रम् ऋद्धिकामा उपेयुश्चतुर्दशरात्रं प्रतिष्ठाकामा
उपासीरन्निति सुहृद्भूत्वा आचष्टे ॥

एवं वा । यस्माद् यजतिचोदनोऽहीनस्तस्माद्द्विरात्रादीनामपि अहीन-
त्वम् । तेऽपि हि यजतिचोदनाः । यस्मादासनोपायिचोदनं सत्रं, तस्मा-
त्रयोदशरात्रादीनि सत्राणि । तान्यपि तच्चोदनानीति ॥२७॥ आ०नि०॥

लिङ्गाच्च ॥ २८ ॥

अग्निष्टोमो वै प्रजापतिः स उत्तरानेकाहानसृजत । तमेतं द्वि-
रात्रादयोऽहर्गणा ऊचुस्त्वमस्मान् मा हासीरिति । तद्देशामहीनत्व-
मिति द्विरात्रादीनामहीनत्वं दर्शयति ॥ २८ ॥ युक्तिः ॥ द्वादशाहे
सत्राऽहीनयोर्व्यवस्थया धर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ ५ ॥

**अन्यतरतोऽतिरात्रत्वात् पञ्चदशरात्रस्याहीनत्वं
कुण्डपायिनामयनस्य च तद्भूतेष्वहीनत्वस्य
दर्शनात् ॥ २९ ॥**

पञ्चदशरात्रं, कुण्डपायिनामयनं च उभावपि अहीनौ । कस्मा-
त् । अन्यतरतोऽतिरात्रत्वात् । उभावपि एतौ अन्यतरतोऽतिरात्रौ तेन
अहीनौ इति । पञ्चदशरात्रस्तावत्, त्रिवृदग्निष्टुदग्निष्टोमस्त्रिरात्रो
दशरात्र उदनीयोऽतिरात्र इति । कुण्डपायिनामयनमपि, मासमग्नि-
होत्रं जुह्वतीत्यारभ्य, यावद् दशरात्रो महाव्रतमुदयनीयोऽतिरात्र
इति । यश्चान्यतरतोऽतिरात्रः, सः अहीनः । कथं ज्ञायते ? । तद्भूतेषु
अहीनत्वस्य दर्शनात् । तद्भूतेषु अन्यतरतोऽतिरात्रभूतेष्वहीनत्वं
भूयते । यदन्यतरतोऽतिरात्रस्तेन अहीन इति ॥ २९ ॥ पूर्व० ॥

अहीनवचनाच्च ॥ ३० ॥

अहीन इति चायं पञ्चदशरात्रः प्रत्यक्षमुक्तः । यदन्यतरतोऽति-
रात्रस्तेनाहीन इति । तस्मादपि अहीन इति ॥ ३० ॥ युक्तिः ॥

सत्रे वोपायिचोदनात् ॥ ३१ ॥

सत्रे वा एते, न अहीनौ । कुतः । उपायिचोदनात् । ये एव भूति-
कार्यमिच्छन्तस्त एनं पञ्चदशरात्रमुपेयुः । कुण्डपायिनामयनेऽपि,

भूतिकामा उपेयुरिति । कः पुनरेतयोर्लिङ्गयोर्विशेषः । चोदनागत-
मेकं, वाक्यान्तरगतमन्यच्च । चोदनागतं यत् तदन्तरङ्गं भवति,
बहिरङ्गमितरत् । अयं चापरो विशेषः । अहीनलिङ्गेन च नित्येन
अहीनस्य संस्तुतिर्नोपपद्यते । उपपर्यैतदहीनत्वमुच्यते । यदन्यतर-
तोऽतिरात्रस्तेनाहीन इति । सा यदि तावदुपपत्तिः साधिका, ततो-
ऽन्तरेणापि वचनं, सिद्धमहीनत्वम् । अथ न साधिका, उच्यमान-
मपि न सिद्ध्यति । तस्मान्नैतद् वचनम् । किन्तर्हि अनुवादोऽयं स्तु-
त्यर्थः । स्तुतिश्च, नित्येनाहीनलिङ्गेनान्यतरतोऽतिरात्रत्वेन अहीनस्य
नोपपद्यते । यत्कारणं, सर्वे एवाहीनोऽन्यतरतोऽतिरात्रः । सत्रस्य
तूपपद्यते येन तावदयमन्यतरतोऽतिरात्रः । तेनाऽहीनः । आत्मना च
सत्रम् । अत उभयात्मा विशिष्टोऽयमन्येऽयः सत्रेऽय इति ॥३१॥ सि० ॥

सत्रलिङ्गञ्च दर्शयति ॥ ३२ ॥

सत्रलिङ्गं च कुण्डपायिनामयने दर्शयति । गृहपतिर्गृहपतिः
सुब्रह्मण्यः सुब्रह्मण्य इति । गृहपतिर्हि सत्रं आम्नातः । गृहपतिसप्त-
दशाः सत्रमुपेयुरिति । सत्रं च तेनार्थः क्रत्वर्थान् याजमानान् क-
र्तुम् । अन्येषां यजमानानां व्यावृत्तत्वात् । तस्मात् सत्रं एवैतं इति ॥
३२ ॥ युक्तिः ॥ पञ्चदशरात्रादिषु सत्रधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ ६ ॥
इति श्रीभट्टशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये अष्टमस्याध्यायस्य
द्वितीयः पादः ॥ ८ ॥ २ ॥

अथ अष्टमस्य अध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ८ ॥ ३ ॥

हविर्गणे परमुत्तरस्य देशसामान्यात् ॥ १ ॥

इह हविर्गणा उदाहरणम् । आग्नावैष्णवमेकादशकपालं नि-
र्वपेत्, सारस्वतं चरुम्, बाह्रस्पत्यं चरुम्, अग्नये पावकाय अग्नये
शुचये इत्येवमादयः । तत्र चिन्त्यते । किं शुचिदेवतस्याग्नीषोमीय-
विध्यन्तः, आग्नावैष्णवस्यापि आग्नेयविध्यन्तः ? उत विपर्यय
इति । किं प्राप्तम् । हविर्गणे परं शुचिदेवतम् उत्तरस्याग्नीषोमीयस्य
विकारः । पूर्वमप्याग्नावैष्णवं, पूर्वस्याग्नेयस्य विकारः । कुतः । देश-
सामान्यात् । क्रमसामान्यादित्यर्थः । इह शुचिदेवतो द्वितीयः ।
प्रकृतावप्यग्नीषोमीयो द्वितीयः । इतरत्रापि आग्नावैष्णवः प्रथमः ।

प्रकृतावपि आग्नेयः प्रथमः । देशसामान्येन लिङ्गेन परमुत्तरस्य, पूर्व पूर्वस्य विकारः ॥ १ ॥ पूर्व० ॥

देवतया वा नियम्ये । शब्दवत्त्वादितरस्याऽश्रुति-
त्वात् ॥ २ ॥

न वा देशनियमः स्यात् । किन्तर्हि । देवतया । देवतासामान्यात् । कुतः । शब्दवती देवता । आग्नावैष्णवमग्नये शुचये इति । इतरस्य देशस्य अश्रुतित्वात् । देशो न श्रूयते । किन्तर्हि । प्रचयाद्गम्यते । किमतः ? । एतदतो भवति । देवताप्रत्ययः कर्मचोदनायामनन्तरत्वान्मुध्यः । इतरस्तु पौर्वापर्यापेक्षया उत्पद्यते । तस्माज्जघन्यः । मुख्यानुग्रहश्च न्याय्यः । अतः शुचिदेवत्ये आग्नेयस्य विध्यन्तः । आग्नावैष्णवे च अग्नीषोमीयस्य ॥२॥ सिद्धान्तः ॥ शुचिदेवते आग्नेयस्याग्नावैष्णवे च अग्नीषोमीयस्य धर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ १ ॥

गणचोदनायां यस्य लिङ्गं तदावृत्तिः प्रतीये-
ताग्नेयवत् ॥ ३ ॥

जनकसप्तरात्रे श्रूयते, चत्वारि त्रिवृन्ति अहानि भवन्तीति । तथान्यत्र श्रूयते, नद्यः त्रिवृन्त्यहानि भवन्तीति । तत्र सन्देहः । किं पार्थिकस्य प्रथमस्यामभ्यासः, उत नानाहानं द्वादशाहिकानां स्तोमविधिरिति ? । किं प्राप्तम् । गणचोदनायां यस्य लिङ्गं, तदावृत्तिः प्रतीयेताग्नेयवत् । गणचोदनायामेवंविधायां यस्य लिङ्गं पार्थिकस्य प्रथमस्याहस्त्रिवृत्त्वं, तस्यैवाऽऽवृत्तिः प्रतीयेत । चोदनासामान्यात् । आग्नेयवत् । तद् यथा, अग्नये पावकाय, अग्नये शुचये इति देवतैक्याच्चोदनासामान्यादाग्नेयस्य विध्यन्ताभ्यासः । एवमिहापि ॥ ३ ॥ पूर्व० ॥

नानाहानि वा सङ्घातत्वात् प्रवृत्तिलिङ्गेन चोदनात् ॥४॥

नानाहानि वा द्वादशाहिकानि प्रवर्त्तन्, न पार्थिकं प्रथममहः । कस्मात् । सङ्घातत्वात् । सङ्घात एष उच्यते, चत्वारि त्रिवृन्ति अहानीति । पृथक्निवेशिनी हि चत्वारि इति सङ्ख्या, पृथक्तेन अहानं भवतीति । सन्ति च तत्र सप्तरात्रे चोदनायां प्रवृत्तानि नानाहानि द्वादशाहिकानि चत्वारि । तान्यनूद्य त्रिवृत्त्वं विधातुं शक्यते, न तु

त्रिवृन्ति बहून्यहान्यनूद्य तत्र चतुःसंख्या विधीयते ॥ ४ ॥ सि० ॥

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ ५ ॥

चत्वारि त्रिवृन्ति अहानि अग्निष्टोममुख्यानीति । येषामग्निष्टोमः प्रथमः, इतरेऽनग्निष्टोमाः, त एवमुक्तं प्रतीयन्ते, न ये सर्वे अग्निष्टोमाः । यथा, अयोमुख्यं पिण्डच्छेदनमित्युक्तं न सर्वायसं प्रतीयते । यदि च त्रिवृतोऽभ्यासः स्यात्, सर्वे अग्निष्टोमा भवेयुः । अग्निष्टोमो हि असौ । तस्माद् द्वादशाहिकानां चोदकप्राप्तानामहानां त्रिवृत्ता विधीयते । एवं नत्र त्रिवृन्ति अहानि भवन्तीति ॥ ५ ॥ युक्तिः ॥ जनकसप्तरात्रे त्रिवृत्स्वहःसु द्वादशाहधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ २ ॥

कालाभ्यासेऽपि बादरिः कर्मभेदात् ॥ ६ ॥

कचित् कर्मविशेषे श्रूयते । षडहा भवन्ति, चत्वारो भवन्ति, पञ्चहा भवन्ति । तत्र सन्देहः । किं द्वादशाहिकानामहानां प्रवृत्तिः, उत षडहस्येति । किं प्राप्तम् । कालाभ्यासेऽपि बादरिः । षडहकालाभ्यासेऽप्येतस्मिन् श्रूयमाणे बादरिराचार्यो द्वादशाहिकानामहानां प्रवृत्तिं मन्यते स्म । कुतः । कर्मभेदात् । षडहशब्देनात्र अहर्मितानि षट्सौत्यानि कर्माण्युच्यन्ते । तेषां च षट्कानां भेदो गम्यते । चत्वारः षडहा इति पृथक्त्वनिवेशात् सङ्ख्यायाः । यद्येकस्यैव कर्मषट्कस्य पार्ष्टिकस्याभिप्लविकस्य वा अभ्यासः कल्प्येत, ततश्चतुःषडहा इति स्यात् । अथ पुनश्चत्वारः षडहा इत्युक्ते चतुर्विंशत्यहानि प्रतीयन्ते, सा अहःसङ्घातचोदना प्रकृतिलिङ्गत्वाद् द्वादशाहिकीमहःप्रवृत्तिं गृह्णाति । तस्मान्नानाहानां द्वादशाहिकानां प्रवृत्तिः ॥ ६ ॥ पूर्व० ॥

तदावृत्तिं तु जैमिनिरहामप्रत्यक्षसङ्ख्यत्वात् ॥ ७ ॥

तदावृत्तिं, पार्ष्टिकस्यैव प्रज्ञातस्य षडहस्यावृत्तिं जैमिनिराचार्यो मेने । कुतः । अहामप्रत्यक्षसङ्ख्यत्वात् । चतुर्विंशतिरहामप्रत्यक्षा सङ्ख्या अनुमानाद् गम्यते । तस्याश्च षडहचतुष्टयेनैव अनुमानम् । तेन पूर्वं तावत् षडहचतुष्टयमेव प्रत्येति । तत् समाहृत्य चतुर्विंशतिसङ्ख्याम् । यथा, पूर्वं धूमं प्रतिपद्यते, पञ्चादग्निम् । यश्च धूमप्रत्ययैव कृतार्थो भवति नासौ अग्निप्रत्ययमाद्रियते । इहाऽपि षडहप्रत्ययादेव तत्प्रवृत्तिः प्रसज्जयते । तथा च कृतार्थः, किं चतुर्विंशतिसङ्ख्यायां प्रतीतया करिष्यति । तस्मात् षडहाभ्यासः ॥

अथ यदुक्तं, पृथक्कनिवेशिनी सङ्ख्या आवृत्तौ बाध्येतेति । तत्र
 भूमः । षडह इति प्रज्ञातः षडहः सन्निहितो गृह्यते । तस्य चतुःस-
 ङ्ख्यासम्बन्धः साक्षान्नास्तीत्यावृत्त्या भविष्यति । यथा, उपसदां प्र-
 याजानुयाजानां च । यस्यापि चतुर्विंशतिरात्रश्चत्वारः षडहा इत्येवं
 चोद्यते, तस्यापि दशरात्रे प्रवर्त्तमाने आवृत्त्यैव सङ्ख्यापूरणम् । भि-
 ज्ञानां षडहानामभावात् । यश्चोभयोर्दोषो नासावेकं पक्षं निवर्त्तय-
 ति ॥ ७ ॥ सिद्धान्तः ॥ षट्त्रिंशद्वात्रे षडहधर्मातिदेशाधिकरणम् ॥३॥

संस्थागणेषु तदभ्यासः प्रतीयेत कृतलक्षण-
 ग्रहणात् ॥ ८ ॥

इह संस्थागणा उदाहरणम् । अग्निष्टोमः पञ्चोक्त्यः, शताग्नि-
 ष्टोमं भवति, शतातिरात्रं भवतीत्येवमादयः । अत्र चिन्त्यते । किं
 ज्योतिष्टोमस्यायमभ्यासः, उतैवंसङ्ख्यानां संस्थाविशिष्टानामहं
 वाद इति । किं प्राप्तम् । संस्थागणेषु तदभ्यासः प्रतीयेत । तस्यैव
 प्राकृतस्य ज्योतिष्टोमस्यायमभ्यासः । कुतः । कृतलक्षणग्रहणात् ।
 तस्यैतत् कृतं लक्षणम् । अग्निष्टोमः, उक्त्यः, षोडशी, अतिरात्र इति
 तत्संयोगनैताः संस्था उत्पन्नाः । स ताभिः शक्यते लक्षयितुम् । त-
 च्छ लक्षयित्वा सङ्ख्यां केवलां विधास्यति । नानाहं तु वादे संस्था
 सङ्ख्या चोभयं विधीयते । उक्त्या संस्था भवन्तीति । ते च पञ्च
 भवन्तीति । तथा वाक्यम्भिद्यते । तस्माज्ज्योतिष्टोमाभ्यासः ॥८॥पूर्व०॥

अधिकाराद्वा प्रकृतिस्तद्विशिष्टा स्यादभिधानस्य
 तन्निमित्तत्वात् ॥ ९ ॥

नैतदेवं ज्योतिष्टोमाभ्यास इति । कथं तर्हि । प्रकृतिस्तद्विशिष्टा
 स्यात् । द्वादशाहिकानि अहानि संस्थाविशिष्टानि स्युः । कस्मात् ।
 अधिकारात् । तान्यत्र चोदकेन अधिकृतानि । एवं चोदकानुग्रहो
 भविष्यति ॥ ननु प्रत्यक्षविहितो ज्योतिष्टोमोऽग्निष्टोमादिभिः शब्दैः ।
 नेत्याह । कथम् ? । अभिधानस्य तन्निमित्तत्वात् । अग्निष्टोमाभि-
 धानं संस्थानिमित्तं, न ज्योतिष्टोमाभिधायकम् । तत्संस्थं क्रतुं
 षदितुं शक्नोति, न ज्योतिष्टोममेव । यत्तु अनेकार्थमिति । नानेका-
 ऽर्थं भविष्यति । गणचोदनया प्राप्तानामहं पञ्चानां संस्थामात्रं विधा-
 यिष्यते । शताग्निष्टोममित्यपि समास उभयविशेषणविशिष्टं गणमाह ।

स एक एवार्थः । यथा, लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्तीति । पृथक्-
निवेशिनी चैवं सङ्ख्या अनुगृहीता भविष्यति । तस्माद् द्वादशा-
हिकानां नानाह्रां वादः ॥ ९ ॥ सिद्धान्तः ॥ संस्थागणेषु द्वादशाहिक-
धर्मातिदेशाधिकरणम् ॥ ४ ॥

गणादुपचयस्तत्प्रकृतित्वात् ॥ १० ॥

शतोक्थ्यं भवति शतातिरात्रं भवतीति श्रूयते । तत्र द्वादशाहिकानि
अहानि प्रवर्तन्ते । तानि च प्रायेणोक्थ्यसंस्थानि । द्वौ अग्निष्टोमौ
शतोक्थ्यं भवतीत्युक्तेरग्निष्टोमयोरुक्थ्यस्तोत्रोपचयः प्राप्तः । शताति-
रात्रं भवतीति सर्वेषु रात्रिपर्यायोपचयः । तत्र चिन्त्यते । किं
द्वादशाहादुपचयः कर्त्तव्यः, उत ज्योतिष्टोमादिति । किं प्राप्तम् ।
गणादुपचयः । कुतः । तत्प्रकृतित्वात् । द्वादशाहप्रकृतय एतेऽहंगणा-
स्तेषु द्वादशाहिको विध्यन्तः प्राप्यते । यदि द्वादशाहादुपचयः, एवं
चोदकानुग्रहो भविष्यति । तस्माद् गणादुपचयः ॥ १० ॥ पूर्व० ॥

एकाहाद्वा तेषां समत्वात् स्यात् ॥ ११ ॥

एकाहाद्वा ज्योतिष्टोमादुपचयो, न द्वादशाहात् । कस्मात् । तेषां
समत्वात् । द्वादशाहिकानामहामितरेवैकृतैः समत्वं भवति । तान्य-
प्यन्यतः संस्थामकाङ्क्षन्ति, इमान्यपि । न च भिक्षुका भिक्षुकादा-
काङ्क्षन्ति सत्यन्यस्मिन् प्रसवसमर्थेऽभिक्षुके । किमेतदुक्तं भवति ।
द्वादशाहे संस्थास्तोत्राण्यनाम्नातानीत्यतो यत्रान्नातानि तत आ-
काङ्क्षन्ति । वैकृतेष्वह सु तानि नाम्नातानीति । तस्माद् वैकृतान्यपि
अहानि यत्र विहितानि तत एवाकाङ्क्षितुमर्हन्ति । ज्योतिष्टोमे च
तान्याम्नातानि । तस्माज्ज्योतिष्टोमादुपचयः ॥ ११ ॥ सिद्धान्तः ॥
शतोक्थ्यादौ ज्योतिष्टोमात् स्तोत्रोपचयाधिकरणम् ॥ ५ ॥

गायत्रीषु प्राकृतीनामवच्छेदः प्रकृत्यधिकारात् सङ्ख्या-
त्वाद्ग्निष्टोमवदव्यतिरेकात्तदारूपत्वम् ॥ १२ ॥

उपचयश्चिन्तितः । उपचय इदानीं चिन्त्यते । इदं श्रूयते । वाज-
पेयेनेष्टा बृहस्पतिसवेन यजेतेति । तत्रेदं समाम्नातं, गायत्रमेतद्दह-
र्भवतीति । अत्र विचार्यते । किं प्राकृतीनां त्रिष्टुब्जगतीनामक्षराव-
ल्लोपं कृत्वा गायत्रं तदहः कर्त्तव्यम् ? उतोत्पात्तगायत्रीणां दाशते-
यीष्य आगमं कृत्वेति । अत्र सूत्रेणैवोपक्रमः । गायत्रीषु प्राकृतीना-

अथच्छेदः । गायत्रीषु श्रूयमाणासु गायत्रमेतदर्हभवतीति, प्राकृतीनां त्रिष्टुब्जगतीनामवच्छेदोऽक्षरावलोपः कर्त्तव्यः । कुतः । प्रकृत्य-
ऽधिकारात् । चोदकेनात्र प्राकृत्यस्त्रिष्टुब्जगत्यः प्राप्ता अधिकृता
विद्यन्ते । यद्यन्यासामृचामागमः क्रियेत, प्राकृतः प्रत्ययो बाध्येत ॥ ननु
प्रत्यक्षश्रुता गायत्र्यः । ताभिश्चोदकप्राप्ता इतरा बाधितव्याः । ने-
त्याह । कस्मात् । सङ्ख्यात्वात् । अयं गायत्रीशब्दः संख्यावाचकः ।
कथं ज्ञायते । अव्यतिरेकाच्चतुर्विंशतिसंख्यामेष न व्यभिचरति । न
कचिच्चतुर्विंशतिसंख्यया विना दृष्टश्रुतुर्विंशतिसंख्याहीनासु त्रिष्टु-
ब्जगतीषु न कदाचिद् भवति । तस्मात् संख्याशब्दोऽयम् । संख्या-
शब्दश्चेदक्षरावलोपः कर्त्तव्यः । अग्निष्टोमवत् । यथा, शताग्निष्टोमं
भवतीत्युक्ते द्वादशाहिकानामहामुक्थ्यावलोपः क्रियते । एवमिहापि
॥ १२ ॥ पूर्व० ॥

तन्नित्यवच्च पृथक्सतीषु तद्वचनम् ॥ १३ ॥

तन्नित्यवत् सङ्ख्यामात्रं ब्रुवन्तं गायत्रीशब्दे मत्वा, पृथक्सतीषु
पृथग्भूतासु गायत्रीषु जगतीषु अगायत्रीषु तद्वचनं भवति गायत्री-
वचनं भवति । ये हि द्वे गायत्र्यौ, सा एका जगतीति । यदि सं-
ख्यायां गायत्रीशब्दस्ततो जगत्यां द्वे चतुर्विंशतिसङ्ख्ये इत्येतद्वचन-
मुपपद्यते । अथ ऋचः, ततो द्वे ऋचौ जगत्यां न स्त इति एतद्वचन-
मनुपपन्नं स्यात् । तस्मादपि सङ्ख्यायां गायत्रीशब्दः । तथेदम-
परं च दर्शनम् । तिस्रोऽनुष्टुभश्चतस्रो गायत्रीः करोतीति ॥ १३ ॥

न विंशतौ दशेतिचेत् ॥ १४ ॥

अथ कश्चिद् ब्रूयाद्, न विंशतौ दशसङ्ख्याऽस्ति । न सङ्ख्या
सङ्ख्यान्तरं वर्त्तते । गुणो हि सङ्ख्या । न च गुणा गुणेषु वर्त्तन्ते ।
एवमष्टाचत्वारिंशत्सङ्ख्यायां चतुर्विंशतिसङ्ख्या नास्ति । तस्मात्
सङ्ख्यायर्थेऽपि गायत्रीशब्दे एका जगती द्वे गायत्र्यौ इत्येतदनुपपन्न-
मेव । अश्लोभयोर्दोषो नासावेकस्य वाच्यः ॥ १४ ॥ आ० ॥

ऐकसङ्ख्यमेव स्यात् ॥ १५ ॥

अत्रोच्यते । न ब्रूमः, सङ्ख्यायां सङ्ख्या वर्त्तते इति । किं
तर्हि । अष्टाचत्वारिंशत्सङ्ख्यापरिच्छिन्नेष्वक्षरेषु अवयवभूते द्वे
चतुर्विंशतिसङ्ख्ये, न तु द्वे ऋचौ इति । न च सङ्ख्या सङ्ख्या-

न्तरं निवर्त्तयति । यदि निवर्त्तयेद् ऐकसङ्ख्यमेव स्यात् । यस्य दश
गावन्तस्य द्वौ पञ्चकौ गवामित्येतद्वचनं न स्यात् । भवति च तत् ।
तस्माद् न संख्या संख्यान्तरं निवर्त्तयति ॥

एवं वा । न विंशतौ दशेति चेत् । यद्यपि संख्यायां गायत्री-
शब्दः, एवमपि नाक्षरावलोपः कर्त्तव्यः । किं कारणम् । विंशतौ दश
विद्यन्ते । किमतः । इद्ं तावदतः । येन विंशतिरुपात्ता, उपात्तास्तेन
दश भवन्ति । एवं येन त्रिष्टुब्जगत्यः प्रयुक्ताः, प्रयुक्तास्तेन तद-
न्तर्गता गायत्र्यो भवन्ति । तस्मादविकारेण प्रयोगः । एवं चोदका-
ऽनुग्रहश्च भवति । गायत्रं चाहः कृतं भवति । ऐकसंख्यमेव स्यात् ।
अत्राह, जगत्यां त्रिष्टुभि चोपात्तायां न गायत्र्य उपात्ता भवन्ति ।
कथम् । साधनं परिच्छिन्दती संख्या कर्मणि अङ्गीभवति । न जग-
त्याः, त्रिष्टुभो वा अवयवः साधनम् । किं तर्हि । त्रिष्टुब्जगत्यः ॥
अथोच्येत, गायत्रमेतदहर्भवतीतिवचनादवयव एवात्र साधनमिति ।
तथा सति अक्षरावलोप एव प्राप्नोति । उत्तरस्यावयवस्यानङ्गत्वात् ।
न च अनङ्गऽनुपादीयमाने चोदको बाध्यते । तस्माद् यदुक्तं, यद्यपि
संख्यायां गायत्रीशब्दः, एवमपि अविकारेण प्रयोग इति । एतदयु-
क्तम् । दर्शयति । न चोत्तरस्यां संख्यायामुपात्तायां पूर्वाः संख्या
उपात्ता भवन्तीति । यद्यमेका च दश च शतं च सहस्रं च परार्द्धं
ष्वेति सर्वसंख्या अनुक्रामति । यदि चोत्तरस्यां संख्यायामुपात्तायां
पूर्वाः संख्या उपात्ता भवन्ति ऐकसंख्यमेव स्यात् । एकैवापरार्द्धसं-
ख्या भवेत् । सा हि सर्वाभ्य उत्तरा । यतस्तु एकाद्या अपि अनुक्रा-
न्ताः । अतो विज्ञायते, न उत्तरस्यां संख्यायामुपात्तायां पूर्वाः संख्या
उपात्ता भवन्तीति ॥ १५ ॥ आ० नि० ॥

गुणाद्वा द्रव्यशब्दः स्यादसर्वाविषयत्वात् ॥ १६ ॥

नेतदेवं, संख्यायां गायत्रीशब्द इति । कथं तर्हि । गुणाद् द्रव्य-
शब्दः स्यात् । अतुर्विंशत्यक्षरयुक्तस्य द्रव्यस्य वाचकः । कस्मात् ।
असर्वाविषयत्वात् । यदि संख्याशब्दः स्यात् सर्वस्मिन्नतुर्विंशति-
संख्यासंख्येये वर्त्तते गायूयादौ । न च वर्त्तते । तस्मान्न संख्याशब्दः
॥ १६ ॥ सि० ॥

गोत्ववच्च समन्वयः ॥ १७ ॥

यथा, गौरिति सत्यपि गमननिमित्ते सामान्यद्रव्याऽभिधाने सास्नादिमत्येव समन्वयो, नान्यत्रेति तद्वचन एव गोशब्दो विज्ञायते । एषमयमपि ऋग्वचन एव विज्ञातुं न्याय्यः ॥ १७ ॥

संख्यायाश्च शब्दवत्त्वात् ॥ १८ ॥

चतुर्विंशतिसंख्यावाचकः शब्दोऽस्ति, चतुर्विंशतिरिति । न अस्यपरेण गायत्रीशब्देन अर्थः । संज्ञाया व्यवहारार्थत्वादेकेन व्यवहारसिद्धेः ॥ १८ ॥

इतरस्याश्रुतित्वाच्च ॥ १९ ॥

इतरस्य ऋग्द्रव्यस्याश्रुतित्वाद् । अशब्दत्वादित्यर्थः । तस्याऽपि व्यवहारार्थेन संज्ञाशब्देन प्रयोजनम् । तत्रायं गायत्रीशब्दोऽर्थवान् भवति । संख्यायां निष्प्रयोजनः । तस्मादपि ऋक्शब्दो न्याय्यः अतो गायत्रीणाम् ऋचामागमः कर्त्तव्य इति ॥ १९ ॥ युक्तिः ॥

द्रव्यान्तरे निवेशादुक्तप्रलोपैर्विशिष्टं स्यात् ॥ २० ॥

यदुपवर्णितम्, अग्निष्टोमवदिति । तत्र ब्रूमः । अग्निष्टोमशब्दस्य द्रव्यान्तरे कस्मिंश्चिन्निवेशो नास्ति । यथा गायत्रीशब्द ऋग्द्रव्ये । अयं हि केवलाग्निष्टोमान्ततां ब्रूते । न चोक्त्यलौपमन्तरेण, द्वादशाहिकानामहामग्निष्टोमान्तता भवतीति अवश्यकार्यं उक्त्यलोपः । अयं पुनर्गायत्रीशब्द ऋग्द्रव्यस्य वाचक इत्युक्तम् । न च अक्षरावलोपेन तद् ऋग्द्रव्यं प्राप्यते । तस्माद्विषमोऽयमुपन्यास इति ॥ २० ॥ पूर्वपक्षयुक्तिनिरासः ॥

अशास्त्रलक्षणत्वाच्च ॥ २१ ॥

अशास्त्रलक्षणानि चोक्त्यस्तोत्राणि शताग्निष्टोमे, तानि शास्त्रलक्षणया अग्निष्टोमान्ततया बाध्यन्ते । इह पुनर्विपरीतं, शास्त्रलक्षणा गायत्र्यः, आनुमानिक्यस्त्रिपटुजगत्यः । ता न शक्नुवन्ति गायत्रीं बाधितुम् ॥ २१ ॥ युक्तिः ॥

उत्पत्तिनामधेयत्वाद् भक्त्या पृथक्सतीषु स्यात् ॥ २२ ॥

अथ यदुक्तं, संख्यायां गायत्रीशब्दो वृष्टः । ये हि द्वे गायत्र्यौ, सैका जगतीति । तस्य कः परिहारः । उच्यते । औत्पत्तिकमेतद् ऋचो नामधेयमित्युक्तम् । अत उत्पत्तिनामधेयत्वाद् योऽयं जगत्त्वयवे चतुर्विंशत्यक्षरे पदसञ्चये प्रयोगः, स भक्त्या विज्ञेयः । न

हि एकस्य शब्दस्यानेकार्थता सत्यां गतौ न्याय्या । कया पुनर्भक्त्या ? परिमाणसामान्यात् । यत् परिमाणं द्वयोर्गायत्रयोः तदेकस्या जगत्याः । अत एतदुक्तम् । ये हि द्वे गायत्र्यौ, सा एका जगतीति । यथा, यौ द्वौ कौरवौ स एको वाहीक इति । एतच्च गायत्रीद्वयप्रशंसार्थं वचनम् । कथम् । इदं श्रूयते, द्वाभ्यां गायत्रीभ्यां वैश्यस्येति । तदेतदयुक्तमिवोच्यते । जगत्या वैश्यस्य कार्य्यम् । जागतो हि वैश्यः । तदेतद् द्वाभ्यां गायत्रीभ्यां क्रियते । जगत्यैव तत् कृतं भवति । ये हि द्वे गायत्र्यौ सा एका जगतीति । तस्माद्देतुरयं सङ्ख्यार्थत्वे गायत्रीशब्दस्य ॥ २२ ॥ पूर्वपक्षयुक्तिनिरासः ॥

वचनमितिचेत् ॥ २३ ॥

शक्यं तावत् तत्रैतद् वक्तुं, यत्रानुवादो गायत्रीशब्दः । यत्र तु विधिस्तत्र कथम् । यथा, तिस्रोऽनुष्टुभः, चतस्रो गायत्रीः करोति इति । कः पुनर्विधौ विशेषः । विधौ शब्दार्थेन व्यवहारो भवति । तिस्रोऽनुष्टुभश्चतस्रो गायत्र्योः न शक्याः कर्तुम् । शक्यास्तु चतस्रश्चतुर्विंशतयः । तस्मात् तत्र संख्यायां गायत्रीशब्द इति ॥ २३ ॥ आ०

अथ ब्रूमः—

यावदुक्तम् ॥ २४ ॥

इहैवैकत्र संख्यार्थो, नान्यत्र । कच्चिद्दर्शनात् । आह । यद्येवं न सङ्ख्यावचनः, कथमिह सङ्ख्यार्थो-जातः ? इति । उच्यते । लक्षणयाऽपि विधानं भवति । यथा लोके, अमी पिष्टपिण्डाः सिंहाः क्रियन्तामिति । वेदेऽपि, पृष्टैरुपतिष्ठन्ते इति । न च तत्र सिंहशब्दः प्रतिकृतिवचनो दृष्ट इति । अन्यत्रापि प्रतिकृतिवचनो विज्ञायते । पृष्टशब्दो वा मन्त्रवचनः । न च लक्षणया प्रयोगे अशब्दार्थः परिच्छिद्यते । यत् कारणं, स्वार्थे एव वर्तमानोऽर्थान्तरं लक्षयति । स्वार्थे जहद् नैव लक्षयेत् । तस्मादयमपि अहंतुः ॥ २४ ॥ आ० नि० ॥

अपूर्वे च विकल्पः स्याद्यदि संख्याविधानम् ॥ २५ ॥

अपूर्वे च दर्शपूर्णमासकर्मणि विकल्पः स्याद्, यदि संख्यायां गायत्रीशब्दः । तत्र हि श्रूयते, गायत्र्या परिदध्यादिति । एवं श्रुते आजुहोतायाश्चतुर्विंशत्यक्षरस्य पदसञ्चयस्य च विकल्पः स्यात् । विकल्पे पक्षे आजुहोताया बाधः । स चायुक्तः सत्यां गतौ ।

तस्मादपि नैतत् संख्याविधानम् ॥ २५ ॥ युक्तिः ॥

ऋग्गुणत्वान्नेतिचेत् ॥ २६ ॥

अत्रोच्यते । न प्रकृतौ विकल्पो भविष्यति । कुतः । ऋग्गुणत्वात् । ऋग्गुणो हि तत्र प्रयोगोऽङ्गीकृतः । ऋचस्तस्य सामिधेन्य आ-
ज्ञाताः । यदि अनृचा परिदधीत, ऋग्गुणत्वं बाध्येत । तस्मात् तन्न
आजुहोतयैव परिधास्यति । तथा सति गायत्र्या परिहितं भविष्य-
ति । ऋग्गुणत्वं चोपगृहीतम् ॥ २६ ॥ आ० ॥

तथा पूर्ववति स्यात् ॥ २७ ॥

पूर्ववति अपि बृहस्पतिसवे तथा स्याद् यथा अपूर्वे । अत्रापि
ऋग्गुणकः प्रयोगोऽङ्गीकृतश्चोदकेन । तत्रापि ऋक्षु उपादीयमानासु
गायत्रं चैव अहः कृतं भवति । ऋग्गुणकत्वं च न बाधितम् । तस्मा-
न्नाक्षराधलोपः ॥ २७ ॥ आ० नि० ॥

गुणावेशश्च सर्वत्र ॥ २८ ॥

तुशब्दस्य स्थाने चशब्दः । दृष्टश्च तुशब्दस्यार्थे चशब्दः । यथा,
किञ्चेह भवतीति । गुणस्य चतुर्विंशतिसंख्यायाः सर्वत्रावेशः कृत्स्ना-
यामाजुहोतायां, नावयवे । अतस्तस्यामुपादीयमानायाम् ऋग्गुण-
त्वं चोपगृहीतं भवति, संख्या च । बृहस्पतिसवे पुनर्या ऋच-
श्चोदकेन अङ्गीकृताः, तासामवयवे चतुर्विंशतिसंख्या निविष्टा । त-
स्मिन्नुपादीयमाने ऋग्गुणत्वमनुपात्तं भवति । प्रकृतिगायत्रीषु तू-
पात्तं भवति । तस्मान्न संख्याभिधाने गायत्रीशब्दे प्रकृतिगायत्रीणा-
मागमः प्राप्नोति ॥

अपर आह । इदं तावदयं संख्यावादी प्रष्टव्यः । कस्मादक्षर-
गतायामेव संख्यायां भवानवस्थितो, न पुनरन्यसंख्येयगतायामपि ।
ग्रहगतायां चमसगतायां वा ? यावताऽविशेषेण श्रुतं, गायत्रमेतद्-
हर्भवतीति । एवं सति सर्वत्र गुणावेशः प्राप्नोति ॥ २८ ॥ युक्तिः ॥

निष्पन्नग्रहणान्नेतिचेत् ॥ २९ ॥

स चेद् ब्रूयाद्, यत्रायं निष्पन्नो, गायत्रीशब्दः प्रसिद्ध इत्यर्थः ।
तस्य ग्रहणं न्याय्यम् । अयं च अक्षरगतायामेव संख्यायां प्रसिद्धो
न सर्वत्र । तस्मान्न सर्वसंख्येयगतो गृह्यते इति ॥ २९ ॥ आ० ॥

स षक्तव्यः—

तथेहापि स्यात् ॥ ३० ॥

यथा अक्षरगतायामेव संख्यायां दृष्टो, नान्यत्र । एवम् ऋक्षु एव दृष्टो, नान्यस्मिंश्चतुर्विंशत्यक्षरे गद्ये वा । यथा चाऽक्षरेष्वेव दृष्ट इति नानक्षरे विज्ञायते । एवम् ऋक्षु दृष्ट इति नानृक्षु विज्ञातुं न्याय्यः ॥ अत्राह । यद्यप्ययम् ऋक्षु गायत्रीशब्दः, एवमप्यक्षरावलोपः कार्यः । किङ्कारणम् । प्रकृत्युपबन्धनात् । चोदकेनात्र प्राकृत्य-
स्त्रिष्टुब्जगत्य- प्रापिताः । ता इमा नोज्झिता भविष्यन्ति । गायत्री-
शब्दश्च सङ्ख्यासामान्यात् शक्नोति तदवयवान् वक्तुम् । एवमुभौ
विधी अनुगृहीतौ भविष्यतः- प्राकृतो वैकृतश्चेति ॥ ३० ॥

अत उत्तरं पठति—

यदि वाऽविशये नियमः प्रकृत्युपबन्धाच्छरेष्वपि
प्रसिद्धः स्यात् ॥ ३१ ॥

यदि अविशये अशंसयेऽपि गायत्रीषु विहितासु प्रकृत्युपबन्धना-
द्गायत्र्यां गायत्रीशब्दः कल्प्यते, शरेष्वपि, शरमयं बर्हिर्भवतीति
कुशेषु शरशब्दः कल्पयितव्यः । कौशमेव बर्हिः कार्यम् । वक्तव्यो
वा विशेषः ॥ ३१ ॥ आ०नि० ॥

दृष्टः प्रयोग इतिचेत् ॥ ३२ ॥

अयं विशेषो दृष्टः । चतुर्विंशतिसंख्यायामक्षरगतायां गायत्री-
शब्दस्य प्रयोगः । ये द्वे गायत्र्यौ सैका जगतीति । तेन शक्यते कल्प-
यितुम् ॥ ३२ ॥ आ० ॥

तथा शरेष्वपि ॥ ३३ ॥

शरशब्दस्यापि कुशेषु प्रयोगो दृश्यते, शरवणमेवेदं कुशवन-
मिति ॥ ३३ ॥ आ० नि० ॥

भक्त्येति चेत् ॥ ३४ ॥

अत्रोच्यते । स तत्र शरशब्दो भाक्तः प्रयुज्यते । दीर्घत्वात् पृथु-
पन्नत्वात् सादृश्यवादोऽसौ, शरवणमेवेदं कुशवनमिति स्वार्थे वर्त्त-
मानः सादृश्यं गमयति । स्वार्थे जहत् कथं गमयेत् । तस्माच्छरेष्वेव
तत्र शरशब्दस्य प्रयोगो, न कुशेष्विति ॥ ३४ ॥ आ० ॥

तथेतरस्मिन् ॥ ३५ ॥

तथेतरस्मिन्नपि ये द्वे गायत्र्यौ सैका जगतीति भाक्तएव गायत्री-
शब्द इत्युक्तम् । सोऽपि स्वार्थ एव वर्त्तमानस्तत्सदृशं गमयतीति
ऋद्धेव प्रयुक्तो, न संख्यायाम् । तस्मान्न संख्यायां गायत्रीशब्दः ।
अतो नाक्षरावलोपः कर्त्तव्यः ॥ ३५ ॥ आ० नि० ॥

अर्थस्य चासमाप्तत्वान्न तासामेकदेशे स्यात् ॥ ३६ ॥

अपि च त्रिष्टुब्जगतीनामेकदेशे वाक्यमपरिसमाप्तं भवति । न
खापरिसमाप्तेन वाक्येन अर्थः कश्चिद्भिधीयते । अर्थाभिधानार्थञ्च
मन्त्रप्रयोगः । तत्र मन्त्रप्रयोग एव अनर्थकः स्यात् । तस्मान्न तासां
त्रिष्टुब्जगतीनामेकदेशे गायत्रीशब्दः स्यात् । तस्मादुत्पत्तिगायत्री-
णामेव दाशतयीष्य आगमः कर्त्तव्य इति ॥ ३६ ॥ युक्तिः ॥ गायत्र-
मेतदहर्भवतीत्यादावुत्पत्तिगायत्रीणामागमाधिकरणम् ॥ ५ ॥ इति
श्रीमद्दृशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्येऽष्टमस्य अध्यायस्य तृतीयः
पादः समाप्तः ॥ ८ ॥ ३ ॥

अथ अष्टमस्य अध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ८ ॥ ४ ॥

दर्विहोमो यज्ञाभिधानं होमसंयोगात् ॥ १ ॥

यदेकया जुहुयात्, दर्विहोमं कुर्यादिति श्रूयते । अस्मिन् दर्वि-
होमशब्दे भवति संशयः । किं गुणविधिः, उत कर्मनामधेयम् ?
इति । किं प्राप्तम् । दर्विहोमो यज्ञाभिधानं, कर्मनामधेयमित्यर्थः ।
कुतः । होमसंयोगात् । होमशब्दोऽत्र श्रूयते । तत्प्रधानश्चायं समा-
प्तः । दर्विशब्द उपसर्जनं, होमश्च कर्मम् । अथवा जुहुयादिति कर्मो-
च्यते । तेन समुच्चितो यदेकया जुहुयादिति । तस्मात् कर्मनामधेयं
स्थितं तावत् । ततोऽर्थान्तरं प्रक्रियते ॥ १ ॥ दर्विहोमशब्दस्य कर्म-
नामधेयताधिकरणम् ॥ १ ॥

स लौकिकानां स्यात् कर्त्तुस्तदाख्यत्वात् ॥ २ ॥

यदा कर्मनामधेयं, तदा चिन्त्यते, किं लौकिकानां स्मार्त्तानां
कर्मणामष्टकादीनां नामधेयं दर्विहोमशब्दः? उत सर्वेषामेव लौकिका-
नां वैदिकानाम्चेति । किं प्राप्तम् । स लौकिकानां स्यात् । स खलु
दर्विहोमशब्दो लौकिकानां कर्मणां नामधेयं स्यात् । कुतः । कर्त्तु-
स्तदाख्यत्वात् । तेषां कर्त्ता, तेन दर्विहोमशब्देन समाख्यायते ।

शिनीनां दार्विहोमिको ब्राह्मणः, अम्बष्ठानां दार्विहोमिको ब्राह्मण इति । यश्च यत् करोति स तेन आख्यायते । यथा, लावकः, पावक इति । यदि चाष्टकादीनां नामधेयमेतत्, ततस्तेषां कर्मणां कर्त्ता दार्विहोमिकसमाख्यामर्हतीति । तस्माल्लौकिकानां नामधेयम् ॥२॥ पूर्व० ॥

सर्वेषां वा दर्शनाद्वास्तुहोमे ॥ ३ ॥

सर्वेषां लौकिकानां वैदिकानाञ्च नामधेयमेतत् । न लौकिकानामेव । कस्मात् । दर्शनाद् वास्तुहोमे । वास्तुहोमे हि वैदिके दार्विहोमत्वं दर्शयति । यदेकया जुहुयाद् दार्विहोमं कुर्यात् । पुरोऽनुवाक्यामनूच्य याज्यया जुहोति सदेवतत्वायेति ॥ ननु विपरीतमेतद्दर्शनं, यदेकया जुहुयाद् दार्विहोमं कुर्यात् । अदार्विहोमं सन्तमित्यापद्यते । यदि दार्विहोम एवासौ, तत एकया द्वाभ्यां च ह्यमानो दार्विहोम एव भवति । तत्रैतद्दर्शनं नोपपद्यते । यदेकया जुहुयाद् दार्विहोमं कुर्यादिति ॥ अत्रोच्यते । यदि लौकिकानामेव नामधेयं, न वैदिकानाम् । तत एकयापि ह्यमानोऽसौ नैव दार्विहोमो भवति । अलौकिकत्वात् तत्रैतद्वचनं नोपपद्यते । यदेकया जुहुयाद् दार्विहोमं कुर्यादिति । तस्माज्ज्ञापकमेवेदं वैदिकानां दार्विहोमत्वे । एवमपि ज्ञापकमुक्तम् । कुतः प्राप्तिः ? । उच्यते । होमशब्दस्य सामान्याभिधायित्वात् प्राप्तिः । तस्माल्लौकिकवैदिकानां नामधेयमेतत् ॥३॥ सिद्धान्तः ॥ दार्विहोमशब्दस्य लौकिकवैदिकाभयकर्मनामधेयताधिकरणम् ॥ २ ॥

जुहोतिचोदनानां वा तत्संयोगात् ॥ ४ ॥

लौकिकानां वैदिकानाञ्च नामधेयं दार्विहोमशब्द इति स्थितम् । इदानीं चिन्त्यते । किं यजतिचोदनानां जुहोतिचोदनानाञ्च सर्वेषां नामधेयम्, उत जुहोतिचोदनानामेवेति । अविशेषात् सर्वेषामिति प्राप्ते, उच्यते । जुहोतीनां नामधेयं, न यजतीनाम् । कुतः । तत्संयोगात् । होमशब्दसंयोगात् । अयं होमशब्दो जुहोतेर्वाचको, न यजतेः । यजतौ लक्षणया स्यात् । तस्माज्जुहोतिनामधेयम् ॥ ४ ॥ दार्विहोमशब्दस्य होमनामधेयताधिकरणम् ॥ ३ ॥

द्रव्योपदेशाद्वा गुणाभिधानं स्यात् ॥ ५ ॥

स्थितादुत्तरमुच्यते, यदुक्तं कर्मनामधेयं दार्विहोम इति । तन्न । किं तर्हि । गुणाभिधानं स्यात् । गुणविधिरित्यर्थः । कुतः । द्रव्योप-

देशात् । द्रव्योपदेशोऽवगम्यते, दर्व्या होमो दर्विहोम इति । एवमेतौ दर्विहोमशब्दौ यथाप्रसिद्धिकल्पितौ भविष्यतः । तस्माद् गुणविधिः ॥ ५ ॥ पूर्व० ॥

न लौकिकानामाचारग्रहणत्वाच्छब्दवतां
चान्यार्थविधानात् ॥ ६ ॥

नायं गुणविधिर्युज्यते । किं कारणम् । लौकिकानां तावदाचार-
मृहीता दर्विः । त्वग्बिलया मूलदण्डया दर्व्या जुहोतीति । सा न
विधातव्या । श्रौतानामप्यन्यानि होमार्थानि पात्राण्याम्नातानि ।
रूवेण जुहोति, चमसेन जुहोतीति । तैः सह दर्वेर्विकल्पः स्यात् ।
स चान्यार्यः । यत्कारणं रूवादीनां विधायकः शब्दोऽस्ति । रूवेण
जुहोतीति । न तु दर्वेः । तत्र हि आनुमानिको विधिशब्दः ॥६॥ सि०॥

दर्शनाच्चान्यपात्रस्य ॥ ७ ॥

अन्यच्च पात्रं दर्विहोमे दृश्यते । भूतेभ्यस्त्वत्यपूर्वां रूवमुद्-
मृह्णातीति । तस्मान्न गुणविधिः ॥ ७ ॥ युक्तिः ॥

तथाग्निहविषोः ॥ ८ ॥

अथोच्येत, अग्निहविषोः कार्य्यं दर्विर्भविष्यति । दर्वी होमो
दर्विहोमो, दर्वेर्वा होमो दर्विहोम इति । तत्र घ्नमः । तथाग्निहविषोर-
पि । यथा पात्रकार्य्यं दर्विर्न युज्यते, तथाग्निहविषोः कार्य्येऽपि ।
तत्राप्याहवनीय आधारत्वेन विहितः । यद् आहवनीये जुहोतीति ।
अन्यच्च प्रदेयत्वेन पुरोडाशादि । तस्माद् अग्निहविषोरपि कार्य्यं न
दर्वेर्निवेशः ॥ ८ ॥ आ० नि० ॥

उक्तश्चार्थसम्बन्धः ॥ ९ ॥

उक्तं चास्माभिरग्नेः कार्य्येऽन्यद् द्रव्यमसमर्थम् । दहनपठनप्र-
काशनकर्म अग्नेः । न चैतद् कार्य्यमन्यद् द्रव्यं शक्नोति कर्तुमिति ।
तस्मान्नाग्निकार्य्यं दर्वेरुपदेशः । अतो न गुणविधिः । कर्मनामधेय-
मेव दर्विहोमशब्द इति ॥ ९ ॥ युक्तिः ॥ दर्विहोमशब्दस्य गुणविधि-
परत्वनिराकरणाधिकरणम् ॥ ४ ॥

दर्विहोमशब्दः कर्मनामधेयमित्युक्तम् । तत्र चिन्त्यते । किम-
पूर्वा दर्विहोमाः, उत कुतश्चिद्धर्मग्राहिण इति । किं प्राप्तम् । नापूर्वा
इति । कुतः । इतिकर्त्तव्यताऽविधेः । अविहितेतिकर्त्तव्यताकं कर्म

विहितेतिकर्तव्यताकाद् धर्मान् गृह्णातीत्युक्तम् । अविहितेतिकर्तव्य-
ताकाश्चामी । तस्मात् पूर्ववन्त इति । यदैतदेवं, तदैतदापतति । किं
पूर्वाः ? इति । अत्रोच्यते—

तस्मिन् सोमः प्रवर्त्तताव्यक्तत्वात् ॥ १० ॥

तस्मिन् खलु दर्विहोमे सोमः प्रवर्त्तत । सौमिको विध्यन्तः
स्यात् । कुतः । अव्यक्तत्वात् । अव्यक्तचोदनः सोमः । अमी अपिच
अव्यक्तचोदनाः । भिक्षे जुहोतीति । अतश्चोदनासामान्यात् सौमिको
विध्यन्त इति ॥ १० ॥ पूर्व० ॥

न वा स्वाहाकारेण संगोगाद्वषट्कारस्य च

निर्देशात्तन्त्रे तेन विप्रतिषेधात् ॥११॥

वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । नात्र सौमिको विध्यन्तो न्याय्यः ।
किं कारणम् । स्वाहाकारेण संयोगात् । स्वाहाकारेण संयुक्ता दर्वि-
होमाः । पृथिव्यै स्वाहा अन्तरिक्षाय स्वाहेति । किमतः । वषट्कारस्य
निर्देशात्तन्त्रे तेन च विप्रतिषेधः । तन्त्रे च सौमिके वषट्कारो नि-
र्दिष्टः । तेनास्य विप्रतिषेधः । उभयोः प्रदानार्थत्वात् । यदि सौमिको
विध्यन्तः, ततो वषट्कारेण भवितव्यम् । तत्रैतत् स्वाहाकाराम्ना-
नर्थकं स्यात् । अथ विकल्पः क्रियते, तथाप्युभयोः पक्षे बाधः ।
अथ त्वपूर्वा दर्विहोमाः, नैषविरोधो भविष्यति। तस्मादपूर्वाः ॥११॥ सि०
शब्दान्तरत्वात् ॥ १२ ॥

शब्दान्तरं च यजतिशब्दाज्जुहोतिशब्दः यजतिचोदनश्च सोमः ।
दर्विहोमाः पुनर्जुहोतिचोदनाः । चोदनासामान्येन च धर्मप्राप्ति-
रिष्यते । तस्मादप्ययुक्ता सौमिकी धर्मप्राप्तिः । नन्वव्यक्तत्वाच्चो-
दनासामान्यमुक्तम् । अत्रोच्यते । सामान्येऽव्यक्तत्वे, यजतिशब्दो
विशेषलिङ्गम् । तेन यजिमतीष्वव्यक्तासु धर्मनियमः । यथा समाने
औषधगुणत्वे देशतैकत्वेन विशेषलिङ्गेन सौर्यकर्मणि आग्नेय-
विध्यन्त इति ॥ १२ ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ १३ ॥

लिङ्गदर्शनाच्चैतद्विज्ञायते, नात्र सौमिको विध्यन्त इति । औदु-
म्बरीहोमे हि स्वाहाकारं विज्ञाय आज्यविधिपरे वाक्ये दर्शयति ।
घृतेन घात्रापृथिवी आपृणेत्यन्तरा कणा जुहोति। आ मूलाद् अबस्ना-

व्यति । भूमिगते स्वाहा करोतीति । यद्यत्र सौमिको विध्यन्तः स्या-
द् वषट्कारस्ततो भवेद्, न स्वाहाकारः ॥ १३ ॥ हेतुः ॥

उत्तरार्थस्तु स्वाहाकारो यथा साप्तदश्यं तत्राविप्रति-
षिद्धा पुनः प्रवृत्तिलिङ्गदर्शनात् पशुवत् ॥१४॥

लिङ्गदर्शनस्य परिहार उच्यते । यदुक्तम् । औदुम्बरीहोमे सिद्ध-
वत् स्वाहाकारस्य दर्शनात् सौमिको विध्यन्त इति । अत्र ब्रूमः ।
उत्तरार्थस्तु स्वाहाकारो यथा साप्तदश्यम् । तद् यथा, साप्तदश्यम-
नारभ्याधीतं सप्तदश सामिधेनीरन्वाहति । अनारभ्यवादानां प्रकृ-
त्यर्थत्वाद्दर्शपूर्णमासावगतम् । ततः प्राकरणिकेन पाञ्चदश्येन वा-
धितंसद् विकृत्यर्थं जातमेवमयं स्वाहाकारोऽनारभ्याधीतः । स्वाहा-
कारेण वषट्कारेण वा देवेभ्यो हविः प्रदीयते इति । तेनैव न्यायेन
प्रकृतिं निविविधुः सोमं दर्शपूर्णमासौ च । ततस्तथैव वषट्का-
रणोपरुद्धः । तद्वर्जमन्यानि प्रदानान्युपसंक्रामति । तत्र अविप्रति-
षिद्धा सोमधर्मप्रवृत्तिः । पशुवत् । तद्यथा पशौ साप्तदश्ये श्रूय-
माणे न दार्शपौर्णमासिकी तत्र प्रवृत्तिर्विप्रतिषिद्ध्यते । वाचनिकत्वा-
त् साप्तदशस्य । एवमिहापि वाचनिकत्वात्, स्वाहाकारं प्रति लिङ्ग-
दर्शनात् सौमिकधर्मप्रवृत्तिर्विप्रतिषिद्ध्यते । पुनःशब्दश्चानर्थकः ।
यथा किं पुनरिदमिति ॥ १४ ॥ आ० ॥

अनुत्तरार्थां वार्थवत्त्वादानर्थक्याद्धि प्राकृतस्योप
राधः स्यात् ॥ १५ ॥

यदुक्तम्, उत्तरार्थः स्वाहाकार इति । तन्न कुतः । अनुत्तरार्थः ।
अर्थवत्त्वात् । प्रकृतौ एवास्यार्थवत्त्वं नारिष्टहोमेषु । पार्वणहोमयो-
श्च पूर्णमासाय सुराधसे स्वाहा इति । अनर्थकत्वाद्धि प्राकृतस्यो-
परोधः स्यात् । यदि प्रकृतौ अनर्थकः स्यात् स्वाहाकारः, ततः
प्राकृतस्य वषट्कारस्य विकृतौ प्राप्तस्यानारभ्यवादेन स्यादुपरोधः,
वषट्कारबाध इत्यर्थः । न त्वस्यानर्थक्यम् । तस्मान्नोत्तरार्थः । न
चेदुत्तरार्थः, लिङ्गमेवैतद् भवति । असोमपूर्वत्वे दर्विहोमानां, भूमि-
गते स्वाहा करोतीति ॥ १५ ॥ आ० नि० ॥

न प्रकृतावपीतिचेत् ॥ १६ ॥

एवं चेत् पश्यसि, नारिष्टहोमेषु पार्वणहोमयोश्च स्वाहाकारस्य

निवेश इति । प्रकृतौ अपि नारिष्टहोमादौ नास्य निवेशो घटते । तत्रापि वषट्कार एव प्राप्नोति । स हि अविशेषेण दर्शपूर्णमासयोर्विहितः । द्व्यक्षरो वषट्कार एष वै प्रजापतिः सप्तदशो यज्ञे अन्वायत्ते इति । ननु स्वाहाकारोऽपि प्रत्यक्षं पठितः । सत्यं पठितः । वषट्कारस्तु विहितः । अतश्चोदना इति । नास्य यज्ञो व्यथते प्रजापतौ यज्ञेन प्रतितिष्ठतीति स्वाहाकारं पाठेन प्राप्तं बाधते । पाठे हि अनुमानिको विधिः प्रत्यक्षेण विधिना बाध्यते । न चेत् तत्रापि निवेशः, उत्तरार्थं एव स्वाहाकारो भवति विकृत्यर्थः ॥ १६ ॥ आ० ॥

उक्तं समवाये पारदौर्बल्यम् ॥ १७ ॥

अत्राह । नैतद् युक्तं, वषट्कारेण स्वाहाकारो बाध्यते इति । कुतः । यत उक्तं श्रुत्यादीनां समवाये परस्य दुर्बलत्वम् । इह च वाक्यप्रकरणयोः सन्निपातः । प्रकरणेन वषट्कारः प्राप्नोति । नारिष्टहोमेषु तन्मन्त्रपदैरेकवाक्यत्वात् स्वाहाकारः । वाक्यं च प्रकरणाद्बलीयः । ननु स्वाहाकारस्योपरिष्ठात् प्रदानार्थं वषट्कारः प्रयोक्ष्यते । न खलु स्वाहाकारेणैव प्रदानं निर्वर्त्तितम् । कथमविहितः प्रदानार्थं स्वाहाकारः प्रदानार्थं निर्वर्त्तयिष्यति ? विहितश्च कथं स्वाहाकारेण वा वषट्कारेण वा देवेभ्यो हविः प्रदीयते ? इति ॥ ननुभयोः स्वाहाकारवषट्कारयोः प्रकृतावाप्तानादनारभ्य वादस्यानर्थक्यम् । अत उच्यते, प्रदानार्थतामनयोर्विधास्यति । तस्मान्न सोमप्रकृतयोर्दर्विहोमाः ॥ १७ ॥ आ० नि० ॥

तच्चोदना वेष्टेः प्रवृत्तिस्वाध्विधिः स्यात् ॥ १८ ॥

वाशब्दः पक्षान्तरपरिग्रहे । तच्चोदना वा । तदित्यनेन दर्विहोमाः प्रतिनिर्दिश्यन्ते । जुहोतिच्चोदना ये दर्शपूर्णमासयोरङ्गकर्मविशेषास्ते दर्विहोमेषु प्रवर्त्तरन् । के पुनस्ते । नारिष्टहोमाः । कस्मात् कारणात् । ते हि प्रवृत्तधर्माणः, सर्वेष्टिषु सर्वपशुबन्धेषु प्रवर्त्तमाना दृष्टाः । यस्य च यो धर्मः प्रायेण दृष्टः, स तस्यादृश्यमानोऽप्यनुमीयते । यथा यः परार्थान् प्रायेण करोति, अन्यस्मिन्नपि परार्थकरणे स एव सम्भाव्यते । तस्मात् तेषां प्रवृत्तिः ॥ १८ ॥ पूर्व० ॥

शब्दसामर्थ्याच्च ॥ १९ ॥

शब्दसामर्थ्यं च । चोदनासामान्यं, दर्विहोमानां, नारिष्टहोमेषुपि

हि जुहोतिचोदना । नारिष्टाञ्जुहोति, भिन्ने जुहोतीति । चोदना-
सामान्याद्धर्मप्राप्तिः ॥ १९ ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २० ॥

लिङ्गं चैतमर्थं दर्शयति । यथा नारिष्टहोमपूर्वत्वं दर्विहोमाना-
मिति । किं लिङ्गं भवति । अग्निहोत्रे श्रूयते, यदि कीटोऽवपद्यता-
न्तःपरिधिं निनयेदिति । तथा अग्नौ श्रूयते, अन्तर्वेदि तिष्ठन् सावित्रा-
णि जुहोतीति । परिधयो वेदिश्चाङ्गप्रधानार्थत्वान्नारिष्टहोमाङ्गम् ।
यदि तेषां धर्माः प्रवर्त्तन्, तत एतद्दर्शनमुपपद्यते । तस्मात् तेषां
प्रवृत्तिः ॥ २० ॥ हेतुः ॥

तत्राभावस्य हेतुत्वाद् गुणार्थं स्याददर्शनम् ॥ २१ ॥

यदेतद् गुणार्थं नारिष्टहोमार्थं दर्शनमुपदिष्टं, नारिष्टहोमानां
प्रवृत्तावित्यर्थः । अदर्शनं तद्, असाधकमित्यर्थः । कुतः । तत्राभावस्य
हेतुत्वात् । इयम्बकेषु अप्रतिष्ठिता वै इयम्बका इत्याहुः । नेध्मा बर्हिः
संनह्यते, न प्रयाजा इज्यन्ते, नानुयाजा इज्यन्ते, न सामिधेनीरन्वाहेति
अप्रतिष्ठितत्वं इयम्बकाणां प्रतिज्ञाय तदुपपादनार्थमिध्मादीनामभावो
हेतुत्वेनोपदिश्यते । यदि च नारिष्टहोमाः प्रवर्त्तन्, ततोऽङ्गप्रधाना-
ऽर्थत्वादिध्माबर्हिषोः सामिधेनीनां च इयम्बकेषु भाव एव स्यात् ।
तत्रायं तदभावोऽस्त्वाद् हेतुत्वेन न युज्यते । तस्मान्नारिष्टहोमाना-
मप्रवृत्तिः ॥ २१ ॥ उत्तरम् ॥

विधिरितिचेत् ॥ २२ ॥

इति चेत् पश्यसि, दर्शनमेतदिति । अथ कस्माद् विधिर्न भवति
नारिष्टहोमप्रकृतित्वात् । प्राप्तानामिध्मादीनां प्रतिषेधको विधिः सन्
अपूर्वमर्थं विधास्यति । अनुवादोऽप्रवृत्तिविशेषकरोऽनर्थकः स्यात् ।
स्थितायां प्रतिज्ञायां सूत्रेण परिचोदयति ॥ २२ ॥ आ० ॥

न वाक्यशेषत्वाद् गुणार्थं च समाधानं नाना-
त्वेनोपपद्यते ॥ २३ ॥

नार्यं विधिर्युज्यते । किं कारणम् । अन्योऽत्र विधिराम्नातः ।
आदित्यं घृते चरं निर्वपेत्, पुनरेत्य गृहेष्विति । तस्य वाक्यशेषो-
ऽयम् । कथं ज्ञायते । तेन आकाङ्क्षितत्वात् । अप्रतिष्ठिता वै इयम्ब-
का इति दोषमनुकीर्त्य इदं श्रूयते । आदित्यं घृते चरं निर्वपेत्

पुनरेत्य गृहेष्विति । इयं वा अदितिरियं प्रतिष्ठा यद् आदित्योऽस्या-
मेव प्रतितिष्ठतीति । तदेतत् तस्य दोषस्य परिहारार्थमिति विज्ञाय-
ते । अतस्तेन सहैकवाक्यतां याति । तन्मध्ये च ये इध्माद्यभाववचना-
स्तेऽपि तच्छेषा एव समुच्चारणान्याय्याः । ते यदि विधयः कल्पे-
रन् पृथग्वाक्यानि भवेयुः, तत्रैकवाक्यरूपं बाध्येत । व्यवहितकल्पना
च स्यात् । नचैषां विधायकत्वम् । अनुवादस्वरूपत्वात् । तस्मान्न
विधयः । अथ कोऽत्र विशेषो, यत् समाने लिङ्गत्वे अन्तःपरिधि
दर्शनमसाधकमितरत् साधकम् ? इति । विशेषमुपरिष्ठाद् वक्ष्या-
मः ॥ २३ ॥ आ० नि० ॥

येषां वाऽपरयोर्होमस्तेषां स्यादविरोधात् ॥ २४ ॥

येषां वा यागानामपरयोः अग्न्योर्होमः, तेषां प्रवृत्तिः स्यात् ।
पत्नीसंयाजानामित्यर्थः । कुतः । अविरोधात् । तत्र विरोधो नास्ति,
यो नारिष्टहोमानां प्रवृत्ताबुक्तः । तत्राभावस्य हेतुत्वादिति । तेषां हि
इध्मा बर्हिः सामिधेन्यश्च नैत्राङ्गम् । तदभावदर्शनं तत्र न विरुद्ध्यते ।
प्रवृत्तिधर्माणस्तेऽपि जुहोतिचोदनाश्च । सह पत्न्या जुहांतीति ।
तस्मात् तेषां प्रवृत्तिः ॥ २४ ॥ पूर्व० ॥

तत्रौषधानि चोद्यन्ते तानि स्थानेन गम्येरन् ॥ २५ ॥

नैतद् युक्तम् । किं कारणम् । यतस्तत्रौषधानि चोद्यन्ते दर्वि-
होमे । यथा त्र्यम्बकेषु पुरोडाशः करम्भपात्राणि तण्डुला इत्यवमा-
दीनि । तानि स्थानेन गम्येरन् । आज्यस्थानापत्त्या आज्यधर्माः
प्राप्येरन् । ते न शक्यास्तत्रानुष्ठातुम् । अनुष्ठीयमाना वा अकृतकार्याः
स्युः । तत्र चोदको बाध्येत । तस्मान्न तेषां प्रवृत्तौ किञ्चित् प्रयो-
जनमस्ति । याज्यानुवाक्ये अपि मन्त्रान्तरेण निवर्त्येते, वषट्कारः
स्वाहाकारेण ॥ २५ ॥ उत्तरम् ॥

लिङ्गाद्वा शेषहोमयोः ॥ २६ ॥

पिष्टलेप-फलीकरणहोमयोर्वा प्रवृत्तिः स्यात् । कुतः । लिङ्गात् ।
औषधसामान्यात् । यश्च पत्नीसंयाजानां प्रवृत्तौ दोष उक्तो धर्मा-
णामानर्थक्यं, तदत्र नास्ति । तत्र औषधधर्मा निर्वपणादयः शक्याः
कर्तुम् । तस्मात्तयोः प्रवृत्तिरिति ॥ २६ ॥ पूर्व० ॥

प्रतिपत्ती तु ते भवतस्तस्माद्वत्प्रकारत्वम् ॥ २७ ॥

न त्वेतदेवम् । कुतः । यतः प्रतिपत्तिकर्मणी एतौ होमौ । द्वि-
होमाश्च प्रधानकर्माणि । तेषां दूरतो भेदः । सामान्यतश्च धर्मप्रा-
प्तिरिष्यते । यच्चोक्तम्, औषधधर्माः शक्यास्तत्र कर्तुमिति । प्रति-
पत्तित्वाद्प्रयोजकौ एव निर्वपणादीनां धर्माणाम् । अतस्तत्प्रकृतित्वं
तेनैव न्यायेन नोपपन्नम् । नापि प्रयोजनवत् । तस्मादेतदप्ययुक्तम् ।
एवं न कुतश्चिदपि द्विहोमानां धर्मप्राप्तिर्युज्यते । तस्मादपूर्वः ॥
॥ २७ ॥ उत्तरम्

सन्निपाते विरोधिनामप्रवृत्तिः प्रतीयेत विध्युत्पत्ति-
व्यवस्थानादर्थस्यापरिणेतत्वाद् वचनादति-
देशः स्यात् ॥ २८ ॥

अथ कस्मादुभयपक्षसाधनानामपि लिङ्गानामभावे अवृत्तिरेव
प्रतीयते, न पुनः प्रवृत्तिः ? इति । उच्यते । सन्निपाते विरोधिनामंतेषां
लिङ्गानां प्रवृत्तिः प्रत्येतुं न न्याय्या । कुतः । विध्युत्पत्तिव्यवस्थानात् ।
विधीनामुत्पत्तिः पाठः । स च व्यवस्थितः । केचिद्दर्शपूर्णमासयोः
पठ्यन्ते, केचित् सोमे । तेषामर्थस्यापरिणेतत्वम् । यत्र पठितास्ततां-
ऽन्यत्र परिणीयमानेषु प्रकरणं बाध्यते । तस्माद्प्रवृत्तिः प्रतीयेत ॥
तत्राह । किमेष एवोत्सर्गः सर्वत्राप्राप्तिः ? इति । एवं खलु प्राप्ते, उच्यते ।
वचनादतिदेशः स्यात् । यथा राष्ट्रभृतामुद्राहकर्मसु । असति एवं-
विधे वचने अपूर्वा इति । अथ ये लिङ्गे अपदिष्टे, यदि कीटोऽवपद्ये-
त, अन्तःपरिधिं निनयेत्, अन्तर्वेदिं तिष्ठन् सावित्राणि जुहोतीति ।
तयोः कः समाधिः । उच्यते । अन्यायपूर्वत्वाल्लक्षणया वादः स वि-
ज्ञायते । अन्तःपरिधिदेशे अन्तर्वेदिदेशे इति । परिधीनां वेदेश्च तत्राभा-
वात् । यथा रजनी मे कण्डूयति, तिलको मे स्पन्दते इति । रागाभावे
तिलकाभावे च तद्देशलक्षणया भवन्ति वक्तार इति ॥ २८ ॥ आ० नि० ॥
द्विहोमशब्दस्यापूर्वताधिकरणम् ॥ ५ ॥

इति श्रीभट्टशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये

अष्टमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः .

सम्पूर्णः ॥ ८ ॥ ४ ॥

समाप्तश्चायमष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ नवमस्याध्यायस्य प्रथमः वादः ॥ ९ ॥ १ ॥

यज्ञकर्म प्रधानं तद्धि चोदनाभूतं तस्य द्रव्येषु
संस्कारस्तत्प्रयुक्तस्तदर्थत्वात् ॥ १ ॥

अष्टमेऽध्याये विशेषातिदेशलक्षणं वृत्तम् । इदानीमूहलक्षणं व-
र्त्तयिष्यामः । त्रिविधश्च ऊहः । मन्त्रसामः संस्कारविषयः । स इह
प्राधान्येन वक्ष्यते । अन्यदपि किञ्चिदुपोद्धातेन प्रसङ्गेन च । आदित-
स्त्वयमर्थश्चिन्त्यते लक्षणसिद्धयर्थम् । अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ
ज्योतिष्टोमश्चोदाहरणम् । तत्र पृथग्धर्माः समाप्नाताः । तेषु संशयः किं
ते अपूर्वप्रयुक्ताः ? उत यजिप्रयुक्ता इति । अपूर्वप्रयुक्तेषु सन्सु ऊहः
सिद्ध्यति । यजिप्रयुक्तेषु तु सङ्करो धर्माणाम् । कथमिव । सर्वे हि ते
यजतयः । यजतिस्मान्ये यजतिशब्दवाच्ये धर्मा विधीयमानाः
सर्वत्र भवितुमर्हन्ति । अपूर्वप्रयुक्तत्वे तु, तदीयविशेषे विधीयमाना
अन्यस्मिन्नपि तदीयविशेषापन्ने भविष्यन्ति । तस्मात् तत्र ऊहः
सिद्धो भवति ॥ नन्वेतद् सर्वं सप्तमे विचारितं, निर्णीतं च । उच्य-
ते । पुनस्तदेव स्मार्यते, उत्तरचिन्ताविवक्षया । अथवा तत्र योऽर्थो
नोक्तः, तद्विवक्षयेदमुच्यते । कश्चासौ । तस्य द्रव्येषु संस्कारस्तत्प्र-
युक्तस्तदर्थत्वादिति । एतेन चेह प्रयोजनमूहं विवक्षितः । एवं हि स
सिद्ध्यति । तत्रैतन्नोक्तम् । नैतेन तत्र प्रयोजनमिति । तत्रत्या एता-
वती चिन्ता । किं प्रतिप्रकरणं नियता धर्माः ? उत सर्वे सर्वत्रेति ।
तद् अपूर्वप्रयुक्तत्वे यजिप्रयुक्तत्वे च सिद्ध्यति, न द्रव्यसंस्कारस्यापू-
र्बार्थत्वे । तत्त्विह सिद्धम् । तत्रापुर्वप्रयुक्तत्वसिद्धौ व्यवहारार्थमसू-
त्रितमुपादीयते । तस्मादपुनरुक्तम् ॥ ॥ प्रथमवर्णकम् ॥ १ ॥

अथवा, अन्यामेव चिन्तामिह वक्ष्यामः । किं यजिनिमित्ता धर्मा
अपूर्वप्रयुक्ताः ? उत अपूर्वनिमित्ता अपूर्वप्रयुक्ताश्चेति । इदानीं तु,
यजिप्रयुक्ताः ? अपूर्वप्रयुक्ता वा इति चिन्त्यते । किं तावत् प्राप्तम् ।
यजिप्रयुक्ता इति । कुतः । यजिशब्देनैतिकर्त्तव्यताया अभिसम्बन्धा-
त् । एवं यागं कुर्यात् । एवं यागेन कुर्यादिति ॥

एवं प्राप्ते भ्रूमः । यजत्यर्थस्य यत् कार्यं, तत् प्रधानम् । तद्धि
कर्त्तव्यतया चोद्यते । यत्र कर्त्तव्यता, तत्रैवेतिकर्त्तव्यता । अथ यदु-
क्तं, यजतिशब्देनाभिसंयोगो धर्माणामिति । तदुच्यते । तस्य द्रव्येषु

यजतौ च यः संस्कारः, स तत्प्रयुक्तः अपूर्वप्रयुक्तः । तदर्थत्वात् । यजतेर्द्रव्याणां च तदीयत्वेन धर्मैरभिसम्बन्धो, न स्वेनात्मना । न हि धात्वर्थस्य च धर्माणां च परस्परं आकाङ्क्षा विद्यते । प्रत्ययाऽर्थेन हि इतिकर्त्तव्यता आकाङ्क्षयते । कर्त्तव्यं कथमिति, न यजिः कीदृशः ? इति । तस्माद् यत् कर्त्तव्यं, तस्यैवेतिकर्त्तव्यतया सम्बन्धः । अपूर्वं च तत् । तस्मादपूर्वप्रयुक्ता इति ॥ द्वितीयवर्णकम् ॥२॥

एवं वा । एतेष्वेवोदाहरणेष्विति चिन्त्यते । किं यजिनिमित्ता धर्मा अपूर्वप्रयुक्ताः ? उत अपूर्वं प्रयोजकं निमित्तं चेति । किं प्राप्तमायजिनिमित्तम्, अपूर्वं प्रयोजकमिति । कुतः । नैकस्य प्रयोजकत्वं निमित्तभावश्चापपद्यते । यदर्थं हि क्रियन्ते धर्मास्तत्र प्रयोजकम् । यस्मिन् सति क्रियन्ते, तन्निमित्तम् । न चैकस्मिन् शब्द अपूर्वायैते, अपूर्वं च भवन्तीति शक्यं वदितुम् । अन्या हि वचनव्यक्तिरपूर्वार्थेषु, अन्या चापूर्वं सतीति । यजिनिमित्तत्वे तु शब्दोऽवकल्पते । एवं यागेन कुर्यादिति । यागे सति अपूर्वस्योपकारकाणि, असति अनुपकारकाणि अङ्गानीति । तस्माद् यजिनिमित्तम्, अपूर्वं तु प्रयोजकमिति ॥ एवं प्राप्तं ब्रूमः । यज्ञकर्म प्रधानं, यजतेः कार्यम् । तद्धि फलवच्चोद्यते । तदीयेषु द्रव्येषु यजतौ च यः संस्कारः, सोऽपूर्वप्रयुक्तः । तदर्थस्ते इति कृत्वा क्रियन्ते, न यज्यर्थेन तेषामभिसम्बन्धः । प्रयोगवचनेनैते प्रत्ययार्थेन सम्बध्यन्ते । स हि साकाङ्क्षो, न धात्वर्थः । तस्मादपूर्वप्रयुक्ता अपूर्वनिमित्ताश्च । यदुक्तम् । अपूर्वस्य प्रयोजकत्वं निमित्तभावश्च नोपपद्यते । वचनव्यक्तिभेदादिति । तत्रोच्यते । प्रयोजकत्वं वाचनिकम् । निमित्तभावश्च नैव वचनाद्भविष्यतीति । यद्धि येन प्रयुज्यते, भवति तत्र तस्य निमित्तम् । यथा, आरामपोषकस्यारामो वेतनदाने प्रयोजको निमित्तं च । आरामे सति तस्मै वेतनं दीयते । वेतनसम्बन्धो भवति आरामं रक्षितुम् । तस्माद् धर्माणामपूर्वमेव प्रयोजकं निमित्तं चेति ॥ १ ॥ तृतीयवर्णकम् ॥ ३ ॥ अग्निहोत्रादिषु उक्तानां धर्माणामपूर्वप्रयुक्तत्वाधिकरणम् ॥ वर्णकान्तरद्वयसहितम् ॥ १ ॥

संस्कारे युज्यमानानां तादर्थ्यात्तत्प्रयुक्तं स्यात् ॥ २ ॥

दर्शपूर्णमासौ प्रति समामनन्ति, प्रोक्षिताभ्यामुलूखलमुसलाभ्यामवहन्ति । प्रोक्षिताभ्यां हृषदुपलाभ्यां पिनष्टीति । तत्रायमर्थः

सांशयिकः । किं प्रोक्षणं हन्तिपिषिप्रयुक्तम्, उतापूर्वप्रयुक्तमिति । किं प्राप्तम् । संस्कारे हन्तिपिष्याख्ये प्रयुज्यमानस्य प्रोक्षणस्य तत्प्रयुक्तता स्यात् । संस्कारप्रयुक्तता । संस्कारौ हि हन्तिपिषी । कुन एतत्प्रयुक्ततेति । तादर्थ्यात् । यच्च येन कर्त्तव्यं भवति, तत् तस्य प्रयोजकम् । यदि अपूर्वमनेन क्रियते, ततोऽस्यापूर्वं प्रयोजकम् । यदि हन्तिपिषी, तनस्तौ प्रयोजकौ । प्रकरणाच्चापूर्वं कर्त्तव्यं गम्यते । वाक्याद् हन्तिपिषी । वाक्यं च प्रकरणाद् बलीय इति ॥

ननु हन्तिपिष्योः क्रियमाणमपूर्वार्थं भविष्यति । तत्र प्रकरणं च वाक्यं चोभयमप्यनुग्रहीष्यते । उच्यते । न शक्यमुभयमनुग्रहीतुम् । न प्रकरणसमाज्ञायमात्रेण प्रकरणवतोऽर्थेन समाज्ञातमिति गम्यते । प्रकरणसमाज्ञानात् प्रकृतनैकवाक्यता भवति । ततस्तादर्थ्यमवगम्यते । इह तु प्रत्यक्षाभ्यां हन्तिपिषिभ्यां प्रोक्षणस्यैकवाक्यता । सा प्रकृतनैकवाक्यता पराक्षां घाघेत । न च द्वाभ्यामपि सहैकवाक्यता स्यात् । यदा एकनैकवाक्यता, तदा तेन निराकाङ्क्षस्य नान्येनाप्येकवाक्यता कल्प्यते । तस्मात् प्रकृतेन एकवाक्यत्वाभावात्तत्पूर्वार्थं प्रोक्षणम् ॥ आह । ननु हन्तिपिषी अपूर्वार्थो । तदर्थं प्रोक्षणम् । तस्माद् पूर्वस्योपकारकमिति । उच्यते । भवति प्रणाख्या उपकारकम् । न त्वपूर्वप्रयुक्तम् । द्विविधं हि अङ्गम् अङ्गस्योपकारकं भवति । किञ्चिद् अपूर्वस्यैतदङ्गं विशिष्टमित्यनेन कारणनाङ्गेन सम्बद्ध्यते, किञ्चिदनपेक्ष्यैवापूर्वसम्बन्धं, स्वरूपेणैव कारणेन सम्बद्ध्यते । यद् अपूर्वसम्बन्धं कारणत्वेनोपादाय धर्मजातमङ्गविशेषेण सम्बद्ध्यते, तद् अपूर्वप्रयुक्तं भवति । तादृशं च विकृतौ अर्थान्तरे तत्कार्योपपत्ते ऊहितव्यं भवति । तत्र पुनः स्वरूपमङ्गस्य धर्मसम्बन्धे कारणं भवति । तत् स्वरूपप्रयुक्तम् । तत्र यद्यपि तेन धर्मवता अपूर्वं साध्यते । तत्र साध्यमानमपूर्वं न धर्मस्य प्रयोगहेतुभूतं भवति, न तत् प्रयोजकं, तस्य स्वरूपं विद्यते इति न धर्मः प्रयुज्यते । तत्र विकृतौ अर्थान्तरे तद्रूपभावाद् ऊहो नावकल्पते । एवं सति वाक्याभिर्णयः । यदि वाक्यमपूर्वस्य कारणतां वदति, ततोऽपूर्वप्रयुक्तम् । अथाङ्गस्य, ततोऽङ्गप्रयुक्तम् । तच्चोक्तप्रकरणाद् पूर्वप्रयुक्तं स्यात् । वाक्यास्तु अङ्गप्रयुक्तता इति । तस्माद् हन्तिपिषिप्रयुक्तं प्रोक्षणमिति । यत्र यत्र हन्तिपिषी प्रयुज्यन्ते, तत्र तत्रैव धर्मकौ भवत इति ॥ २ ॥ पूर्व० ॥

तेन त्वर्थेन यज्ञस्य संयोगाद्धर्मसम्बन्धस्तस्माद्यज्ञ-
प्रयुक्तं स्यात् संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ ३ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । न त्वेतदस्ति, हन्तिपिषिप्रयुक्तं प्रोक्ष-
णमिति । तेन तु अर्थेन हन्तिना पिषिणा वा । यस्मादपूर्वस्य संयोगः,
तस्मात् तस्य प्रोक्षणसम्बन्धः । अपूर्वसाधनविशेषकारितः प्रोक्षण-
संस्कारेण सम्बन्धो, न हन्तिपिषिकारितः । कथम् । निष्प्रयोजनौ
हन्तिपिषी । यदि तत्प्रयुक्तं प्रोक्षणम् । तदपि निष्प्रयोजनम् । अतो
न तत्प्रयुक्तम् ॥ आह । अपूर्वस्यापकारकौ हन्तिपिषी न निष्प्रयो-
जनाविति । उच्यते । न प्रोक्षणस्यापूर्वस्य कश्चिदस्ति सम्बन्धः ।
यदि प्रोक्षणं न क्रियते, न हन्तिपिषी अपूर्वस्य साधनभावं न गच्छ-
तः । तस्माद् यद्यपि हन्तिपिषी अपूर्वस्य उपकारकौ, तथापि ता-
भ्यां सम्बद्ध्यमानं प्रोक्षणमनर्थकमेव ॥

अथोच्यते, यदर्थं हन्तिपिषी उपादीयेते, तत् प्रोक्षणसम्बद्धौ
शक्नुतः कर्तुं, नान्यथेति । उच्यते । नैवञ्जातीयकः शब्दोऽस्तीति ।
तत्राह । अयमेव शब्दएतमर्थमाभिवदतीति । कथम् । प्रोक्षिताभ्या-
मवहन्ति, प्रोक्षिताभ्यां पिनष्टीति यद् हन्तिपिषिभ्यां क्रियते, तत् प्रो-
क्षणसम्बद्धाभ्यामिति हन्तिपिषिकार्येण प्रोक्षणं सम्बद्ध्यते, न ता-
भ्यामिति । उच्यते । नैतदेवम् । यदि यद् हन्तिपिषिभ्यां क्रियते, तत्
प्रोक्षणेन अभिसम्बद्ध्यते, सम्बन्ध एव प्रोक्षणस्य न स्यात् । तद् हि
ताभ्यामभिनिर्वर्त्तयते । किमपरं, तत् प्रोक्षणमभिनिर्वर्त्तयेत् । अथ
प्रोक्षिताभ्यामपूर्वं क्रियते इति सम्बन्धः । न तर्हि हन्तिना पिषिणा
वा । अथ तत्सम्बन्धोऽप्युच्यते इति । अनेकसम्बन्धे वाक्यस्मिद्येत ।
तस्माद् हन्तिपिषिभ्यां प्रोक्षणं सम्बद्ध्यमानमप्रयोजनमिति प्रकरणा-
दपूर्वेण सम्बद्ध्यते ॥

नन्वेवं हन्तिपिषिसम्बन्धो नावकल्पयेत् । अवकल्पिष्यते इति भ्रूमः ।
कथम् । इह अवघातं प्रति यतमानस्य द्वयं निष्पद्यते । अवहन्ति-
रूपं, तण्डुलनिर्वृत्तिश्च । प्रणाख्या चापूर्वभावनाविशेषः । तण्डुल-
निर्वृत्तिर्हि अपूर्वोपकारः । सोऽवहन्तिक्रियया चिकीर्षितः । तेन
प्रोक्षणस्य सम्बन्धः । यद्यपि अवहन्तिरूपेण सम्बद्ध्यमाने प्रोक्षणे

भृत्या सम्बन्धो भवति । तथापि तत्र निष्प्रयोजनत्वाल्लक्षणैव आश्री-
यते । लक्षणा हि प्रत्यक्षा । सा अदृष्टकल्पनाया ज्यायसी । न च
अवहन्तिरारादुपकारकोऽपूर्वं निष्पादयति । दृष्टमुपकारं कुर्वन्नदृष्टेन
सामर्थ्येन समीचीनं करोतीतिगम्यते । यद्यपि च निष्पादयेत्, तथा
ऽप्युपकारेण असम्बन्धमानं प्रोक्षणं केवलावहन्तिसम्बन्धेन अन-
र्थकमेव स्यात् । अतोऽवहन्तिलक्षितेनोपकारविशेषेणास्य सम्बन्धः ।
तस्मादनवहन्तिरपि यस्तत्कार्य्यापन्नस्तत्र प्रोक्षणं भवत्येव । यथा-
नखनिर्भिन्ने चरणौ नखेषु । तस्मादपूर्वप्रयुक्त एवञ्जातीयको धर्म
इति ॥ ३ ॥ सिद्धान्तः ॥ प्रोक्षणस्यापूर्वप्रयुक्तत्वाधिकरणम् ॥ २ ॥

एवं वा । अस्ति ज्योतिष्टोमः । तत्रेदं समान्नायते । यावत्या
घाचा कामयेत्, तावत्या दीक्षणीयायामनुभूयात् । मन्द्रं प्रायणीयायां,
मन्द्रतरमातिध्यायाम्, उपांशु उपसत्सु इति । तन्नायमर्थः सांशयि-
कः । किं परमापूर्वप्रयुक्ता एते धर्माः, उत दीक्षणीयाद्यपूर्वप्रयुक्ता
इति । किं प्राप्तम् । परमापूर्वसंस्कारे दीक्षणीयाद्यपूर्वं युज्यमानस्य
अस्य धर्मस्य परमापूर्वार्थत्वादीक्षणीयादीनां परमापूर्वार्थत्वैव स्या-
त् । परमापूर्वं हि फलवत् । यत् कर्तव्यतयाऽभिसम्बद्ध्यते, तदेव
धर्मैरभिसम्बद्ध्यते, नाङ्गापूर्वम् । निष्प्रयोजनं हि तदिति ॥

तेन त्वर्थेन यज्ञस्य संयोगाद्धर्मलम्बन्धस्तस्माद्यज्ञ-

प्रयुक्तं स्यात् संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ ३ ॥

तेन त्वर्थेन दीक्षणीयादिना, यस्मात् परमापूर्वस्य सम्बन्धः, त-
स्मात् परमापूर्वमेवञ्जातीयकेन धर्मेण धर्मवत् । तस्मादङ्गयज्ञप्रयु-
क्तमेवञ्जातीयकं धर्मजातम् । तथा श्रुतिः शब्दो भवति । इतरस्मिन्
पक्षे लक्षणा स्यात् । न च प्रायणीयाद्यपूर्वं निष्प्रयोजनम् । ज्योति-
ष्टोमस्य हि तदुपकारकम् । न च तद् विना एवञ्जातीयकेन धर्मेण
प्रायणीयाद्यपूर्वं सिद्धम् । अवहन्तिपिषिवत् ॥ यदुच्यते, विनैव
धर्मेण तद् अपूर्वं भविष्यतीति । तन्न । कुनः । तदपि ह्यपूर्वं शब्दा-
देवावगम्यते । अस्तीति प्राक् शब्दादन्येन प्रमाणेनोपसङ्गचायते । एव-
ञ्जातीयके च शब्दप्रमाणके यच्छब्द आह, तदस्माकं प्रमाणम् । शब्द
श्च प्रायणीयाद्यपूर्वस्योपकारकमिमं धर्ममाह, न परमापूर्वस्य ।
वचनप्रामाण्यात् ॥ एवञ्चापरमापूर्वनिष्पत्तेरजरम् अविनाशि चात्र

धर्मः प्रतिष्ठितो न परमापूर्वं संक्रमिष्यति । एवमपि प्रयोजनसमर्थः । तस्मादेवजातीयकं धर्मजातमङ्गापूर्वप्रयुक्तमेवेति ॥

किं भवति प्रयोजनमितरस्मिन्नितरस्मिन् वा पक्षे ? इति । उच्यते । अश्वमेधे समाम्नायते, त्रैधातवीया दीक्षणीया भवतीति । यदि परमापूर्वप्रयुक्त एवजातीयको धर्मः, ततस्तस्योपकारविशेषे निबद्ध इति । नत्कार्य्यापन्नायां त्रैधातव्यायां भविष्यति । अथ आग्नावैष्णवापूर्वप्रयुक्तस्ततो नन्दमाग्नावैष्णवापूर्वमिति तत्र त्रैधातव्यापूर्वं न तेन धर्मेण सम्भन्स्यते इति ॥ ३ ॥ सिद्धान्तः ॥ उच्चावचध्वनेः परमापूर्वप्रयुक्तताधिकरणम् ॥ २ ॥ वर्णकान्तरम् ॥

फलदेवतयोश्च ॥ ४ ॥

दर्शपूर्णमासौ स्तः, दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेति । तत्र फलसम्बद्धो धर्मो देवतासम्बद्धश्च श्रूयते । फलसम्बद्धस्तावत्, अगन्म स्वः सं ज्योतिषा भूमा इति । देवतासम्बद्धोऽपि, अग्नेरुज्जितिमनूजेषं सोमस्य उज्जितिमनूजेषमित्यादिः । तत्र संशयः । किं स्वर्गसम्बद्धस्य कर्मणः स्वर्ग एव प्रयोजकः, अग्न्यादिसम्बद्धस्य अग्न्यादय एव ? उतोभयत्रापि अपूर्वं प्रयोजकमिति । यद्येवमभिसम्बन्धः क्रियते, गताः स्मः स्वर्गम् अग्न्यादीनां च उज्जितिमनूजेषमिति । ततः स्वर्गाग्न्यादिप्रयुक्तः । अथैवं क्रियते, आगता दर्शपूर्णमासफलं, दर्शपूर्णमासदेवताश्च उज्जितिमनूजेषमिति । ततोऽपूर्वप्रयुक्तः । किं प्राप्तम् । स्वर्गाग्न्यादिप्रयुक्त इति । कुतः । मन्त्राम्नानसामर्थ्यात् । यस्य मन्त्रो वाचकः, स इह वदितव्य इति गम्यते । श्रुत्या च स्वर्गाग्न्यादीनां वाचको मन्त्रः । लक्षणया दर्शपूर्णमासफलदेवतयोः । तस्माद् यत् फलदेवतमिति समधिगतं स्वर्गाग्न्यादि, तत्प्रयुक्तो धर्मः स्यादिति ॥ ४ ॥ पूर्व० ॥

न चोदनातो हि ताद्गुण्यम् ॥ ५ ॥

नैतदस्ति, स्वर्गाग्न्यादिप्रयुक्त इति । चोदनातस्ताद्गुण्यं स्यात् । यत् फलवच्चोद्यते, तदितिकर्तव्यतया अनुबध्यते । अपूर्वं च फलवत्, न स्वर्गाग्न्यादि । तदर्थं वचनं सदृष्टार्थं कल्प्येत । लक्षणया चापूर्वफलदेवतावचनेऽदृष्टोऽर्थः स्यात् । प्रोत्साहनात् । एतस्मिन् पक्षान्तरे दृष्टे सति न स्वर्गाग्न्यादिवचनस्यापूर्वस्य कल्पना न्याय्या ।

शब्दार्थस्य च फलदेवतात्वेन सम्प्रतिपन्नत्वानुलक्षणा अदृष्टा । तस्माद्पूर्वप्रयुक्त एवञ्जातीयको धर्म इति ॥ किं भवति विचारस्य प्रयोजनम् । यथा पूर्वः पक्षः । सौर्ये कर्मणि अविकारेण मन्त्रः प्रयोक्तव्यः । यथा तर्हि सिद्धान्तः । ऊहेन अगन्म ब्रह्मवर्चसं सूर्यस्य उज्जितिमनूज्जेषमिति फले पर्यवसितम् । देवतायामुक्तरा चिन्ता वर्त्तिष्यते ॥५॥ उत्तरम् ॥ फलदेवतासम्बद्धधर्माणामप्यपूर्वप्रयुक्तताधिकरणम् ॥३॥

देवता वा प्रयोजयेदतिथिवद्भोजनस्य तदर्थत्वात् ॥६॥

नैतदस्ति, अग्न्याद्योऽप्रयोजका इति । सर्वा देवताः सर्वेषां धर्माणां प्रयोजिका भवितुमर्हन्ति । कुतः । भोजनस्य तदर्थत्वात् । भोजनं हीदं देवतायाः, यागो नाम । भोज्यं द्रव्यं देवतायै प्रदीयते । सा भोक्ष्यते इति । देवतासम्प्रदानको हि अयं यागः श्रूयते । सम्प्रदानं च नाम कर्मणोऽपि ईप्सिततमादभिप्रेततरम् । तस्मान्नगुणभूता देवता, देवतां प्रति गुणभूते द्रव्यकर्मणी । अपि च यागो नाम देवतापूजा । पूजा च पूजनीयं प्रति गुणभूता लोके इश्यते । तदेतदतिथिवद् द्रष्टव्यम् । यथा यावन्किञ्चिदतिथेः परिचरणं, सर्वं तदतिथिप्रयुक्तम् । एवमिदमपीति ॥

आह । नन्वेवं ब्रुवता, विग्रहवती देवता भुङ्क्ते चेत्यभ्युपगतं भवति । उच्यते । बाढम् । विग्रहवती देवता भुङ्क्ते च । कुतः । स्मृतेः, उपचाराद्, अन्यार्थदर्शनाच्च । एवं हि स्मरन्ति, विग्रहवती देवता इति । स्मृतिश्च नः प्रमाणम् । तथा विग्रहवतीं देवतामुपचरन्ति । यमं दण्डहस्तमालिखन्ति, कथयन्ति च । तथा वरुणं पाशहस्तम्, इन्द्रं वज्रहस्तम् । उपचारादपि स्मृतेर्द्रष्टिमानं कल्पयामः । तथाऽन्यार्थवचनं, विग्रहवतीं देवतां दर्शयति । जग्मूभा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तमिति । पुरुषविग्रहस्य हि दक्षिणः सव्यश्च हस्तो भवति । तथा, इमे चिदिन्द्र रोदसी अपारे यत् संग्मूभा मघवन् काशिरित्ते इति । काशिर्मुष्टिः । सोऽपि पुरुषविग्रहस्यैवोपपद्यते । तथा, तुविप्रीवो बयोदरः सुबाहुरन्धसो मदे । इन्द्रो वृक्षाणि जिघ्रते इति, ग्रीवा उदरं बाहू इति पुरुषविग्रहदर्शनं भवति । तस्माद् विग्रहवती देवता इति भुङ्क्ते च । कथमवगम्यते । स्मृतेः, उपचाराद्, अन्यार्थदर्शनाच्च । एवं स्मरन्ति, भुङ्क्ते देवता इति । तथा चैनां भुञ्जाना-

मिवोपचरन्ति यदस्यै विविधानुपचारानुपहरन्ति । तथाचान्यार्थ-
वचनं भुञ्जानां देवतां गमयति । अञ्जीन्द्र पिब च प्रस्थितस्येति ।
तथा च, विश्वासनानि जठरेषु घस्ते इति, एकया प्रति घा पिबत्साकं
सरांसि त्रिंशतमिति ॥ आह । न देवता भुङ्क्ते । यदि च भुञ्जीत
देवतायै हविः प्रसन्नं क्षीयेत । उच्यते । अन्नरसभोजिनी देवता मधु-
करीवद् अवगम्यते । कथम् । देवतायै हविः प्रसन्नं नीरसं भवति ।
तस्मादन्नरसं भुङ्क्ते देवतेति गम्यते ॥ ६ ॥ पूर्व० ॥

आर्थपत्याच्च ॥ ७ ॥

यदि कस्यचिदर्थस्य ईशाना देवता उपचर्यमाणा च प्रसीदेत्,
ततस्तदाराधनार्थमियं देवतापूजा अभिनिर्वर्त्येत । न चैतद्युभयमपि
अस्तीति । तदुच्यते । अर्थपतिर्देवतेति । कथमवगम्यते । स्मृतेः, उप-
चाराद्, अन्यार्थदर्शनाच्च । हि स्मरन्ति । अर्थानामीष्टे देवतेति ।
तथा, देवग्रामो देवक्षेत्रमित्युपचारस्तामेव स्मृतिं द्रढयति । तथा
अन्यार्थवचनमीशानां देवतां दर्शयति । इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथि-
व्याम् इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानाम् । इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधि-
राणामिन्द्रः क्षेमं योगे हव्ये इन्द्र इति । तथा, ईशानमस्य जगतः
स्वम् ईशमीशानमिन्द्र तस्थुषे इति ॥

तथा, स्मृत्युपचाराभ्यां प्रसीदतीत्युपगच्छामः । एवं हि स्मर-
न्ति, प्रसीदति देवतेति । तथोपचरन्ति— प्रसन्नोऽस्य पशुपतिः, पु-
त्रोऽस्य जातः । प्रसन्नोऽस्य वैश्रवणो, धनमनेन लब्धमिति । तथा-
ऽन्यार्थदर्शनं भवति । आहुतिभिरिव हुतादो देवान् प्रीणातीति ।
तस्मै प्रीता इषमूर्जे नियच्छन्तीति ॥ ७ ॥

ततश्च तेन सम्बन्धः ॥ ८ ॥

ततो देवतायास्तेन फलेन सम्बन्धः परिचरितुर्भवति । यो देव-
तामिज्यया परिचरति, तं सा फलेन सम्बध्नाति । कथमेतद् अवग-
म्यते । स्मृत्युपचाराभ्याम् । स्मरन्ति हि । देवता यष्टुः फलं ददा-
तीति । तामेवोपचारेण स्मृतिं द्रढयति । पशुपतिरनेनोपचरितः,
पुत्रोऽनेन लब्ध इति । तथा, अन्यार्थदर्शनमिममेवार्थं दर्शयति । स
इत् जनेन स विशा स जन्मना स पुत्रैर्वा जम्भरते धना नृभिः ।
देवानां य- पितरमा वि वासति श्रद्धासना हविषा ब्रह्मणरपतिमिति ।

तथा, तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तरपयतीति । तस्माद् हविर्दानेन गुणवचनैश्च देवता आराध्यते, सा प्रीता सती फलं प्रयच्छति । येन कर्मणा अग्निराराधितस्तस्य फलस्य ईष्टे, तत्र कर्त्रे प्रयच्छति, न तत्र सूर्यः प्रदातुमर्हति । वचनादेतद् अवगम्यते, कः किं प्रयच्छतीति । यथा अग्नौ वचनं, न तत्र सूर्ये ॥ ८ ॥ युक्तिः ॥

अपि वा शब्दपूर्वत्वाद्यज्ञकर्म प्रधानं स्याद् गुणत्वे देवताश्रुतिः ॥ ९ ॥

अपि वेति पक्षो व्यावर्त्तते । न चैतदस्ति, यदुक्तं देवता प्रयोजिकेति । यज्ञकर्म प्रधानं स्यात् । यजतेर्जातमपूर्वम् । कुतः । शब्दपूर्वत्वात् । यद्धिफलं ददाति, तत्र प्रयोजकमिदं फलं ददातीत्यतज्ज्ञानं शब्दपूर्वकं न प्रत्यक्षादिभिरवगम्यते । शब्दश्च यजतिवाच्यात् फलमाह, न देवतायाः । कथमवगम्यते ? । दर्शपूर्णमासयोः करणत्वेन निर्देशः, दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेति । तथा, ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेति । यजत्यर्थस्य हि स्वर्गकामेन समभिव्याहारो न देवतायाः ॥ ननु द्रव्यदेवताक्रियं यजत्यर्थः । सत्यमेवम् । किन्तु गुणत्वे देवताश्रुतिः । द्रव्यदेवतं हि भूतं, भावयितव्यो यजत्यर्थः । भूतभव्यसमुच्चारणे च भूतं भव्यायोपदिश्यते, तस्मान्न देवता प्रयोजिका ॥

अथ यदुक्तं, कर्मण ईप्सितादभिप्रेततरमिति । नास्याभिप्रेततामपह्नुमहे । तद्धितशब्देन चतुर्थ्या वा संयुक्तस्य देवतार्थस्य वाक्यादभिप्रेतताऽवगम्यते । फलसंयोगस्तु वाक्यादेव यजत्यर्थस्य । तस्य च श्रुत्या करणताऽवगम्यते, न देवतायाः । तत्र यद्यपि देवतार्थता यागस्य गम्यते, फलार्थताऽपि तेन न प्रतिपिद्ध्यते । फलं च पुरुषार्थः । पुरुषार्था च नः प्रवृत्तिः । न चासौ देवतायाः । तस्मान्न देवताप्रयुक्ताः प्रवर्त्तिष्यामहे । या तु सम्प्रदानस्याभिप्रेतता सा फलवतो यजःसाधनत्वे सत्युपपद्यते ॥

यच्च, यजिर्देवतापूजा सा पूज्यमानप्रधाना लोके लक्ष्यते इति । न लोकवदिह भवितव्यम् । इह पूज्यमानपूजा प्रधानम् । यद्धि फलवत्, तत्र प्रयोजकम् । तस्माद् यज्ञकर्म प्रयोजकम् । अपिचैतस्मिन् पक्षे विग्रहवती देवता, भुङ्क्ते चेत्यध्यवसनीयं भवति । न हि अविग्रहायै अभुङ्क्तायै च दानं भोजनं वा सम्भवतीति ॥

यञ्चोक्तं- स्मृत्युपचारान्यार्थदर्शनैर्विग्रहवती, भुङ्क्ते चेति । तन्न । स्मृतेर्मन्त्रार्थवादमूलत्वात् । मन्त्रेभ्यश्चार्थवादेभ्यश्च स्मृतिमूलं विज्ञानमुत्पद्यते इति प्रत्यक्षमवगम्यते । ते च मन्त्रार्थवादा नैवम्परा इत्येतद् वक्ष्यामः ॥ आह । यदि नैवम्परा, न तर्हि मन्त्रार्थवादमूलं तद्विज्ञानमिति । उच्यते । ये आलोचनामात्रेण मन्त्रार्थवादान् पश्यन्ति, तेषां तत् स्मृतिमूलम् । ये पुनर्निपुणतः पश्यन्ति, तेषां तद् बाधितमपिच कस्यचित् स्मृतिमूलं भवति । तस्मात् तत एव स्मृतिः, उपचारोऽपि स्मृतिमूल एव । यत्स्वन्यार्थदर्शनमुक्तं- जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तमिति । नैतदेवम्परम्, इन्द्रस्य हस्तो विद्यते इति । यस्तस्य दक्षिणो हस्तस्तं वयं गृहीतवन्त इति । तस्माद् वाक्यादिन्द्रस्य हस्तसत्ता न प्रतीयते ॥ आह । यदि त्वसौ नास्ति, वयं ते इस्तं गृहीतवन्त इत्येवं नावकल्पते इति हस्तसत्ताऽध्यवसीयते । अस्त्यसौ हस्तो, वयं यं गृहीतवन्त इति । तन्नोपपद्यते । यद्यप्यस्य हस्तो भवेत्, तथापि न तमुपगृहीतवन्त इति प्रत्यक्षमेतत् । तथाऽप्येतन्नावकल्पत एव । तत्रतदसम्बद्धं वाऽवकल्पयितव्यं, स्तुतिर्वा । तच्च मत्पक्षेऽपि तुल्यम् ॥

अथैवमुच्यते, तस्यैतद्वचनं यो गृहीतवाँस्तस्य हस्तमिति । उच्यते । नैतदध्यवसेयम् । आदिमत्तादोषां वेदस्य प्रसज्जयेत । न च गृहीतवान् आसीदित्युच्यते । प्रमाणाभावात् । एतस्मादेव वचनादथात् कल्प्यते हस्तग्रहीतेति चेत् । तन्न । अयथार्थस्याप्युच्चारणं सम्भवत्येव यतः । यथा, दश दाडिमानी षड्रूपा इति । यस्यापि च एष पक्षो, विग्रहवान् इन्द्र इति । तस्यापि इन्द्रशब्देन आमन्त्रणं सम्बोधनार्थं, सम्बोधनमनुवचनाय । तत्र सम्बद्ध इत्यवगते अनुवचनं न्याय्यम् । न चासौ केनचित् प्रकारेण सम्बद्ध इत्यवगम्यते । अनवगते सम्बोधनं व्यर्थम् । वचनप्रामाण्यात् सम्बुध्यते इत्येवं गम्यते इतिचेत् । उक्तम् । अहृष्टकल्पनायां हस्तादिकल्पनानुपपत्तिरिति । न चासौ सम्बुद्ध इत्यवधार्यते । प्रमाणाभावात् । तस्मात् सम्बोधनवचनं न सम्बोधनाय, निर्देशार्थमेव । अविग्रहपक्षेऽपि तन्निर्देशार्थमेव भविष्यति । तत्रामन्त्रितविभक्तिवचनं स्तुतये । एवमिदं देवताख्यं साधयितृतमं, यञ्चेतनादिवत् सम्बुध्य साधयतीति चेतनवद्विधोपचर्यमाणः सम्बुद्धिशब्देनामन्त्र्यते । तथा सम्बो-

धनशब्देन निर्दिश्योच्यते, गृहीतवन्तो वयं तव हस्तम् । त्वदाश्रया वयमित्यर्थः । अस्माभिरिन्द्रकर्म कर्त्तव्यमित्येतदनेन स्मार्यते ॥

तथा इमे द्यावापृथिव्यौ दूरे अपारं यत् संगृह्णासि मघवन्नहो ते पूजितो मुष्टिरिति सन्तमिव मुष्टिं स्तुत्यर्थेन वदति । तस्यापि भावे न प्रमाणमस्ति । नेदं वचनम्, इत् महान् काशिरस्ति । किन्तर्हि, यस्तव काशिः, स महानिति । अन्यार्थस्तव काशिरस्तीति, अन्यस्तव काशिर्महानिति । सता हि स्तुतिरुपपद्यते इति चेत् । नैतत् । नियोगतो यस्यापि पौरुषविधिकैरङ्गैर्नास्ति संयोगः, पौरुषविधिकैरङ्गैस्तस्यापि स्तुतिर्भवति । यथा, एते वदान्त शतवत् सहस्रवदभि-
कन्दन्ति हरितेभिरासभिः । विष्ट्वा ग्रावाणः सुकृतः सुकृत्यया होतुश्चित् पूर्वं हविरद्यमाशत इति । तथा, सुखं रथं युयुजं सिन्धुगर्श्वनमिति । तस्मान्न श्रुतिवचनादर्थोपत्तिर्भवति पुरुषविधत्वे देवतायाः । तथा, तुविश्रीव इन्द्र इति नैतद् युक्तं भवति, श्रीवावान् इन्द्र इति । किन्तर्हि, याऽस्य श्रीवा सा महती । श्रीवासत्त्वं नास्ति प्रमाणम् । न च श्रीवास्तुतिरर्थोपत्तिः । अपुरुषविधेऽपि स्तुत्युपपत्तेः ॥

अपि च, इन्द्रो वृत्राणि जिघ्रन्ते इत्येताभ्यां पदाभ्यामिन्द्रशब्दः सम्बद्धो न शक्नोति तुविश्रीवादिभिः सम्बन्धं यानुम् । द्विरुच्चारण-
मस्य प्रसज्ज्यते । तुविश्रीवावान् इन्द्रो वेदितव्यः, वृत्राणि च इन्द्रो हन्तीति । तथा हि सति भिद्येत । अभिन्नं च वाक्यमुपलभ्यते । त-
देवमवकल्पते । यदि तुविश्रीवादयोऽस्य नोपादिश्यन्ते इति स्तुत्यर्थं सङ्कुण्ठ्यते तुविश्रीवादिः । अन्वसो मदे ईदृशो वृत्राणि हन्ति इति । एषा तु वचनव्यक्तिः । वृत्रवधोपदेशपरमिदं वचनमिति । यदपि वचनं- बाहू ते इन्द्र रोमशौ, अक्षी ते इन्द्र पिङ्गले इति । तदपि बाहू रोमशत्वमक्षणाश्च पैङ्गलयमाह, न बाहुसत्तामक्षिसत्तां च । यदपि अक्षिसत्तां वदतीति गम्यते । चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमीति । तदपि न चक्षुः सम्बन्धार्थं, चक्षुष्मते ब्रवीमीति वचनसम्बन्धार्थम् । तत् सतीमिव चक्षुष्मत्तां स्तुत्यर्थमुच्चारयति । कुतः । एतद् अव-
गम्यते । चतुर्थो निर्देशात् । यदि प्रातिपदिकार्थोऽध्यवसीयते, तथा वाक्यमभिद्येत । चक्षुष्मानित्येवं च उद्दिश्येत । चक्षुष्मते ते ब्रवीमी-
ति च । तस्मान्न किञ्चिदन्यार्थदर्शनं पुरुषविधतां देवतायामिदं ख्यापयतीति । न च इदं भोजनम् । न हि देवता भुङ्क्ते । तस्माद्

भोजनस्य तदर्थत्वादिति तद् असद्वचनम् ॥

यदपि स्मृत्युपचारान्यार्थदर्शनैर्भुङ्क्ते इति । तद् अविग्रहत्वेन प्रत्युक्तम् । अपि च, भुञ्जानायै देवतायै प्रक्तं हविः क्षीयेत । न च मधुकरीवदन्नरसभोजिन्यो देवता इति प्रमाणमस्ति । मधुकरीषु प्रत्यक्षम् । न च तद्वद् देवतायाम् । तस्मान्न भुङ्क्ते देवतेति । यदुक्तं, देवतायै हविः प्रक्तं नीरसं भवतीति । नैष दांपः । वातोपहतं नीरसम्भवतीति, शीतीभूतं च । न चासौ कस्यचिदर्थस्य ईष्टे । अनीशा कथं दास्यति ? इति ॥

यदुक्तं, स्मृत्युपचारान्यार्थदर्शनैरीशानां देवतेत्यवगम्यते इति । तन्न । स्मृतेर्मन्त्रार्थत्वादमूलत्वादित्युक्तम् । उपचारोऽपि देवग्रामो देवक्षेत्रमिति । उपचारमात्रम् । यो यदभिप्रेतं विनियोक्यनुमर्हति, तत्तस्य स्वम् । न च ग्रामं क्षेत्रं वा यथाभिप्रायं विनियुङ्क्ते देवता । तस्मान्न सम्प्रयच्छतीति । देवपरिचारकाणान्तु ततो भूतिर्भवति, देवतामुद्दिश्य यत् त्यक्तम् ॥

यदुक्तम्, अन्यार्थदर्शनमीशानां देवतां ख्यापयति, इन्द्रो दिव इन्द्र ईश इत्येवमादीति । तत् प्रत्यक्षमनीशानां देवतामुपलभ्य अध्यवस्यामः, भाक्त एव शब्द इति । तत्राह. वचनप्रामाण्यादेवास्येशानताऽवगम्यते, यद्देवलोका अर्थान् विनियुञ्जते. तद्देवताभिप्रायादेव इत्यध्यवस्याम इति । तन्न । प्रत्यक्षात् प्रमाणाद्देवतापरिचारकाणामभिप्राय इत्यवगम्यते । स न शक्यो बाधितुम् । येऽपि देवतामीशानां वर्णयन्ति, तेषां नापहनुवते परिचारकाणामभिप्रायम् । किं चाहुः, तथा देवता करोति, यथा परिचारकाणामभिप्रायो भवतीति । न च स ईशानो भवति यः पराभिप्रायमनुरुद्ध्यते, यस्य न स्वाभिप्रायाद् विनियोगो भवति ॥ अपि च, न चैतद्वचनम् । वर्तमानकालोपदेशत्वात्, प्रत्यक्षविरोधात् स्तुतिवादोऽवधार्यते । स्तुतिवादे च सम्भवति, न वचनप्रामाण्यादीशिष्यते इति गम्यते । न च देवता फलेन सम्बध्नाति, या तदर्थं परिचर्येत ॥ यदुक्तं, स्मृत्युपचारान्यार्थदर्शनैर्देदाति प्रसीदति चेति । तत्र स्मृत्युपचारयोरुक्तं, यदन्यार्थदर्शनं तस्मै प्रीता इपमूर्जं प्रयच्छतीति । तन्न । अन्यस्य विधेराम्नानात् । दक्षिणतः सम्परिहर्त्तव्या इत्याहेति । तथा तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयतीति । अत्रैन्द्रस्य हविषो विधा-

नम् । तस्माद्देवता न प्रयोजिकेति ॥ ९ ॥ सि० ॥

अतिथौ तत्प्रधानत्वमभावः कर्मणि स्यात्तस्य
प्रीतिप्रधानत्वात् ॥ १० ॥

यदुक्तम्, अतिथिवदिति । तत् परिहर्त्तव्यम् । आतिथ्यमतिथि-
प्रयुक्तं स्यात् । आतिथ्ये हि तत्प्रीतिर्विधीयते । अतिथिः परिच-
रितव्यः । यथा प्रीयते तथा कर्त्तव्यमिति । दानं भोजनं वा कार्य-
मिति । यद्यदतिथये रोचते, तत् कर्त्तव्यम् । यत् तस्मै न रोचते,
न तद् बलात्कारयितव्यमिति । इह तु कर्मणि अभावः प्रीतिविधा-
नस्य । तस्माद् विषममतिथिनेति ॥ १० ॥ युक्तिनिरासः ॥ धर्माणा-
मदेवताप्रयुक्तत्वाधिकरणम् ॥ ४ ॥

द्रव्यसङ्ख्याहेतुसमुदायं वा श्रुतिसंयोगात् ॥ ११ ॥

दर्शपूर्णमासयोरामनन्ति, व्रीहीन् प्रोक्षनीति । तत्रैव व्रीन् परि-
धीन् तिस्रः समिध इति मन्त्रम् । चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत्
पञ्चहोत्रा अमावास्यामिति चतुर्मास्यानां द्वितीये पर्वणि वरुणप्रधा-
सेष्वाम्नायते । शूर्पेण जुहोति तेन हि अन्नं क्रियते इति । तत्र संशयः ।
किंद्रव्यसंख्याहेतुसमुदायप्रयुक्ताः प्रोक्षणादयो धर्माः, उतापूर्वप्रयुक्ता
इति । किंतावत् प्राप्तम् । द्रव्यादिप्रयुक्ताइति । इह व्रीहीन् प्रोक्षनीति प्र-
करणेनापूर्वप्रयुक्तता स्याद्वाक्येन द्रव्यप्रयुक्तता । द्रव्येण हि प्रोक्षणस्य
समभिव्याहारः । तस्मिन्नापि समभिव्याहारे द्रव्यगता द्वितीया वि-
भक्तिः प्रोक्षणस्य द्रव्यप्रयुक्ततां वदति ॥ तथा, व्रीन् परिधीनिति य-
त् त्रिशब्दस्याभिधेयं, तदिह मन्त्रास्मानसामर्थ्याद् वदितव्यमिति
गम्यते । सङ्ख्या स त्रिशब्दस्यार्थः । तस्याः श्रुतिर्वाचिका । तत्स-
म्बद्धे अपूर्वे लक्षणा स्यात् । यावन्तः परिधयस्तावन्तो वक्तव्या इति ॥
तथा हेतुना धर्मः संयुज्यते वाक्येन, शूर्पेण जुहोतीति । किं कार-
णम् । यतः, तेन अन्नं क्रियते । तद्धोमेन सम्बद्धव्यमन्नकरणद्रव्यं
होमे विधीयते । प्रकरणादपूर्वप्रयुक्तता स्यात् । यस्माद्नेन होमेन
अपूर्वं क्रियते, तस्माद् एतत् शूर्पेण निर्वत्तयितव्यमिति । प्रकरणाद्
वाक्यं बलीयः । अतः प्रकरणं बाध्यते । येन येन द्रव्येण दर्विपिठरा-
दिनाप्यन्नं क्रियते, तेन तेन होमः कर्त्तव्य इत्येवमन्नकरणं सगुणं भ-
वतीति ॥

ननु प्रथमे अध्याये प्रतिषिद्धा हेत्वर्थता । शूर्पस्यार्थवद्दोऽयमित्युक्तम् । सत्यमुक्तम् । अपूर्वप्रयुक्ततायां हि सिद्धायां नैकस्मिन् वाक्ये होमे शूर्पविधानं, हेतुविधानं चावकल्पते इत्यर्थवादः प्रकल्पते, नान्यथा । चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत् पञ्चहोत्रा अमावास्यामिति समुदायसमभिव्याहाराद् वाक्येन तत्प्रयुक्तता, प्रकरणसामर्थ्याल्लक्षणया अपूर्वसमभिव्याहाराद् अवगतामपूर्वप्रयुक्ततां बाधते । तस्माद् द्रव्यादिप्रयुक्ताः प्रोक्षणादयो धर्माः ॥ ११ ॥ पूर्व० ॥

अर्थकारिते च द्रव्येण न व्यवस्था स्यात् ॥ १२ ॥

अपूर्वप्रयुक्ते एवञ्जातीयके धर्मे सति द्रव्येण च धर्मव्यवस्था न स्यात् । पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति, सक्तुभिर्मथितं घानाभिर्हारियांजनं हिरण्येन शुक्रमाज्येन पाल्नीवतमिति । यस्मान्मैत्रावरुणोऽपूर्वस्य, तस्मात् पयसा श्रयितव्य इति । पेन्द्रवायवोऽप्यपूर्वस्य । सोऽपि पयसा श्रयितव्यः प्राप्नोति । एवं सर्वाणि श्रयणादीनि सर्वेषां ग्रहाणाम् । तत्र मैत्रावरुणादिग्रहणमविवक्षितं स्यात् । तस्मादपि द्रव्यादिप्रयुक्ताः प्रोक्षणादय इति ॥ १२ ॥ युक्तिः ॥

अर्था वा स्यात् प्रयोजनमितरेषामचोदनात्तस्य

च गुणभूतत्वात् ॥ १३ ॥

वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । न द्रव्यादिप्रयुक्ता भवेयुः । किन्तर्हि । अर्थ एषां प्रयोजनम् । अर्थ इति अपूर्वं ब्रूमः । तदर्थास्ते । तद्धि कर्त्तव्यतया श्रूयते । तदितिकर्त्तव्यतया अनुबद्ध्यते । इतरेषां द्रव्यादीनां कर्त्तव्यतया न चोदना । किन्तर्हि । अर्थस्य गुणभूतत्वेन । अर्थं प्रति अपूर्वं प्रति गुणभूतानामेषां श्रवणम् । किमतः । यद्येवम्, अकर्त्तव्यानामितिकर्त्तव्यतया नास्ति सम्बन्ध इति ॥

ननु व्रीह्यादिसमभिव्याहारात् तैर्हि सम्बन्धः । तत्र द्वितीयया व्रीहिसमुदायप्रयुक्तता गम्यते । लिङ्गवाक्याभ्यां सङ्ख्याहेतुप्रयुक्तता नेत्याह । एवं सति फलं कल्पनीयं स्यात् । तस्मादपूर्वप्रयुक्तता ॥

नन्वेवमपि सति अपूर्वोपकारः कल्पयितव्यः । सत्यं कल्पयितव्यः । प्रकृतेन तु एकवाक्यतां नीत्वा । त्वत्पक्षे त्वप्रकृतेन फलवचनेनैकवाक्यता स्यात् ॥

ननु प्रकरणं वाक्यस्य श्रुतेर्वा न बाधकम् । सत्यमबाधकम् ।

फलाभावात्तु भवदीयः पक्षो मुच्यते । तस्मिन् नानर्थक्येन अविश्रिते प्रकरणवता प्रयोगवचनेन अपरिपन्थि प्रोक्षणादि विधायिष्यते । आह । अपूर्वसम्बन्धेऽपि तदीयैर्ब्रीह्यादिभिरेव धर्मः प्रयुज्यते । किमेतत् । किमेवं भविष्यति ? । द्रव्यादिसम्बन्धश्चैवं हि नावज्ञातो भविष्यति । फलं च न कल्पयितव्यम् । उच्यते । नैवं शक्यम् । ब्रीहिनू प्रोक्षतीति हि ब्रीहिजातिर्निर्दिश्यते । ब्रीहिद्रव्यलक्षणार्था वा, अपूर्वसाधनविशेषलक्षणार्था वा । अन्यतरलक्षणया कृतार्था इति, नोभयलक्षणार्था स्यात् । द्रव्यलक्षणे वा । तत्र च लक्षणैव दोषः । फलकल्पना इति कृत्वा साधनविशेषलक्षणार्था जातिरवर्त्सीयते । ब्रीहिजातिलक्षितं यत् साधनं, किं तत् । यत्स्रण्डुला भवन्ति, तत् प्रोक्षितव्यमिति तण्डुलनिर्वृत्तिकरता हि तत्र साधनत्वं, न द्रव्यता । एवं सङ्ख्यादिष्वपि योजयितव्यम् । तस्मादपूर्वप्रयुक्तता प्रोक्षणादीनामिति ॥ १३ ॥ सि० ॥

अपूर्वत्वाद् व्यवस्था स्यात् ॥ १४ ॥

अथ यदुक्तम्, अर्थकारिते च द्रव्येण न व्यवस्था स्यादिति । साधनविशेषलक्षणार्था जातिरित्येवं सति व्यवस्था भविष्यति । मैत्रावरुणेन यत् क्रियते, तत्र पयःश्रयणं, न तद् ऐन्द्रवायवेन । अतो न मैत्रावरुणापूर्वाद् ऐन्द्रवायवस्य धर्माः । अपूर्वो हि ऐन्द्रवायवः । तस्माद् अपूर्वत्वाद् व्यवस्था स्यादिति ॥ १४ ॥ पूर्वपक्षनिरासः ॥

तत्प्रयुक्तत्वे च धर्मस्य सर्वविषयत्वम् ॥ १५ ॥

यश्च मन्यते, द्रव्यादिप्रयुक्ताः प्रोक्षणादयो धर्मा इति । तस्य सर्वविषयता धर्मस्य प्राप्नोति । यंऽपि भक्तार्था ब्रीहयस्तेऽप्येवं प्रोक्षितव्याः प्राप्नुवन्ति । न चैतत् त्वयापीष्यते । तस्मादयमस्मिन् पक्षे दोष इति ॥ १५ ॥ पूर्वपक्षयुक्तिनिरासः ॥

तद्युक्तस्येतिचेत् ॥ १६ ॥

इतिचेत् पश्यसि. सर्वविषयता धर्मस्य भविष्यतीति । तद्युक्तस्य प्रकरणयुक्तस्य भविष्यति । एवं प्रकरणमनुगृह्यते । न च सर्वविषयता धर्मस्येति ॥ १६ ॥ आ० ॥

नाश्रुतित्वात् ॥ १७ ॥

नैतदेवम् । न हि श्रूयते, करणयुक्ता ब्रीहयो निर्वसव्याः प्रोक्षित-

व्याश्रेति । ननु प्रकरणानुग्रहायैतदध्यवसानम् । नेत्याह । न हि वाक्येन बाधितं प्रकरणम् उत्सहते धर्मान् नियन्तुम् । अथापि न बाध्यते, तथापि न प्रकरणस्य विशेषणं सामर्थ्यमस्ति । कर्त्तव्यतया हि तंत्र क्रियमाणं चोद्यते इति न प्रसिद्धसम्बन्धमिव विशेषणत्वेन । तस्मान्न प्रकृतयागविशेषितानां व्रीहीणां निर्वापः प्रोक्षणं वा चोद्यते इति ॥ १७ ॥ आ० नि० ॥

अधिकारादिति चेत् ॥ १८ ॥

इति चेत् पश्यसि, न प्रकरणं विशेषकं व्रीहीणामिति । बाढम् । अधिकाराज्ज्ञास्यत्यध्वर्युः । इमे भक्तार्थाः, इमे कार्यार्थाः । तत्र कार्यार्थान् प्रोक्षिष्यतीति ॥ १८ ॥ आ० ॥

तुल्येषु नाधिकारः स्यादचोदितश्च सम्बन्धः

पृथक्सतां यज्ञार्थेनाभिसम्बन्धस्तस्माद्

यज्ञप्रयोजनम् ॥ १९ ॥

तुल्या एते व्रीहयः । ये एव भक्तार्थास्ते एव कर्मार्थाः, न पृथक् केचित् कर्मार्था नाम । ननु ये निरुक्तास्ते कर्मार्थाः । सत्यं भवेदेतत् । प्रोक्षणादिषु दोषो न स्यात् । निर्वापे तु दोषः । न तत्र केचन प्रकृता विद्यन्ते, पृथक्सतां यज्ञार्थेन निर्वापः श्रूयते । कथम् । अपरेण गार्हपत्यं प्रागीपम् अनोऽवस्थितं भवति । तस्य दक्षिणं चक्रमारुह्यानसोऽधि निर्वपतीति । तस्माद्धर्मस्य सर्वविषयत्वं प्राप्नोत्येव । पूर्वेण हेतुना अपूर्वप्रयुक्तत्वं प्रोक्षणादीनामिति ॥ १९ ॥ सिद्धान्तः ॥ प्रोक्षणादीनामपूर्वप्रयुक्तत्वाधिकरणम् ॥ ५ ॥

देशबद्धमुपांशुत्वं तेषां स्याच्छ्रुतिनिर्देशात्तस्य

च तत्र भावात् ॥ २० ॥

ज्योतिष्टोमे समाप्नायते— त्सरा वा एषा यज्ञस्य, तस्माद् यत्किञ्चित् प्राचीनमग्नीषोमीयात् तेन उपांशु चरन्तीति । तदत्रैषोऽर्थः सांशयिकः । किं प्राग् अग्नीषोमीयाद् यानि कर्माणि, तत्प्रयुक्तमुपांशुत्वम्, उत परमापूर्वप्रयुक्तमिति । किं प्राप्तम् । प्राग्ग्नीषोमीयाद् यानि अङ्गापूर्वाणि आराधुपकारकाणि, यच्च प्रधानद्रव्यसंस्कारकं, तत्प्रयुक्तोऽयं धर्मः । योऽयं देशसम्बद्धः । कुत एतत् । श्रुतिनिर्देशा-

त् । मर्यादया देशलक्षिता ये पदार्थाः, ते श्रुत्या एतेन धर्मेण सम्ब-
 द्धाः । ये एतास्मिन् देशे पदार्थास्तेरुपांशु चरन्तीति ॥ ननु वाक्येनैष
 धर्मो विनियुक्तो, न श्रुत्या । न भ्रूमो, न वाक्येनेति । किन्तर्हि । श्रुतेना-
 ऽस्यैकवाक्यता, न प्रकृतेन, लक्षितेन, कल्पितेन वेति । उच्यते ।
 गृह्णीम एतद्भ्रूवापूर्वाणामयं धर्म इति, न तु प्रधानद्रव्यस्य संस्कारकं
 यदपूर्वं तस्यापीति । कतमं तत् । यत् प्रधानद्रव्यसंस्कारकं पूर्वस्मि-
 न् देशे अस्तीति । उच्यते । तस्यै च तत्र भावात् । तस्यैवञ्जातीय-
 कस्य पूर्वस्मिन् देशे भावात् । अस्ति हि सोमपरिवहणीयं नाम
 सूक्तम् । तस्माद् देशधर्मो भविष्यतीति । यथा प्रणीताः प्रणेष्यन्
 वाचं यच्छति, तां सह विष्कृता विसृजतीति । अस्मिन् देशे
 ये पदार्थास्तेषां धर्मो वाग्यमो, न प्रधानापूर्वस्य । एवमिदमप्युपांशु-
 मिति ॥ २० ॥ सि० ॥

यज्ञस्य वा तत्संयोगात् ॥ २१ ॥

वाशब्दात् पक्षो विपरिधत्ते । नैतदस्ति । तद्देशानां धर्म इति ।
 कस्य तर्हि । परमापूर्वस्येति । कुतः । तत्संयोगात् । तत्संयोगो भव-
 ति । यज्ञस्य संयोगः । त्सरा वा एषा यज्ञस्य यत् प्राचीनमग्नीषोमी-
 यादिति, यज्ञस्य यत् प्राचीनमिति सम्बन्धो, न त्सरा वा यज्ञस्ये-
 ति । कुतः । प्राचीनं विशिषन् यज्ञस्येति शब्दो विधिपदशेषो भव-
 ति । ततः प्रवृत्तिविशेषकरो भविष्यति । इतरथा अर्थवादशेषः स-
 न्ननर्थकः स्यात् । वादमात्रं ह्यनर्थकम् इति । प्राचीनमिति च यज्ञ-
 भागं श्रुत्या वदति । लक्षयति च तद्गतान् पदार्थान् । श्रुतिलक्षणा-
 विशये च श्रुतिर्न्याय्या स्यात् । तस्मात् प्राग्देशस्यैष धर्मः । तेना-
 स्य श्रुत्या संयोगः । न प्राग्देशगतानां पदार्थानां तैरस्य लक्षणया स-
 म्बन्धः स्यात् ॥ अथाप्यर्थवादपदशेषो यज्ञस्येति स्यात्, तथापि
 प्राग्देशः श्रुत्या धर्मेण सम्बद्ध्यते । प्राग्देशगताः पदार्था लक्षणयेति
 यज्ञप्रयुक्तैव न्याय्या ॥ अपिच प्रत्यक्ष उपकारः परमापूर्वस्य लक्ष्य-
 ते । यत् प्राचीनमग्नीषोमीयात्, तदुपांशुत्वेन शिथिलप्रयत्नः प्रचर-
 त्स्वित्त्वं सुखं बहुवृत्तान्तं शौत्यमहर्निर्वत्स्यति । तस्मात् परमापूर्व-
 प्रयुक्तमुपांशुत्वमिति ॥ २१ ॥ पूर्व० ॥

अनुवादश्च तदर्थवत् ॥ २२ ॥

*अनुवादश्च तद्देशपदार्थस्यैव भवति । त्सरा वा एषा यज्ञ-
स्य यत्प्राचीनमग्नीषोमीयादिति । त्सरा नाम छद्मगतिः । यथा श-
कुनिग्राहकस्य शकुनिं जिघृक्षतश्छद्मना गतिर्भवति । शनैः पद-
न्यासो, हृष्टिप्रणिधानम्, अंशवद्करणञ्च । कथमनवबुद्धः शकुनिर्गृह्ये-
तेति । एवमिहापि अनवबुद्धमिव प्रहीतुं यज्ञं प्रच्छन्नगतिरुपांशुत्वं
नाम । यथा शकुनिग्राहकस्य यस्मिन् देशे शनैः पदन्यासो न स
तद्देशार्थः । अपितु तद्देशाभिगतस्य शकुनेरर्थेन क्रियते । एवमिहा-
ऽपि उपांशुत्वं न तद्देशानां पदार्थानामर्थेन क्रियते, तद्देशाभिगतस्य
यज्ञस्यार्थेन गम्यते । यस्तु त्सराशब्दं यज्ञविशेष्यं मन्यते, तस्य सु-
तरामर्थवादः परमापूर्वप्रयुक्ततां दर्शयति । यज्ञस्यैषा त्सरोति । यथा
शकुनेः त्सरा, एवं यज्ञस्येति ॥ २२ ॥ पूर्वपक्षे युक्तिः ॥

प्रणीतादि तथेतिचेत् ॥ २३ ॥

इति यदुक्तं तत्परिहर्त्तव्यम् ॥ २३ ॥ आ० ॥

न यज्ञस्याश्रुतित्वान् ॥ २४ ॥

नैतदेवं, तद्देशपदार्थप्रयुक्ततैव स्याद्, न परमापूर्वप्रयुक्ततेति ।
नात्र पदार्थानां यज्ञभागविशेष्यता वाग्यमसम्बन्धनावगम्यते । यज्ञ-
स्याश्रुतित्वात् । नात्र सम्बन्धो यज्ञशब्दः श्रूयते । नन्विदानीमेवोक्तं,
यज्ञं तनिष्यन्तौ अध्वर्युयजमानौ वाचं यच्छत इति । उच्यते । त-
द्देशपदार्थप्रयुक्ततायामप्येतदवकल्पते । कथम् । यज्ञं विस्तारयितुं
वाचं यच्छतः । तौ वाचंयमौ सन्तौ अविक्षिप्यमाणंचतस्का, पदार्थे-
षु क्रियमाणेषु अप्रमाद्यन्तौ तथा करिष्यन्ते, यथा, न कश्चित् पदार्थः
पदार्थावयवो वा हीयते । अध्वर्युर्वाग्यमेन अनन्यचेतस्को न पदा-
र्थान् प्रमादयिष्यति । यजमानश्चैवं वाग्यमेन अनन्यचेतस्कः प्रमाद-
यिष्यन्तं ते बाधयिष्यति । अङ्गैरप्यनन्तरीयमाणैर्यज्ञो विस्तार्यते, न
केवलैः स्वैरवयवैरङ्गैश्च विस्तारयितुं वाग्यमः शक्नोति । अस्मिन्
काले क्रियमाणो न स्वेनात्मना । यज्ञसंयोगश्चात्र विस्तारसम्बद्धः ।
तस्मादङ्गप्रयुक्ततायामप्युपपद्यते, यदध्वर्युयजमानौ वाचं यच्छतः,
तत् प्रजापतिभूयङ्गतौ यज्ञं तन्वाते इति दृष्टेन कारणेन, न अदृष्टेनेति
वर्त्तमानकालापदेशादवगम्यते । यथा वयं वाग्यमेन तायमानं यज्ञं
विश्रस्तथेति ॥ २४ ॥ आ० नि० ॥

तद्देशानां वा सङ्घातस्याचोदितत्वात् ॥ २५ ॥^१

स्थितादुत्तरम् । वाशब्दात् पक्षं विपरिचर्त्तयेत् । नैतदस्ति, पर-
मापूर्वप्रयुक्तमुपांशुत्वमिति । कथन्तर्हि । प्राचीनमग्नीषोमीयाद् ये
पदार्थास्तत्प्रयुक्तम् । कुतः । सङ्घातस्याचोदितत्वात् । सङ्घात इति
ग्रहयज्यध्याससङ्घातं ब्रूमः । न तस्यायं भाग उपांशुत्वेन सम्बद्ध इति
चोदना । नैवं सम्बन्धः क्रियते, यज्ञस्य यत् प्राचीनमिति । कथं तर्हि ।
त्सरा वा एषा यज्ञस्येति । कुतः । तस्मादितिपदं न व्यवधानात् ॥
अथापि प्राचीनेन सम्बन्धः । एवमपि न परमापूर्वप्रयुक्तम् । न हि
यद्वित्यनेन देशोऽभिसम्बद्ध्यते । किन्तर्हि । देशगताः पदार्थाः । यदि
देशोऽभिसम्बद्ध्यत, यत् प्राचीनमग्नीषोमीयादिति भवेद्, न यत्कि-
ञ्चिदिति । वीप्सायां हि एतद्भवति । वीप्सा च बहुषु भवति, नैक-
स्मिन् । एकश्च देशो, बहवस्तत्र पदार्थाः । तस्मात् पदार्थानामुपां-
शुत्वेन सम्बन्धो न तद्देशस्यति । कथं पुनर्वीप्साऽवगम्यते इति । य-
द्वित्यनेन लक्ष्यते । किमित्यज्ञानवचनम् । विशेषाश्चाज्ञाता ज्ञातुमिष्टाः
प्रतीयन्ते । बहुषु च सामान्यं विशेषाश्च भवन्ति । तस्मात्तद्देशाः
पदार्था वीप्सया लक्ष्यन्ते, ते च उपांशुत्वेन सम्बध्यन्ते इति ॥ ननु
दीक्षणीयादिष्वन्यो धर्म उक्तः । यावत्या वाचा कामयेत तावत्या
दीक्षणीयायामनुब्रूयात् प्रायणीयायां मन्द्रतरमातिथ्यायामुपांशुपस-
त्स्विति । कथं तत्रोपांशुत्वं कर्तुं शक्यमिति । उच्यते । स धर्मः
प्रधानेषु भविष्यति । दीक्षणीयादिषु प्रधानशब्दोपबन्धत्वात् । उपां-
शुत्वं प्रधानवर्जितेष्वङ्गेषु निवेश्यते । सामान्यापदेशात् ॥

प्रयोजनं, कुण्डपायिनामयने मासमग्निहोत्रं जुह्वतीत्येवमादीनि
प्राग्ग्नीषोमीयाद्, एषूपांशुत्वसम्बन्धो भवति । यथा पूर्वः पक्षः ।
यथा तर्हि सिद्धान्तः, न सम्बन्धः ॥ २५ ॥ उत्तरम् ॥ अग्निष्टोमे
उपांशुत्वस्य प्राचीनपदार्थप्रयुक्तत्वाधिकरणम् ॥ ६ ॥

अग्निधर्मः प्रतीष्टकं सङ्घातात् पौर्णमासीवत् ॥ २६ ॥

अस्ति अग्निः, य एवं विद्वान् अग्निं चिनुते इति । तत्रैव समा-
म्नायते । हिरण्यशकलसहस्रेणाग्निं प्रोक्षति, दध्ना मधुमिश्रेणाग्निं
प्रोक्षति, वेतसशाखयाऽवकाभिश्चाग्निं विकर्षति, मण्डूकेनाग्निं वि-
कर्षति । तत्रायमर्थः सांशयिकः । प्रतीष्टकं किं विकर्षणं प्रोक्षणं च

कर्त्तव्यम् ? अथ सकृदेव कर्त्तव्यमिति । तत्रैवं तावद्विचार्यते । किमिष्टकासमुदायेऽग्निशब्दः, उत तद्व्यतिरिक्ते द्रव्यान्तरे इति । यदि समुदाये, ततस्तल्लक्षितानामिष्टकानामगम्यमाने विशेषे सर्वासां प्रोक्षणं विकर्षणञ्च । यदा च द्रव्यान्तरे, ततः सकृदेवेति । किं प्राप्तम् । प्रतीष्टकमिति । कुतः । समुदाये हि अग्निशब्दो वर्त्तते । कथमगम्यते । द्रव्यान्तरस्याभावात् । द्रव्यान्तरमेवान्यद् नास्ति, कोऽग्निशब्देनाभिधीयेत ? कस्मिन्नग्निर्निधीयेतेति । कथं पुनर्नास्तीति गम्यते । द्रव्यान्तरवैलक्षण्यात् । तत्र हि द्रव्यान्तरमस्तीति गम्यते, यत्रैकस्मिन्नवयवे गृहीत्वा कृष्यमाणे कृत्स्नः कृष्यते । कोऽभिप्रायः । यद्येकोऽवयवो हस्तेन संयुक्तः कृष्यते, न द्रव्यान्तरम् । कः प्रसङ्गः । यत्तत्र द्वितीयोऽप्यवयवः कृष्येतेति । अथ द्रव्यान्तरमपि तत्र कृष्यते, तत्र द्रव्यान्तरस्य समवायिनामवयवानामपि निर्भागात् कर्षणमुपपन्नम् । न च संयुक्तसंयोगस्य द्रव्यान्तरादृते धर्म एषोऽवकल्पते । न हि अबद्धे काष्ठपूलके काष्ठे एकस्मिन्नाकृष्यमाणे काष्ठान्तराणि कृष्यन्ते । यत्र हि परस्परव्यतिषद्भजनिता एका बुद्धिर्भवति, नावयवबुद्धिर्दृश्यते, नापि केनाचिदनुमानेन अनुमीयते, तत्र द्रव्यान्तरं जातामत्युच्यते । इह तु या एवेष्टका गृहीत्वा कृष्यते, सैवागच्छति, नेष्टकान्तराणि । सन्धिश्च लक्ष्यते । तेन नावयवसंयूतिरस्तीति गम्यते । तस्मान्नास्ति द्रव्यान्तरम् । तत्रेष्टकाभिरग्निं चिनुते इति चयनमात्रमिष्टकाभिः कर्त्तव्यम् । न चयनमात्रेण कृतेन किञ्चिद् दृष्टमस्ति । तस्मादाग्निनिधानार्थानामिष्टकानां चयनसमुदायोपलक्षितानामगम्यमाने विशेषे सर्वासामेव प्रोक्षणं विकर्षणं च कर्त्तव्यम् । पौर्णमासीवत् । यथा, य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते य एवं विद्वानमावास्यां यजते इति आग्नेयादथ एव क्रियन्ते, नार्थान्तरं किञ्चित् । एवमिहापीति ॥ २६ ॥ पूर्व० ॥

अग्नेर्वा स्याद् द्रव्यैकत्वादितरासां तदर्थत्वात् ॥ २७ ॥

वाशब्दात् पक्षो विपरिवर्त्तते । नैतदस्ति, प्रतीष्टकं कर्त्तव्यमिति । कथन्तर्हि । सकृदेवेति । तत एतद् वर्णयते, द्रव्यान्तरमिष्टकाभिः क्रियते । तत्राग्निर्निधातव्यः । तत्र चाग्निशब्दो वर्त्तते इति । कथम् । परार्थेनेष्टकानां निर्देशात् । इष्टकाभिरग्निं चिनुते इति तृतीयया विभक्त्या

पारार्थ्यमिष्टकानामवगम्यते । यदि चयनमात्रमत्रोच्यते, तदिष्टका-
संस्कारार्थमवगम्यते । तत्र द्वितीयया विभक्त्या संयोगः स्यात् ।
तृतीयया संयोगो बाध्येत । तस्मादिष्टकाभिरन्यत् क्रियते । तत्राग्नि-
निधातव्यः । तदर्थं इष्टकाश्चयनं वेति ॥ आह । नन्वेतदुक्तं, तस्या-
भावादयमन्यः पक्षः परिगृह्यते इति । अत्रोच्यते । नाभावः । प्रत्यक्षा
तत्रैकबुद्धिः । सा बह्वीष्विष्टकासु नावकल्पते । न चावयवसन्धि-
र्दश्यते पुरीषच्छानानाम् । तस्मात् पक्षानामसंयोगेऽप्येकबुद्धेरुत्पादा-
देकमिष्टकाभ्यो व्यतिरिक्तं द्रव्यमग्निनिधानार्थमस्ति । यदि वा इष्ट-
कासंस्यूतिरप्येकबुद्धेरेवावगम्यते । यत्तु एकाकर्षणं न कृत्स्नाकर्ष-
णमिति । सत्यं, संस्यूतौ तत्र विच्छेदः क्रियते । द्विविधानि हि द्रव्या-
णि, स्थावराणि जङ्गमानि च । तत्र स्थावरेषु विच्छेदो भवति । य-
था, वनस्पतौ पर्णे गृहीत्वा कृष्यमाणे न कृत्स्नः कृष्यते, स्थावर-
त्वात् । एवमिदमपि स्थावरं हीदमग्निद्रव्यम् । तस्मात् सकृदेव प्रो-
क्षणं विकर्षणञ्च कर्तव्यमिति ॥ २७ ॥ सि० ॥

चोदनासमुदायात्तु पौर्णमास्यां तथा स्यात् ॥ २८ ॥

अथ यदुक्तं, य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते य एवं विद्वानमा-
द्यास्यां यजते इति । नात्र आग्नेयादिभ्यः किञ्चिदर्थान्तरम् । तथेहा-
ऽपीति । उच्यते । युक्तं पौर्णमास्यां तथाभावः । चोदनासमुदायो हि
तत्र कर्म । न च कर्मसाध्यं विद्यते । इह तु द्रव्यान्तरमस्तीत्युक्तम् ।
तस्माद्वैषम्यं पौर्णमास्येति ॥ २८ ॥ आ० । न० ॥ इष्टकासु सकृद्वि-
कर्षणाद्यनुष्ठानाधिकरणम् ॥ ७ ॥

पत्नीसंयाजान्तत्वं सर्वेषामविशेषात् ॥ २९ ॥

अस्ति अहर्गणः, द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेदिति । तत्र श्रूय-
ते । पत्नीसंयाजान्तानि अहानि सन्तिष्ठन्ते इति । तत्रायमर्थः सांश-
यिकः । किं सर्वेषामह्नां पत्नीसंयाजान्तत्वम् ? उत प्रागुत्तमादिति ।
दशमं वर्जयित्वा सन्देहः क्रियते । तस्य हि मानसान्तता वचनेनो-
क्ता । किं तावत् प्राप्तम् । सर्वेषामह्नामिति । कुतः ? । अविशेषात् ।
अविशेषेणोच्यते, पत्नीसंयाजान्तानि अहानि सन्तिष्ठन्ते इति । न च
कश्चिद्विशेष आश्रीयते । तस्मात् सर्वेषामिति ॥ २९ ॥ पूर्व० ॥

लिङ्गाद्वा प्रागुत्तमात् ॥ ३० ॥

वाशब्दः पक्षव्यावृत्तौ । प्रागुत्तमादहः पत्नीसंयाजान्तता स्यात् । कुतः । लिङ्गात् । लिङ्गं भवति । पत्नीसंयाजान्तानि अहानि सन्तिष्ठन्ते, न बहिरनुप्रहरति, असंस्थितो हि तर्हि यज्ञ इति । यस्मिन्नहन्यसंस्थितो यज्ञस्तस्मिन् पत्नीसंयाजान्ततां दर्शयति । कथम् । हेत्वर्थेन असंस्था निर्दिश्यते । यस्मादिमानि असंस्थितानि अहानि, तस्मादेषु पत्नीसंयाजान्ततेति । संस्थितिश्चान्त्येऽहनि । अपिच, येषु अहःसु पत्नीसंयाजान्तता, तेषु असंस्था दृश्यते कीर्त्यमाना । तस्मादसंस्थायाः पत्नीसंयाजान्ततायाश्च सामानाधिकरण्यम् । असंस्थाञ्च प्रागुत्तमाद् दृष्ट्वा, प्रागुत्तमादेव पत्नीसंयाजान्ततामध्यवस्यामः ॥ ३० ॥ सि० ॥

अनुवादो वा दीक्षा यथा नक्तसंस्थापनस्य ॥ ३१ ॥

वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । नैतदस्ति, प्रागुत्तमात् पत्नीसंयाजान्तता स्यादिति । किन्तर्हि । सर्वेषामविशेषात् । यदुक्तं, येषु पत्नीसंयाजान्तता, तेषु असंस्था दृश्यते । तस्मादसंस्थायाः प्रागुत्तमादहः पत्नीसंयाजान्ततां नियच्छाम इति । नैतदेवम् । न हीदं विधिमुलं दर्शनम् । नान्यप्रमाणमूलम् । अतो मृगतृष्णारूपमेतद्दर्शनम् ॥ यदप्यसंस्था हेतुरिति, तदपि न स्यात् । उक्तं हि— स्तुतिस्तु शब्दपूर्वत्वाद् इति । न च सामानाधिकरण्यमसंस्थापत्नीसंयाजान्ततयोः । पत्नीसंयाजान्तता सर्वेषामह्नां शब्देन गम्यते । असंस्था पुनर्न्यायन प्रागुत्तमादहः । यदंतदसंस्थितो हि तर्हि यज्ञ इति । अर्थवाद एव पत्नीसंयाजान्ततास्तुत्यर्थः । तथाहि । असंस्थितो यज्ञश्चिरेण संस्थास्यते इत्यालोच्यते । यस्माच्चिरेण संस्थास्यते तस्मादवलुप्यतां, पत्नीसंयाजान्तानि अहानि भवन्तिवति । सन्तिष्ठमानेष्वेवाऽहःसु असंस्थावचनं पत्नीसंयाजान्तताप्रशंसार्थम् । संस्थावन्ति हि तानि अहानि । अवभृथादय एषां शेषाः पदार्थाः करिष्यन्ते । यथा दीक्षोन्मोचनवचनं नक्तसंस्थापनस्यार्थवादः । एवमेतद् द्रष्टव्यम् । वरुणपाशाभ्यां वा एषो निर्धीयते यो दीक्षितोऽहोरात्रे वै वरुणपाशौ यदिवा संस्थापयेद् अनुन्मुक्तो वरुणपाशाभ्यां स्यात् । नक्तं संस्थाप्यो वरुणपाशाभ्यामेवोन्मुच्यते आत्मनो हिंसाया इति । अनुन्मुक्तः स वरुणपाशाभ्यां, न तावदीक्षया मुच्यते । अवभृथो हि

दीक्षोन्माचनार्थः । अथवा । उच्यते । वरुणपाशाभ्यामिव निर्मुच्यत इति बहवो निर्यमास्तदानीं विसृज्यन्ते, यानालोच्य एष वादो भवति । एवमिहापि चिरेण संस्थामालोच्य असंस्थितवचनं भवतीति ॥ ३१ ॥ आ० ॥

स्याद्वाऽनारभ्यविधानादन्ते लिङ्गविरोधात् ॥ ३२ ॥

वाशब्दात् पक्षो विपरिवर्त्तते । भवेद्वा प्रागुत्तमात् पत्नीसंयाजान्तता । न हि आरभ्य उत्तममहः, एष विधीयते । कथन्तर्हि । सामान्येन पत्नीसंयाजान्तानि अहानि भवन्तीति । तत्रान्ते लिङ्गविरोधो भवति । का पुनर्न्यायेन प्राप्तिरिति । पत्नीसंयाजान्तानि अहानि सन्तिष्ठन्ते इति । तेनैतदुक्तं भवति, शिष्टमवलुप्यते इति । सन्तिष्ठन्ते नानुष्ठीयन्त इति । कर्तुर्व्यापार एषु उपरमतीति । तेषु सहक्रियमाणेषु अहःसु अवश्यं कस्मिँश्चित् पदार्थं अवस्थाय अवश्यमपरस्य अहः पदार्था अनुष्ठातव्याः । तत्रानियमे प्राप्ते पत्नीसंयाजान्ते संस्थातव्यमिति नियम्यत । तस्यावस्थानस्यैतत् प्रयोजनम् कथमहरन्तरस्य पदार्थानुष्ठानेन यौगपद्यमनुगृह्येतेति । एतद्धि दृष्टमवस्थानकार्यम् । यस्मिँश्चैतद् दृष्टं, न शक्यं कल्पयितुं तत्रादृष्टम् । तत्र न पत्नीसंयाजान्तता । तच्चान्त्यस्य प्रयोजनं न विद्यते । तस्मात् प्रागन्त्यात् पत्नीसंयाजान्ततेति न्यायेन प्राप्ते लिङ्गदर्शनम्, असंस्थितो हि तर्हि यज्ञ इति ॥ ३२ ॥ आ० नि० ॥ उत्तमान्यानामह्नां पत्नीसंयाजासंस्थाधिकरणम् ॥ ८ ॥

अभ्यासः सामिधेनीनां प्राथम्यात् स्थानधर्मः

स्यात् ॥ ३३ ॥

स्तो दर्शपूर्णमासौ । तत्र सामिधेनीः प्रकृत्य उच्यते, त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमामन्वाहेति । तत्रैषोऽर्थः सांशयिकः । किम् ऋग्धर्मेषः, यत्र तत्रस्था प्र वो वाजा त्रिरभ्यसितव्या ? उत स्थानधर्मः, या अन्याऽपि प्रथममुच्यते सा त्रिरभ्यसितव्या ? इति । कुतः संशयः । उभयथोपपत्तेः । यद्येवमभिसम्बन्धः क्रियते, या असौ उच्चारितानां सामिधेनीनां प्रथममुच्चारिता, सा त्रिरभ्यसितव्येति । ततः प्र वो वाजाया ऋचो धर्मः । अथैवं विज्ञायते, प्राथम्यसंयुक्तं त्रिर्ब्रूयादिति, ततो वचनस्य स्थानधर्मता ॥

किं तावत् प्राप्तम् । ऋचो धर्म इति । कुतः । प्राथम्यस्य व्यक्त्वा सम्बन्धात् । व्यक्तेरभ्यासेन । कथमवगम्यते । स्त्रीलिङ्गनिर्देशात् । व्यक्तिविशेषो हि स्त्री नाम । यदि तद्विशेषणं प्राथम्यं स्यात्, ततो लिङ्गविशेषनिर्देशोऽवकल्पते । साऽपि स्त्री अभ्यासेन सम्भन्त्यते । अथ प्रथममनुब्रुवता त्रिरभ्यसितव्यमिति ततो व्यक्तिविशेषो न विवक्ष्येत । तत्र स्त्रीलिङ्गविशेषनिर्देशो नोपपद्यते । अपि च वाक्यभेदः प्रसज्येत । प्रथममुक्तं त्रिरभ्यसितव्यं, प्रथममुक्ता ऋक् त्रिरभ्यसितव्येति । मत्पक्षे पुनः प्राथम्यलक्षिताया ऋचो धर्म उच्यते । तत्रैकार्थविधाने न भवेद्वाक्यभेदः । अपिच श्रुत्या प्राथम्येन स्त्री सम्ब्रूयते । वाक्येनाभ्यासः । तस्माद् ऋग्धर्मो यत्र तत्रस्था प्र वां वाजा त्रिरभ्यसितव्येति ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः । योऽयं सामिधेनीनां प्रथमायास्त्रिरभ्यास उच्यते स प्रथमस्थाननिमित्तो धर्मो, न ऋचः कस्याश्चिज्जातिनिमित्तः । कुतः ? । न हि कृत्स्नेऽपि ऋग्वेदे प्रथमा नाम काचिद् ऋग् विद्यते, या त्रिरभ्यस्येत । तत्र प्राथम्यम् ऋग्लक्षणार्थं स्यात् । इतरस्मिन् पक्षे श्रुतिर्न लक्षणा । श्रुतिश्च ज्यायसी लक्षणायाः । तस्माद्स्मत्पक्षः ॥ अथ यदुक्तं, स्त्रीलिङ्गसम्बन्धाद्स्मत्पक्ष एव श्रुतिः, वाक्यं च न भिद्यते । स्त्रीलिङ्गोपपत्तेश्चेति ॥

अत्रोच्यते । गुणवचनानां हि शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्तीत्यविशेष्यमाणायामपि व्यक्तौ यदवश्यं प्राप्तं लिङ्गं, तद् आश्रयभूतं गुणस्य भवति । अविधित्सितेऽपि तस्मिंलिङ्गविशेषनिर्देशोऽनुवादभूतो भवत्येव । यथा, शुक्लः पुमान्, शुक्ला स्त्री, शुक्लं नपुंसकम् । शुक्ल एकः, शुक्लौ द्वौ, शुक्ला बहव इति । शुक्लां शाटीमानयेति । यद्यपि शाठ्याद्यानयनं न विधीयते, शुक्लसम्बन्धमात्रविधित्सा भवति, न तत्र लिङ्गेन विशेषणं क्रियते । तथापि अनुवादभूतः स्त्रीलिङ्गनिर्देशो भवत्येष । शुक्लामानयेति । अनुवादभूतत्वाच्च न वाक्यभेदो भविष्यति । एवञ्च सति, यद्यपि प्राथम्यस्य स्त्रीलिङ्गसम्बन्धः श्रौतस्तथापि प्राथम्यस्यैवाभ्यासेन सम्बन्धो न लिङ्गस्य । यदि लिङ्गस्यैतेन सम्बन्धोऽभिधीयते, प्राथम्यस्यानुवादत्वात् कल्प्येत । प्राथम्यसम्बन्धेऽप्यभिधीयमाने वाक्यं भिद्येत । अपि च, नैवात्र विवक्षितव्यम् । प्रातिपदिकविशेषणं हि स्त्रीशब्दः । स्त्रियां यत् प्रातिपदिकं वर्त्तते, ततष्टाबादय इति । न विशेषणस्य पदान्तरेण सम्बन्धो

भवति । यथा राजपुरुषो गच्छतीति । यदा तु प्राथम्यस्याभ्यासेन सम्बन्धः, तत्र प्राप्तमनूद्यते स्त्रीत्वम् । यानि सामिधेनीषु वचनानि, ऋचस्ताः । स्त्रीलिङ्गश्च ऋक्शब्दः । तत्र यत् प्रथमं वचनं, तस्याश्रय ऋक् । गुणवचनानाञ्च शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्तीत्य- विशेषितायामप्युचि स्त्रीलिङ्गं भविष्यतीति । यत् प्रथमवचनं, तत् त्रिराहेति । स्त्री च सा ऋक् सामिधेनी । तस्मात् त्रिः प्रथमाम- न्वाहेति प्राप्तस्य लिङ्गस्यानुवादः । त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुक्तमां ताः पञ्चदश सम्पद्यन्ते इति पञ्चदशानां सामिधेनीनां सम्पत्तये त्रिर्वचन- मुच्यमानं परिपूर्णाया ऋचो भवति, न ऋगवयवस्य । परिपूर्णा च समिन्धनवती न ऋगवयवः । तस्मात् प्राप्तानुवादो लिङ्गस्येति प्राथ- म्यस्य धर्मो न ऋचः ॥ ३३ ॥ सिद्धान्तः ॥ त्रिः प्रथमामन्वाहेत्यादिषु स्थानधर्मताधिकरणम् ॥ ९ ॥

इष्ट्यावृत्तौ प्रयाजवदावर्त्तैतारम्भणीया ॥ ३४ ॥

सो दर्शपूर्णमासौ, दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेति । त- चारम्भणीया इष्टिः समाप्ता । आग्नावेष्णवमेकादशकपालं निर्व- पेत् सरस्वत्यं चरुं सरस्वते द्वादशकपालमग्नये भर्गनेऽष्टाकपालं निर्वपेद् यः कामयेतात्राद्यः स्यामिति नित्यवदेकं भर्गिनमामनन्ति । आवृत्तिश्च दर्शपूर्णमासयोः श्रूयते । यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेतेति । तत्रेष्ट्यावृत्तौ सन्देहः । किमारम्भणीयाऽप्यावर्त्तत, न ? इति । किं प्राप्तम् । आवर्त्ततेति । असकृदेव कर्त्तव्येति । कुतः । एवं प्रयोगवचनोऽगृहीतो भविष्यति । प्रयाजवत् । यथाऽङ्गभूताः प्रयाजा आवर्त्तन्ते, एवमङ्गभूता आरम्भणीयाऽप्यावर्त्तत ॥ ३४ ॥ पूर्व० ॥

सकृद्वाऽऽरम्भसंयोगादेकः पुनरारम्भो याव-
जीवप्रयोगात् ॥ ३५ ॥

वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । नैतदस्ति, यदुक्तमारम्भणीया आव- र्त्ततेति । सकृदेव कर्त्तव्या । कुतः । आरम्भसंयोगात् । दर्शपूर्णमास- योरारम्भेण संयुज्यते । साधारणश्च सर्वेषां प्रयोगाणामारम्भः । कथम् । अग्नीनाम्नाय सर्वः सङ्कल्पयति । पर्वणि पर्वणि मया दर्श- पूर्णमासौ कर्त्तव्याविति । एवञ्च अध्यवसाय दर्शपूर्णमासौ कर्त्त- व्याविति, आरम्भणीया क्रियते । एष एवास्य आरम्भो यदध्यवसानं

नाम । तच्च साधारणं सर्वेषां प्रयोगाणाम् । यावज्जीवप्रयोगात् । अथापि प्रथमं प्रवर्त्तनमारम्भस्तथापि प्रथमप्रवृत्तेन सर्वे प्रयोगाः कृता भवन्ति । तस्मात् सकृदारम्भणीया कर्त्तव्येति ॥ ३५ ॥ ॥ सिद्धान्तः ॥ यावज्जीवदर्शपूर्णमासयोरारम्भणीयेष्टेः सकृदनुष्ठानाधिकरणम् ॥ १० ॥

एवं वा —

इष्टयावृत्तौ प्रयाजवदावर्त्तनारम्भणीया ॥ ३४ ॥

यस्तु प्रथमः पदार्थ आरम्भ इति, तत्रैष संशयः । किं दर्शपूर्णमासयोरारम्भमाणयोरारम्भणीया प्रथमं पदार्थं सम्यञ्च करोति, उत पुरुषस्यारभमाणस्य प्रथमं दर्शपूर्णमासयोः प्रवर्त्तमानस्यारम्भणीया कर्त्तारमारम्भणयोग्यं करोति ? । किं प्राप्तम् । दर्शपूर्णमासयोः प्रकरणात् तयोरारम्भे स्यात् । पुरुषसम्बन्धे फलं कल्पयितव्यम् । तस्माद्दर्शपूर्णमासारम्भे । एवञ्चेद् आरम्भभेदादिष्टयावृत्तौ प्रत्यारम्भं स्यात् । यथा प्रयोगावृत्तौ प्रयाजाः ॥ ३४ ॥ पूर्व० ॥

सकृद्वाऽऽरम्भसंयोगादेकः पुनरारम्भो यावज्जीव-
प्रयोगात् ॥ ३५ ॥

सकृद्वा भवितुमर्हति । कुतः । पुरुषारम्भसंयोगात् । पुरुषे दर्शपूर्णमासावारभमाणे विधीयते । कुतः । निर्वपेदिति हि धृत्या कर्त्तृसम्बन्धः क्रियते, तत्र पुरुषप्रयत्नवचनं विवक्षितस्वार्थं भवति । इतरथा पदार्थमात्रे विधित्सितं कर्त्तुः प्रयत्नवचनमविक्षितं स्यात् । प्रयोगवचनप्राप्तमेवानूद्यते । यत्, कर्त्तृसम्बन्धे फलं कल्पयितव्यम् । तन्न कल्पयिष्यते । कृतारम्भणीयाकः पुरुषः प्रयोगवचनेन ग्रहीष्यते । एवञ्चेदेकस्मिन्नेव आरम्भे कृतारम्भणीयाके कृते पुरुषे तत्र प्रयोगाद् यावज्जीवं प्रयोगे कृतारम्भणीयाकः पुरुषो भवति । प्रथमं दर्शपूर्णमासौ आरभमाणः कृतारम्भणीयाको जातः । द्वितीयादिष्वपि प्रयोगेषु दर्शपूर्णमासौ आरप्स्यमानः कृतारम्भणीयाको जात इति योग्य एव भविष्यति ॥ अथोच्यते, समानेऽहनि आरप्स्यमान इति भवति । न च द्वितीयादिषु प्रयोगेषु समानेऽहनि कृतारम्भणीयाकोऽस्ताविति । अत्रोच्यते । द्वितीयादिष्वपि प्रयोगेषु समाने एव अहनि दर्शपूर्णमासावारप्स्यमानोऽसौ कृतारम्भणीयाको जात

इति योग्य एव भविष्यति ॥ ३५ ॥ सिद्धान्तः ॥ आरम्भणीयेष्टः
पुरुषसंस्कारताधिकरणम् ॥ १० ॥

अर्थाभिधानसंयोगान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तत्रा-

ऽचोदितप्राप्तञ्चोदिताभिधानात् ॥ ३६ ॥

स्तो दर्शपूर्णमासौ । तत्र निर्वाणमन्त्रः । देवस्य त्वा भवितुः प्रसवे-
ऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं निर्वपामीति । तत्रैषोऽर्थः
सांशयिकः । किं सवित्राऽश्विपूषशब्दानां विकृतौ ऊहः, उत अनूह
इति । तत एतत्तावत् परीक्षयते । कर्मणि समवेतमर्थमन्ते शब्दा अ-
भिदधति, उतासमवेतमिति । यदि समवेतमूहिष्यन्ते । अथासमवे-
तम् । अविकृताः प्रयोक्ष्यन्ते । तदुभयमपि सह परीक्षयते । किं ताव-
न्नः प्रतिभाति । तत्र समवेतमभिवदन्तीति । कुतः । एतस्मिन् मन्त्रपदा-
नां दृष्टं प्रयोजनं, यत् समवेतमर्थं प्रकाशयन्तीति । तत्रासमवेतार्थ-
प्रकाशने न किञ्चिदपि दृष्टं प्रयोजनम् । समवेतानान्तु प्रकाशने
दृष्टमस्ति । तद्यदि समवेताभिधायिन एतं शब्दास्ततः प्रयोजवन्तः ।
कथं पुनः समवेताभिधायिनः । यदि नाम सवित्रादयः शब्दा
अग्न्यादीनां वाचका भवेयुः, यदि वा सवित्रादयो देवताविशेषा दर्श-
पूर्णमासयोः स्युः, तन्मन्त्रपदानामदृष्टार्थता मा भूदित्यन्यतरदध्यव-
सीयते । मान्त्रवर्णिको वा देवताविधिः । सवित्रादयो वा शब्दा
अग्न्यादीनां वाचका भवेयुः । तस्मादर्थवत्त्वादन्यतरदध्यवसेयम् ॥
अत्राह । ननु अग्नये जुष्टमित्यत्रावयवभूताः सवित्रादयांऽग्न्यादीनां
वचना अपि सन्तोऽग्न्यादिभिः प्रकाशिताया देवताया न किञ्चिद-
प्यधिकं कुर्युः । नो खल्वपि सवित्रादिवचना एव मान्त्रवर्णिकाः
शक्नुवन्त्युपकर्तुम् । अत्रोच्यते । पृथग्वाक्यानि एतानि भविष्यन्ति ।
तेषां, जुष्टमनिर्वपामीति साधारणोऽनुषङ्गः । तानि वाक्यानि दर्श-
पूर्णमासयोगुणभूतानि । यद्येतद्देवत्यानि अत्र हवींषि विद्यन्ते, ततो-
ऽवकल्पन्ते, इत्यर्थापत्त्या मान्त्रवर्णिक्यो देवता विधीयन्ते । अग्न्या-
दिवचनं तावत् सवित्रादीनाम् । पृथग्वाक्यानि वा अग्निवाक्येन
वैकल्पिकानीति ॥ एवं प्राप्ते भ्रमः । नैवमादीनि ऊहितव्यानीति ।
अचोदित ऊहो न प्राप्नोति । चोदिताभिधानान्मन्त्रस्येति । तत एत-
द्दर्शयते । असमवेताभिधायिनः सवित्रादय इति कथम् । न ह्यत्र

सवित्रादिदेवत्यं कर्म चोद्यते । न च अग्न्यादीनामर्थेषु सवित्रादयः शब्दाः प्रसिद्धाः ॥ अत्राह । नन्वर्थापत्या अन्यतरदध्यवसीयेत्युक्तम् । सति एतद्देवत्यं कर्मणि सवित्रादिवाक्यानि उपपद्यन्ते । अग्निवचनत्वे वा सति, या हविषो देवता, सा मन्त्रवचनेन प्रकाशयितव्या । सवित्रादयश्च शब्दा निर्वापवाक्ये प्रकाशनार्थाः । ते हविर्देवतां प्रकाशयन्त उपपद्यन्ते, नान्यथेति । अग्न्यादयश्च हविर्देवता इति तद्वचना इत्यध्यवसीयते । अत्रोच्यते । यदि अकल्प्यमाने आनर्थक्यमेवां स्यात्ततोऽन्यतरत् कल्पयेत् । अर्थाभिधानसंयोगान्मन्त्रेषु शेषभावो भवतीति । न त्वेवमकल्प्यमानेऽप्यानर्थक्यम् । तस्मान्न अन्यतरस्यापि कल्पने किञ्चिदस्ति प्रमाणम् । न च चोद्यन्ते एतच्छब्दिका देवताः । तत्राचोदितमप्राप्तमूहं चोदिताभिधानात् ॥ ३६ ॥ सि० ॥

अथ यदुक्तं, प्रत्यायकेन शब्देन प्रकाश्यन्तेऽत्र देवताः । तत्राऽप्यश्रुतानां प्रकाशनं न किञ्चिदस्ति प्रयोजनमिति । तत् परिहर्तव्यम् । अत्रोच्यते—

ततश्चावचनं तेषामितरार्थं प्रयुज्ज्यते ॥ ३७ ॥

ततश्च तेन कारणेन अश्रुतानां वचनं न क्रियते, सवित्रादिभिः शब्दैः । केन तर्हि कारणेन क्रियते । इतरार्थं प्रयुज्ज्यते । निर्वापस्तुत्यर्थम् । देवस्य सवितुः प्रसवे देवेन सवित्रा यजमानेन प्रसूते, उदितं वा सवितारि, अश्विनोर्बाहुभ्यां परिक्रयमभिप्रेत्य यजमानयोर्दम्पत्योर्बाहुभ्याम्, अश्विनौ हि तौ अग्न्याधये अश्वदानेन अशितवन्तौ वा तद्व्यज्ञफलमश्नुवाते । तद्बाहू इति स्वौ बाहू व्यपदिशति । देवताध्वर्योर्वा अश्विनोरतौ बाहू इति । पूषणन्तु यजमानमेव मन्यन्तं पुष्णातेः । एवं सर्वे निर्वापविशेषप्रकाशनार्थाः ॥ अत्राह । कस्माद् न उत्कृष्टाः सवित्रादयः शब्दाः प्रकरणान्तरे सवितारमश्विनौ पूषणश्चाभिवदन्ति ? । लिङ्गेन तत् उत्कृष्यमाणाः प्रकरणं बाधितुमर्हन्ति । अत्रोच्यते । सवित्रादयः परविशेषणं विभक्तिश्रुत्या क्रियन्ते । प्रातिपदिकार्थस्तु अव्यतिरिक्त इति गम्यते । तत्र लिङ्गं श्रुत्या बाध्यते । लिङ्गं हि प्रातिपदिकार्थप्रकाशनं देवतार्थमिति कृत्वा इह देवताभावाद् यत्र देवता तत्रोत्कर्षति । विभक्तिश्रुतिस्तु प्राति-

पदिकाऽर्थं पदार्थान्तरविशेषणं ज्ञापयति । तच्चेहास्ति पदान्तरम् । श्रुतिश्च लिङ्गाद् षलीयसी । तस्मात्तोत्कर्षः ॥ आह । यदा सवित्रादयो यजमानपराः, तदा सत्रे कथमनूह इति । उच्यते । जोषणार्थमिदं वाक्यं, नानुज्ञापनार्थम् । अजोषितस्य जोषणं कर्त्तव्यम् । तत्र दृष्टोऽर्थः । अनुज्ञापनं पूर्वं वृणानेन कृतं, तद्दृष्टार्थमापद्येत । अपिच । जुष्टं निर्वपामीति जोषणकरणं निर्वपामीति भावशब्देनोच्यते । सवितुः प्रसवे इत्यनुज्ञानिर्वृत्तापरविशेषणार्थं कीर्त्त्यते । अननुज्ञातमपि निर्वपणं शब्दार्थं कुर्यादेव, न त्वजोषितेन यागः भ्रूयते । तस्माज्जोषणार्थत्वात् परार्थाः सवित्रादयः शब्दा नोहिष्यन्ते इति ॥ ३७॥आ०नि०॥ निर्वापमन्त्रे सवित्रादिशब्दानामनूहाधिकरणम्॥११॥

गुणशब्दस्तथेतिचेत् ॥ ३८ ॥

तस्मिन्नेव वाक्ये दर्शपूर्णमासयोः, अग्नये जुष्टं निर्वपामीति समा-
म्नायते । तत्रायमर्थः सांशयिकः । किमग्निशब्दोऽपि विकृतौ नोह्यते,
सोऽपि न समवेतवचनः । उत ऊहितव्यः, समवेतवचनो हि सः ? इति ।
किं प्राप्तम् । एवं चेत्तत्र संशयः, सोऽपि गुणशब्दस्तथैवासमवेतवचनः
कुतः । सवित्रादयोऽस्मिन् वाक्येऽसमवेतवचनाः । यद्यग्निशब्दोऽपि
असमवेतवचनः, एवमवैलक्षण्यं भविष्यति । अवैलक्षण्यञ्च न्याय्य-
म् । यदि समानं कारणं, तेन न्यायेन अवैलक्षण्यमुच्यते । समानञ्च
इह कारणं, य एषां शब्दानामर्थः, स इह प्रयोगे नास्तीति । अग्नये
जुष्टं निर्वपामीत्यस्यापि योऽर्थः, स इह नास्ति । अग्नये जुष्टं निर्वपा-
मीत्यनेन जुष्टस्य निर्वाप उच्यते । न चेह जुष्टस्य निर्वापोऽस्ति ।
अजुष्टं चेह निर्वपव्यम् । निर्वापेणैव तज्ज्ञाप्यते । तस्मान्न समवेतव-
चनः । तस्याप्यभ्रुतार्थस्य वचनमुत्तरार्थं प्रयुज्येत निर्वापस्तुत्यर्थेने-
ति । तस्मादेतदपि विकृतौ नोहितव्यमिति ॥ ३८ ॥ पूर्व० ॥

न समवायात् ॥ ३९ ॥

नैतदेवम्, समवेतवचनो हि अग्नये जुष्टं निर्वपामीति । नञ्चेत-
दुक्तं, जुष्टस्यात्र निर्वाप उच्यते । नच जुष्टं निर्वपव्यमिति । अत्रो-
च्यते । नैव जुष्टस्य निर्वाप एतेन वाक्येनाच्यते । किन्तर्हि । निर्वा-
पेण जुष्टकरणम् । अग्नये जुष्टं करोमीति । एवं हि दृष्टार्थं भवतीति ।
अतोऽनुत्यकारणत्वाद् वैलक्षण्यमेव न्याय्यम् । तस्मात् समवेत-

वचनोऽग्निशब्द ऊहितव्यश्च विकृताविति ॥ ३९ ॥ सिद्धान्तः ॥
अग्नये जुष्टमिति मन्त्रे अग्निशब्दस्य विकृतावूहाधिकरणम् ॥ १२ ॥

.एवं वा—

गुणशब्दस्तथेति चेत् ॥ ३८ ॥

दर्शपूर्णमासयोरामनन्ति, धान्यमसि धिनुहि देवानिति इषादि
आवपतीति ॥ तत्र धान्यशब्दं प्रति संशयः किं समवेतवचनः, न
वा ? इति । किं प्राप्तम् । योऽयं गुणवचनशब्द इव लक्ष्यते धान्यश-
ब्दः, नासौ समवेतवचनः स्यात् । धान्यशब्दो हि धान्यमभिवदति,
न तु धान्यमोप्यते । सतुषे हि धान्यशब्दो वर्त्तते । तण्डुलेष्वेव ओ-
प्यमानेषु धान्यप्रकाशनं क्रियते । तद् असमवेतस्य प्रकाशने अहृष्टं
यथा स्यादिति । तस्माद्विकृतिषु नोहितव्यमिति ॥ ३८ ॥ पूर्व० ॥

न समवायात् ॥ ३९ ॥

नैतदेवम् । समवेतो हि धान्यशब्दार्थः । स हि तण्डुलेषु वर्त्त-
ते । तद्विकारत्वाल्लक्षणाया । यथा काशिकेषु शालयो भुज्यन्ते,
गावः पीयन्ते इति श्रुत्युपादानेऽहृष्टं कल्पयितव्यमिति लक्षणाशब्दः
परिकल्प्यते । तस्मात् समवेतवचनः । विकारे च ऊहितव्य इति ॥
प्रयोजनमस्ति । शाक्यानामयनं षट्त्रिंशत्संवत्सरम् । तत्रेदं समाप्ता-
यते । संस्थिते संस्थितेऽहनि गृहपतिर्मृगयां याति, स तत्र यान् मृगा-
न् हन्ति तेषां तरसाः सवनीयाः पुरोडाशा भवन्तीति । तत्राविकारेण
धान्यमसि धिनुहि देवानिति प्रयोगः कर्त्तव्यः । यथा पूर्वः पक्षः ।
यथा सिद्धान्तः । ऊहः कर्त्तव्यः । मांसमसि धिनुहि देवानिति ॥
३९ ॥ सिद्धान्तः ॥ तण्डुलावापमन्त्रे धान्यशब्दस्योहाधिकरणम् ॥ १२ ॥

चोदिते तु परार्थत्वाद्विधिवदविकारः स्यात् ॥ ४० ॥

स्तो दर्शपूर्णमासौ, दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेतेति ।
तत्र इडानिगदः, इडोपहृता इत्येवमादिः । तत्रेदमाप्तायते । वैव्या
अध्वर्य्वेव उपहृता उपहृता मनुष्या य इमं यज्ञमचान् ये च यज्ञपतिं
वर्द्धानिति । तत्रायमर्थः सांशयिकः । किं बहुयजमानके यज्ञपतिशब्द
ऊहितव्यः ? उताविकारेण प्रयोक्तव्य इति ॥ तत्रेदं तावत् परीक्ष्यते ।
किं समवेतवचनो यज्ञपतिशब्दः, उतासमवेतवचन इति । कथं
समवेतवचनः । यदि यज्ञपतिवृद्धिवचनं यज्ञपतेरुपकारकं, ततः सम-

वेताभिधायी । अथैतत् स्तुत्यर्थं, ततो न समवेताभिधायी ॥ किं प्रा-
मम् । ऊहितव्यः, समवेताभिधायी । कथम् । यज्ञपतिवृद्धिवचनाद्
यज्ञपतयः प्रोत्सहन्ते । इडापदानपेक्षैश्च पदैर्यज्ञपतिवृद्धिरभिधीय-
ते । तस्मान्मुख्यः प्रत्ययः । इडास्तुतौ जघन्यः । तस्मादर्थविप्रकर्षा-
त् इडास्तुतिः । अतो यज्ञपतिशब्द ऊहितव्यः । यस्यैव वृद्धिनोच्य-
ते, स एवोत्साहसंस्कारेण संस्कृतो न स्यात् । तस्मात् सर्वे वृद्धि-
संस्कारार्थं वदितव्याः । सर्वेषु वदितव्येषु बहुवचनम् ॥ एवं प्राप्ते
ब्रूमः । चोदिते तु परार्थत्वाद्विधिवदविकारः स्यात् । चोदितमपि
यत् समवेतं परार्थं चिकीर्ष्यते न स्वसंस्कारार्थं, तदप्यविकारेण प्र-
युज्यते । तद् नोहितव्यं स्यात् । परार्थत्वात् । अत्र हि यज्ञपतिवचनं
वृद्धिविशेषणार्थं, वृद्धिवचनञ्च इडास्तुत्यर्थम् । कथमवगम्यते ।
इडोपह्वानेनैकवाक्यत्वात् । इडाप्रकरणञ्च ।

अथ यदुक्तं— गम्यते, इडापदानपेक्षं यज्ञपतिवृद्धिवचनं तेषा-
मुत्साहकम् । उपहृता मनुष्या ये यज्ञपतिं वर्द्धयेयुरिति । अत्रोच्य-
ते । स यो हैवं विद्वानेडया चरतीत्यभिधाय, अथ प्रतिपद्यते इडो-
पहृतोपहृतेडोपास्मा इडाह्वयामि इडोपहृता इत्याह । तेनावगम्यते,
यस्यैष आरम्भः स इडाया मन्त्र इति । तन्मध्यपतितश्च उपहृता
मनुष्या इत्येवमादिः, यज्ञपतिं वर्द्धान् इत्यन्तः । तस्मादिडामुपह्वानुं
वदितव्य इति वाक्यादवगम्यते । समर्थश्च इडोपह्वाने । यजमानन्तु
प्रोत्साहयितुं वदितव्य इति नास्ति वाक्यम् । केवलं वदितुं साम-
र्थ्यमस्ति । न च सामर्थ्यमात्रेण वाक्यादृते विनियोगा भवन्ति ।
इडाप्रकरणं चैवमनुगृहीतं भविष्यतीति । इडया च सहैकवाक्यता ।
तस्मादियं वचनव्यक्तिः, उपहृता मनुष्या ये यज्ञपतिं वर्द्धयितुं सम-
र्था इति । तत्र यज्ञपतिविशिष्टा वृद्धिर्वक्तव्येति । एकस्मिन्नपि यज-
माने कीर्त्तिते भवति विशेषणकार्यम् । तस्माद् अविकारः स्याद्
विधिवत् । यथा यत्र यजमानो गुणभूतो विधीयते, तत्र येनकेनचि-
द् यजमानेन स विधिः सिद्ध्यति । यथा, यजमानसम्मिन्तौदुम्बरी
भवति । शुक्रं यजमानोऽन्वारभते इति ॥ ४० ॥ इडोपह्वानमन्त्रे यज्ञ-
पतिशब्दस्यानूहाधिकरणम् ॥ १३ ॥

विकारस्तत्प्रधाने स्यात् ॥ ४१ ॥

अस्ति दर्शपूर्णमासयोः सूक्तवाकः । सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरती-
ति । तत्रेदं समाप्नायते । अयं यजमान आयुराशास्ते इति । तत्राय-
मर्थः सांशयिकः । किं बहुकर्तृकं विकारे यजमानशब्द ऊहितव्यः,
उत नेति । किं प्राप्तम् । अविकारं प्रयोक्तव्यः । तथा सामर्थ्यमनु-
गृह्यते । न चायं समवेतवचनः । परार्थेन हि अत्र यजमान आयुरा-
शास्ते इति आयुराशासनेन यजमानस्य न कश्चिद् दृष्टोऽर्थः सञ्जन्यते ।
तस्माद् आयुराशासनमदृष्टार्थम् । यजमानविशिष्टा आशीरेकेनापि
यजमानेन कीर्त्तितेन यथा श्रुता, तथा कृता भवति । यथा यजमानेन
सम्मिमतौदुम्बरी भवतीति । तथैतत् । तस्मादविकारेण प्रयोक्तव्य-
मिति ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः । विकारः स्याद्दूहः । तत्प्रधाने यजमानप्रधाने
कथं यजमानप्रधान्यम् । एवं श्रूयते । सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरतीति ।
यदि सूक्तवाकः प्रस्तरप्रहरणे तत्साधनं तत्फलं वा प्रकाशयति ।
ततः सूक्तवाकेन प्रस्तरः प्रहृतो भवति । प्रहरणफलमायुराशासनं
कल्पितम् । यजमान आयुराशास्ते, एतेन कर्मणेति यजमानेन प्रस्तरः
प्रहृतो भवति । तत्र य एव यजमानः फलं प्रति प्रधानभूतो न सङ्की-
र्त्तयेत्, तेन न प्रहृतं स्यात् । तस्मात् सर्वे समवेताः सङ्कीर्त्तयितव्याः ।
सर्वेषु च कीर्त्त्यमानेषु बहुवचनं भवति । तस्माद्दूहो यजमानस्थेति ॥
॥ ४१ ॥ प्रहरणकरणसूक्तवाके यजमानशब्दस्य ऊहाधिकरणम् ॥ १४ ॥

असंयोगात्तदर्थेषु तद्विशिष्टं प्रतीयेत ॥ ४२ ॥

अस्ति ज्योतिष्टोमः । तत्र सुब्रह्मण्यानिगदः समाह्वतः । इन्द्र
आगच्छ हरिव आगच्छ मेधातिथेमेप इत्येवमादिः । अग्निष्टुति च
श्रूयते । आग्नेयी सुब्रह्मण्या भवतीति । तत्रेन्द्रशब्दस्य स्थाने ऊहः
क्रियते । अथेदानीं हरिव आगच्छ इत्येवमादिषु संशयः । ऊहितव्यं,
न ? इति । किं प्राप्तम् । तद्विशिष्टं प्रतीयेत । तेन विशिष्टम् । इन्द्र-
पदस्थाने ऊहः । एतेन विशेषेण विशिष्टमविकृतमेव वचनं प्रतीयेत ।
कुतः । असंयोगात् तदर्थेषु । नैषां शब्दानां तेष्वर्थेषु संयोगः, हरि-
वत्तादिषु, न हरिवत्तादयः समवेता इन्द्रे विशन्ते गुणाः । प्रमाणा-
भावात् । अविद्यमानास्तस्योच्यन्ते । एवं श्रुत्या अर्थः प्रतिज्ञातो भव-
ति । इतरथा लक्षणा स्यात् । न हरिवत्तादय उच्येरन् । हरिवत्तादि-
भिः सोऽस्य गुणो लक्ष्यते । अथासमवेतवचना मुख्यार्था एव भवि-

प्यग्नि, आत्मीयं गुणं न लक्षयिष्यन्तीत्युच्येत । तथा अस्मत्पक्ष एव । तस्माद्दृष्टार्थं गुण उच्यते इति अविकारेण प्रयोगः स्यात् । तत्रैवं वचनव्यक्तिर्भवति । इन्द्र आगच्छ हरिव आगच्छ इति हरिवदादीन् अस्य गुणानारोपयति । हरिवदादिभिः सम्बद्धमान इन्द्रोऽभ्युदय- कारी भवति । शक्यते चाग्निरपि तैः सम्बन्धयितुम् । तस्मादविकारेण गुणानां प्रयोगः ॥ अथोच्यते, अस्मादेव सामानाधिकरण्यवचनादिन्द्रे एते गुणा विद्यन्ते इति । तन्न । अविद्यमानेष्वपि स्तुत्या- ऽस्य सामानाधिकरण्यवचनमुपपद्येतैव । यथा इन्द्रो बृहस्पतिर्देवदत्त इति ॥ ४२ ॥ सि० ॥

कर्माभावादेवमिति चेत् ॥ ४३ ॥

इति चेद् भवान् पश्यति, अविकारेण हरिवदादीनां वचनमिति । कर्माभावादेवं स्यात् । यद्येते गुणा इन्द्रे न भवेयुः । कर्मजास्तु एते गुणा इन्द्रस्य विद्यन्ते । हरिव आगच्छेति । पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इन्द्र-स्य हरी ताभ्यां ह्येष सर्वं हस्तीति । मेधातिथेर्मेघ इति मेधातिथिं हि काण्वायनं मेघो भूत्वा जहार । वृषणश्वस्य मेनका नाम दुहिता बभू-व, तामिन्द्रश्चकमे । गौरावस्कन्दन् इति, गौरमृगो भूत्वा अरण्या-द्राजानुं सोमं पिबतीति वचनैरिमे गुणा इन्द्रस्याख्यायन्ते । तस्मात् समवेतवचना हरिवदादयः शब्दाः । तथासतीन्द्रप्रत्ययायोश्चार्यन्ते इति नाहृकल्पना भविष्यति । तत्रैवं वचनव्यक्तिः । इन्द्र आगच्छ, हरिव आगच्छ इति । हरिवत्तादिगुण एव यस्त्वं स आगच्छेति । लक्षणा च अहृकल्पनाया ज्यायसी । तस्माद्बृहत्तया हरिवदादयः शब्दा इति ॥ ४३ ॥ आ० ॥

न परार्थत्वात् ॥ ४४ ॥

नैतदेवम् । परार्था हि हरिवदादयः शब्दा इन्द्रस्तुत्यर्थाः । स्तु-तये हरिवदादिसम्बन्धोऽस्य क्रियते । तत् पुरस्तादेवोपवर्भितम् । स्तुत्यर्थञ्चाग्नेरप्येतैरभिसम्बन्धः शक्यते कर्तुम् । यत्कृतं, समवेता गुणा इन्द्रस्य विद्यन्ते, पूर्वपक्षापरपक्षौ वा इन्द्रस्य हरी इत्येवमादि-भिर्वचनैरवगता इति । तन्न । न हीमानि वचनानीन्द्रस्य सम्बन्धिनौ हरी विदधति । न ह्येवमभिसम्बन्धः क्रियते, यावेतौ पूर्वपक्षापरपक्षौ ताविन्द्रस्य हरी इति । तन्न हि हेतुरूपदिदयते । ताभ्यां ह्येष सर्वं

हरतीति । न हीदं प्रसिद्धं, ताभ्यामिन्द्रः सर्वं हरतीति । सिद्धो हि हेतुर्भवति, न प्रसाध्यः । यथा तु इमौ हर्तारौ प्रसिद्धौ, कालेन सर्व-
मपक्षीयते इति, तथा नेन्द्रस्याग्नेश्च काश्चिद्विशेषः । तत्र एभिरभि-
धानमग्नेः प्राप्नोत्येव ॥ अथ इन्द्रस्य हर्तृत्वं विधीयत इत्युच्यते । तथा
च वाक्यं भिद्येत । इन्द्रस्यैतौ हरी इत्येतदपि विधातव्यम् । अथैतन्न
विधीयते, तथा स एव दोषः । नास्त्यग्नेरिन्द्रस्य वा विशेष इति ।
अथ पूर्वपक्षापरपक्षाविन्द्रस्येति विधीयते, तौ च हरी । तस्मादिन्द्रो
हरिवानिति । तथा हेत्वप्रसिद्ध्यादिः स एव दोषः । न च विधीय-
माने वैशब्दो भवति । प्रसिद्धवचनो ह्येष दृष्टः । न वै श्लेषानि सख्यानि
सन्तीति यथा ॥

तथा मेधातिथेर्मेघ इत्येवमादि इतिहासवचनमिव प्रतिभाति ।
इतिहासे च विधौ सति आदिमत्तादोषो वेदस्य प्रसज्येत । अस्त्व-
ति चेत् । तथा सति तस्याप्रामाण्यान्मेधातिथेर्हि काष्ठायायनस्य मेघ
इत्यप्रसिद्धिः । सर्वत्र च निगदविधानम् । तत्रापरस्मिन् विधीय-
माने वाक्यभेदप्रसङ्गः । तस्मान्नैते गुणा इन्द्रे विद्यन्ते इति अस-
मवेतवचनत्वादविकारेण प्रयोग इति ॥ तदेतद् न रोच्यन्ते याज्ञि-
काः । ऊहं कुर्वन्ति । अग्न आगच्छ रोहिताश्व बृहद्भानो धूमकेतो
जातवेदो विचर्षण इति ॥ ४४ ॥ आ० नि० ॥ सुब्रह्मण्याह्वाननिगदे
हरिवच्छब्दस्यानूहाधिकरणम् ॥ १५ ॥

अथेदमन्यदुदाह्रियते—

असंयोगात्तदर्थेषु तद्विशिष्टं प्रतीयेत ॥ ४२ ॥

अस्ति साद्यस्कः । तत्रेदं समामनस्ति । साण्डस्त्रिवत्सः सोमक-
यण इति । अस्ति तु प्रकृतावेकहायनी क्रयार्था । तत्रेदमाज्ञायते ।
इयं गौस्तया ते क्रीणामि तस्यै शृतं तस्यै शरः तस्यै दधि तस्यै म-
स्तु तस्या आतञ्जनं तस्यै नवनीतं तस्यै घृतं तस्या आमिक्षा तस्यै
वाजिनमिति । तदिह चोदकेन प्राप्तम् । तत्र सन्देहः । किं गोशब्द-
स्थाने ऊहं कृत्वाऽवशिष्टानां पदानामविकारः ? उत सर्वेषामूह इति ।
किं प्राप्तम् । गोपदार्थविशिष्टमेवोहवचनं स्यात् । तस्यै शृतमित्येव-
मादीनामविकारः, असंयोगाच्छ्रुतादिभिरर्थः । तेषामेकहायन्याम्,
एकहायनीत्वादेव । न हि एकहायनी युग्धं, तस्यामसमवेतं वदन्ति
षते । तस्मात् साण्डेऽपि अविकारेण प्रयोक्तव्या इति ॥ ४२ ॥ सि० ॥

कर्माभावादेवमिति चेत् ॥ ४३ ॥

इति चेद् एवं भवान्मन्यते, नैकहायन्यामेते समवेतान् अर्थान् अभिवदन्तीति । भवेदेतदेवं, यद्येकहायन्या इमे गुणा न भवेयुः, कालान्तरे तु तस्या उपपद्यन्ते, न तु साण्डस्य । भविष्यत्कालवचना अप्येते प्ररोचनार्था भवन्ति । तस्यै श्रुतं भविष्यति । तस्माद्वाधिकारेण प्रयोक्तव्या इति ॥ ४३ ॥ आ० ॥

न परार्थत्वात् ॥ ४४ ॥

नैतदेवम् । अधिकारेण प्रयोक्तव्या इति । असमवेतवचना ह्येते नैकहायन्यां भवन्ति । एकहायनीत्वादेव । अथोच्यते, कालान्तरे भविष्यन्तीति । साण्डेऽपि कालान्तरे भवितुमर्हन्ति । साण्डादपि हि या धेनुर्जनिष्यते, सा धोक्ष्यते इति । तस्मादधिकारेण प्रयोक्तव्या इति ॥ ४४ ॥ आ०नि० ॥ तस्यै श्रुतमिति मन्त्रेऽनूहाधिकरणम् ॥१५॥

लिङ्गविशेषनिर्देशात् समानविधानेष्वप्राप्ता

सारस्वती स्त्रीत्वात् ॥ ४५ ॥

अस्ति ज्योतिष्टोमः । तत्र पशवः समाग्नाताः । आग्नेयः पशु-
रग्निष्टोमे आलब्धव्ये ऐन्द्राग्नः पशुरुक्थ्ये ऐन्द्रावृष्णिः षांडाशिनि
सारस्वती मेषी अतिरात्रे इति । अस्ति तु अग्नीषोमीयेऽग्निगुप्तैः ।
उपनयत मेध्यादुर आशासाना मेघपतिभ्यां मेन्ध इति । तत्र सन्दे-
हः । किं सारस्वत्यां मेध्यामग्निगुवचनं कर्त्तव्यं, न ? इति । नन्व-
ऽग्नीषोमीयार्थं तत्, चोदकेनेह प्राप्तमिति । अत्रोच्यते । सर्वेषां स-
मानो विधिरिति कृत्वा चिन्ता ॥ किं तावत् प्राप्तम् । समानविधाने-
ष्वेषु पशुषु अप्राप्ता सारस्वती मेषी आग्निगुवचनम् । कुतः । लिङ्ग-
विशेषनिर्देशात् । विशिष्टलिङ्गे हि अग्निगुवचनेन निर्दिष्टः । प्रास्मा
अग्निं भरता इति पुंशब्दः । स्त्रीत्वं चास्याः । न च पुंवचनः स्त्रियम-
भिवदितुमलं भवति शब्दः । तस्माद्अग्निगुवचनम् । अप्राप्ता सार-
स्वती मेर्षाति ॥ ४५ ॥ सि० ॥

पशुविधानाद्वा तद्धि चोदनाभूतं पुंविषयं

पुनः पशुत्वम् ॥ ४६ ॥

वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । नैतदस्ति । अप्राप्ता सारस्वती, अ-
ग्निगुवचनमिति । तस्यामप्यग्निगुवचनं स्यात् । कुतः । प्रकरणात् ।

समानं प्रकरणं सर्वेषां पशुनामिति कृत्वा चिन्त्यते । तेन सारस्वत्या अपि प्राप्नोतीति । लिङ्गविशेषाद्युक्तं तस्यामिति यदुच्यते, तन्न । पश्वभिधानात् । अस्ति तत्र पशुत्वं सन्निहितम् । तदभिप्रेत्य, प्रास्मा अग्निं भरता पशव इति ब्रूयात् । तद्धि चोदनाभूतं, सर्वनामशब्दस्य पुंविषयत्वम् । तत् पशुशब्देनोच्यते । अस्ति च तद् मेष्याम् । तदभिप्रेत्य पशुशब्दसमानाधिकरणं सर्वनामशब्दं समुच्चारयिष्यति । एवं प्रकरणमनुग्रहीष्यते । तस्मात् प्राप्नुयात् सारस्वती अभिगुवचनमिति ॥ ४६ ॥ पूर्व० ॥

विशेषो वा तदर्थनिर्देशात् ॥ ४७ ॥

वाशब्द एतं पक्षं व्यावर्त्तयति । नैतदस्ति, प्राप्नुयात् सारस्वती अभिगुवचनमिति । अयमन्यः पक्षः । न प्राप्नुयादिति । कुतः । विशेषो वा तदर्थनिर्देशात् । पुमर्थे ह्येष शब्दो निर्देष्टुं शक्नोति । स्त्रीलिङ्गधायमर्थो मेषीनि । स्त्रियं पुंशब्दो न शक्नोत्यभिवदितुमिति प्रथम एव पक्षः संकीर्तितः । केवलं परपक्षस्यानवकल्पित्वं क्वव्या । ॥ ४७ ॥ उत्तरम् ॥

पशुत्वं चैकशब्दात् ॥ ४८ ॥

अथ यदुक्तं, पशुत्वाभिप्रायमेतद्वचनम् । एको हि शब्दः पशुत्वस्य च पशोश्च । तेन प्रास्मै पशव इत्यभिसम्बन्धो भविष्यतीति । तत् परिहर्त्तव्यमिति ॥ ४८ ॥ आ० ॥

यथोक्तं वा सन्निधानात् ॥ ४९ ॥

यथोक्तं स्यादभिगुवचनम् । अप्राप्ता सारस्वती । कुतः । पूर्वस्मादेव कारणालिङ्गविरोधादिति । यदुक्तं, पशुशब्दसमानाधिकरणः सर्वनामशब्दः प्रयोक्ष्यते इति । तन्न । कुतः । सन्निधानात् । सन्निहितवचनो हि सर्वनामशब्दः । उच्चरितमात्रो यः पदार्थः शब्देन सन्निहितः, तेन सम्बद्ध्यते । अथ तस्मिन्नस्ति लिङ्गादिसर्वविशेषणविशिष्टे रूपेण सन्निहिते प्रयुज्यते । सन्निधाने न एकेन विशेषणेन विशिष्टां व्यक्तिमभिवदितुं शक्नोति । सन्निधानात्तत्रैकं सामान्यमाश्रीयते, नान्यत् किञ्चित् पशुत्वादि । तत्रोच्चार्यमाणे पशुशब्दे शब्देन व्यक्तेर्निष्कृष्टे पशुत्वे अस्मै पशव इति शक्यते सम्बन्धः कर्तुम् । अनुच्चार्यमाणे तु लिङ्गविशेषवचनः प्राप्नोति । तस्माद्प्राप्ता

सारस्वती अधिगुवचनमिति कृत्वा चिन्तेयमात्र प्रयोजनं न वक्तव्यम् । किमग्नीषोमीयार्थाः पशुधर्माः ? उत साधारणा इत्यस्मिन्नधिकरणे प्रयोजनाय विचारोऽयम् । यदि साधारणाः पशुधर्मास्ततः सारस्वती अधिगुवचनमप्राप्ता, अथाग्नीषोमीयधर्मा ततोऽस्याम् अधिगुवचनमूहेन प्राप्यते । न च प्रयोजनस्य प्रयोजनं वक्तव्यम् ॥ ४९ ॥ ॥ आ० नि० ॥ सारस्वत्यां मेप्यामधिगुवचनाभावाऽधिकरणम् ॥ १६ ॥

आम्नातादन्यदधिकारे वचनाद्विकारः स्यात् ॥५०॥

अस्ति ज्योतिष्टोमः । ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेति । तत्र यज्ञायज्ञीयं प्रकृत्य आमनन्ति- न गिरा गिरेति ब्रूयात्, यद्विरा गिरेति ब्रूयात्, आत्मानं तदुद्गातोद्गिरेदैरं कृत्वोद्ग्रेयमिति । तत्र संशयः । किम् इरापदं गिरापदं वा कर्त्तव्यम्, अथ वा इरापदमेव ? इति । किं प्राप्तम् । यत्र अधिकारे आम्नातादन्यदुच्यते, तद्विकारभूतं स्यात् । ज्योतिष्टोमाधिकारे आम्नाताद् गिरापदादन्यदुच्यते इरापदम् । तद् विशे उच्यमानं सामान्येन प्राप्तं गिरापदं बाधेत ॥ ५० ॥ सि० ॥ द्वैधं वा तुल्यहेतुत्वात् सामान्याद्विकल्पः स्यात् ॥५१॥

घाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । न इरापदं नियम्येत । द्वैधं स्यात् । द्वौ प्रकारौ स्यातामित्यर्थः । कौ द्वौ प्रकारौ । इरापदवचनं, गिरापदवचनञ्च । तुल्यो हि हेतुः । गिरापदमाम्नातम् । तद्वता साम्ना ज्योतिष्टोमः साधयितव्य इत्येतदप्यवगम्यते । इरापदेन साधयितव्यमित्येतदपि । समानार्थं चैते द्वे पदे । एकमपि स्तुत्यर्थमपरमपि । तस्माद् विकल्पः स्यात् । इरापदं गिरापदं वेति ॥ ५१ ॥ पूर्व० ॥

उपदेशाच्च साम्नः ॥ ५२ ॥

अत्राह । नैतयोस्तुल्यता विद्यते । गिरापदे समास्नानमात्रं, न कर्त्तव्यता विधीयते । इरापदे तु कर्त्तव्यता विधीयते । तत्र । कुतः । उपदेशात् साम्नः । उपदिश्यते हि साम । यज्ञायज्ञीयेन स्तुवन्तीति । गिरापदवच्च यज्ञायज्ञीयम् । तस्मिन्नुपदिश्यमाने गिरापदमप्युपदिष्टं भवति । तस्माद्विकल्प इति ॥ ५२ ॥ युक्तिः ॥

नियमो वा श्रुतिविशेषादितरत् सामदश्यवत् ॥ ५३ ॥

नियमो वा स्याद् इरापदस्य । कुतः । श्रुतिविशेषात् । श्रुति-

विशेषेण इरापदमुपदिष्टम् । परं कृत्वेति । सामान्येन गिरापदम् । तत्कथं साम्न उच्यते ? । गिरापदस्य पाठमात्रं, न कर्त्तव्यता । न त्वन्यथा साम कृतं भवतीत्यर्थापत्त्या गिरापदस्य कर्त्तव्यता कल्प्यते । इरापदस्य पुनः श्रुत्यैव कर्त्तव्यता । तेन साम्नि सिद्धे नास्त्य-
 र्थापत्तिर्गिरापदस्य । अथ यः सामान्येनोपदिष्टस्तस्य को विषयः । तदुच्यते । इतरत् साप्तदश्यवदिति । गिरापदमुपदिश्यते । तद्यथा साप्तदश्यं, तथा स्यात् । विकृतिषु साप्तदश्यं निविशते । इतरदपि विकृतीराभिनिवेष्टुमर्हतीति ॥ ५३ ॥ उत्तरम् ॥ यज्ञायज्ञीये गिरा-
 शब्दस्य स्थाने इरापदस्यैव कर्त्तव्यताधिकरणम् ॥ १७ ॥

अप्रगाणाच्छब्दान्धत्वे तथाभूतोपदेशः स्यात् ॥५४॥

ज्योतिष्टोमं यज्ञायज्ञीयं प्रकृत्य आमनन्ति । न गिरा गिरेति ब्रूयात्, यद्गिरा गिरेति ब्रूयात् । आत्मानमेव तदुद्गता उद्गिरेदैरं कृत्वोद्गोयमिति । ज्योतिष्टोमे गिरापदस्य स्थाने इरापदं कर्त्तव्यमिति समाधिगतम् । इदानीमिदं सन्दिह्यम् । किं अप्रगीतमिरापदं कर्त्तव्यम्, उत अप्रगीतमिति । किं प्राप्तम् । गिरापदादन्यस्मिन् शब्दे श्रूयमाणे ब्रूमः । अप्रगीतमिरापदं कर्त्तव्यम् । कुतः । अप्रगाणात् । न हि तद् अप्रगीतमुपदिश्यते । सर्वं हि यद् यथाभूतमुपदिश्यते, तत् तथाभूतमुपयोक्तव्यम् ॥ ननु नैव तद् अप्रगीतमुच्चार्यते । तद्धित-
 शब्देन अयं निर्देशः क्रियते । तेन स्वरविशेषः कश्चिन्निर्दिष्टो भवति । अत्रोच्यते । यद्यपि चास्ति स्वरविशेषः । अन्ये तु गीतिविकारा आर्द्धभावादयो न निर्दिश्यन्ते । अविकृतात् तद्धित उत्पादितः । तस्माद् अविकृतं प्रयोक्तव्यम् । अधोच्यते । तद्भूतनिर्देशोऽविषक्षित इति । उच्यते । अविषक्षायां न किञ्चित् । विषक्षायान्तु निर्देश एव कारणम् । तस्मादप्रगीतं प्रयोक्तव्यमिति ॥ ५४ ॥ पूर्व० ॥

यत्स्थाने वा तद्गीतिः स्यात् पदान्यत्वप्रधान-
 त्वात् ॥ ५५ ॥

वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । यस्य पदस्य स्थाने इरापदं प्रयु-
 ज्यते, तस्य पदस्य या गीतिः सा इरापदे स्यात् । कुतः । पदान्य-
 त्वप्रधानत्वात् । पदान्यत्वप्रधानं हीदं वाक्यम् । गिरापदस्य स्थाने
 इरापदं भवतीति । नाप्रगीतं प्रयोक्तव्यमिति । अन्या हि वचनव्यक्तिः

इरापदस्य विशेषे विधीयमाने, अन्या इरापदे । एवं हि भ्रूयते । इरापदस्य विकारं कृत्वोद्गोयमिति । तत्रानेन प्रकारेण इरापदं विधीयते, नान्यं प्रगानादिरापदस्य विकारं भ्रूयात् । न गिरापदस्येत्येतत् तद्धितेनोच्यते । नाप्रगीतस्य इरापदस्य विकारस्तद्धितशब्देनाध्यवसीयते । पञ्चात्तद्धितार्थो विकारं भ्रूयादिति असावनुद्यते एव । यः प्रकृत्यर्थं इरापदस्येति, स विधीयते । तेन पदान्यत्वपरमेतद्गचनं, न गीत्यनन्वयपरम् । गीतिर्हि विकारः सामान्याभिर्दिश्यते ॥ ५५ ॥ सि० ॥

गानसंयोगाच्च ॥ ५६ ॥

गानसंयोगो भवति, उद्गोयमा इरा चा दाक्षासा इति इरागानं दर्शयति ॥ ५६ ॥ युक्तिः ॥

वचनमिति चेत् ॥ ५७ ॥

इति चेत् पश्यसि, गानदर्शनमेतद्भवतीति । नैवं, वचनं भविष्यति, उद्गोयमा इरा चा दाक्षासा इति ॥ ५७ ॥ आ० ॥

न तत्प्रधानत्वात् ॥ ५८ ॥

नैतदेवम् । तत्प्रधानं हीदं वाक्यम् । किंप्रधानम् । इरापदप्रधानम् । निर्देशात् । न गीतिप्रधानम् । अनिर्देशादित्युक्तम् । तथा इरापदस्यार्थवादो भवति, न गीतेः । इरामहं यजमाने ददानि इतिपदस्य च्चायमर्थवादो, न गीतेः । तस्मात् प्रगीतं प्रयोक्तव्यमिति ॥ किं भवति प्रयोजनं चिन्तायाः, नात्र कश्चिद्विशेषः ? अन्यस्मिन्नेतत्सदृशे प्रयोजनमस्ति, न प्रप्रेति भ्रूयात्, प्रप्रीति भ्रूयात् । यदि पूर्वः पक्षः, प्रप्रपदं वा वक्तव्यम् । प्रप्रीपदं वा । यदि सिद्धान्तः, प्रप्रीपदमेव वक्तव्यमिति ॥ ५८ ॥ आ० नि० ॥ इरापदस्य प्रगीतताधिकरणम् ॥ १८ ॥ इति श्रीभट्टशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये नवमस्य अध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ ९ ॥ १ ॥

अथ नवमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ ९ ॥ २ ॥

सामानि मन्त्रमेके स्मृत्युपदेशाभ्याम् ॥ १ ॥

सन्ति सामानि, रथन्तरं बृहद् वैरूपं वैराजं शाकरं रैवतमिति अभित्वा शूर नो जुम इत्येवमादिषु । तत्रैवोऽर्थः सन्दिह्यते । किं प्रगीता एते मन्त्राः सामानि, उत गीतयः सामानीति । ननु सिद्धं,

गीतिषु सामाख्येति । उच्यते । तत्र द्वितीयेऽध्याये मन्त्रगते भावशब्दे चोदकत्वं प्रति विचार्यमाणे मन्त्राभावाशङ्कायां मन्त्रसङ्गाधोपपादनाय, तच्चोदकेषु मन्त्राख्या इति कृते लक्षणं, अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रयीविदा विदुः, ऋचो यजूषि सामानीति ऋगादीनां विभागाय प्रसक्तानुप्रसक्तं लक्षणं गीतिषु सामाख्या इत्युक्तम् । तत्र यदि प्रगीतो मन्त्रः साम, यदि वा गीतिमात्रम् । उभयथापि ऋग्यजुषाभ्यामन्यत्सामेति सिद्धे विभागे न विवेकाय प्रयत्नः । प्रयोजनाभावात् । इह तु प्रगीते मन्त्रेऽन्यत् कर्म, गीतिमात्रेऽन्यदिति विवेकाय प्रयत्यते ॥

आह । नन्वेतदपि सिद्धं, गानकर्मणो वाचकः सामशब्द इति । उच्यते । तदेव पुनरभिधीयते, स्मरणाय, उत्तरमधिकरणं चिन्तयितुम् ॥ गीतिः सामेति स्थिते इदं चिन्त्यते । गीतिषु ऋचः प्रधानभूताः ? उत, गुणभूता इति । आह । नैव स्मरणाय पूर्वपक्षोद्धरणम् । न हि मन्त्राः सामानीत्येषोऽर्थः स्मर्त्तव्यः । अत्रोच्यते । पूर्वपक्षेऽपि सिद्धान्तस्मरणार्थमेवोपादीयते । यत् प्रगीतं मन्त्रवाक्यं तत्सामेत्येवं पूर्वपक्षं कृत्वा गीतिमात्रं सामेति स्थापितम् । तस्मिन् स्थिते अयमुत्तरो विचारः कर्त्तव्यः । गीतिषु किम् ऋचः प्रधानभूताः, उत गुणभूता इति ॥ किं प्राप्तम् । एके मन्यन्ते, प्रगीतं मन्त्रवाक्यं सामेति । कुतः । स्मृत्युपदेशाभ्याम् । एवं हि स्मरन्ति । प्रगीतं मन्त्रवाक्यं सामेति । तत्रभवन्तश्छान्दसाः । एवञ्चोपदिशन्ति शिष्येभ्यः । आह । ननु यदेव स्मरन्ति, तदेवोपदिशन्ति । नैवं सति उपदेशो हेत्वन्तरमिति । उच्यते । बाढम् । अन्यथा तर्हि उपदेशं वर्णयामः । अयमुपदेशः । अहे बुध्निय मन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रयीविदा विदुः, ऋचो यजूषि सामानीति । मन्त्रप्रकारः कश्चित् सामानीति मन्त्रोपदेशो भवति । तस्मादुपदेशान्मन्त्राः सामानीत्यवगच्छामः ॥ १ ॥ पूर्व० ॥

तदुक्तदोषम् ॥ २ ॥

तस्यैतस्य पक्षस्योक्तो दोषः सप्तमे । ऋचः प्रदेशो नोपपद्यते कवतीषु रथन्तरं गायतीति । देशलक्षणा धर्मलक्षणा वा प्राप्नोतीति । तस्माद्गीतयः सामानि, न प्रगीतानि मन्त्रवाक्यानीति ॥ २ ॥ सिद्धान्तः ॥ गीतीनां सामनामताधिकरणम् ॥ १ ॥

एवं वा—

सामानि मन्त्रमेके स्मृत्युपदेशाभ्याम् ॥ १ ॥

इदं सन्दिह्यते, योऽयम् ऊहो नाम, कया नश्चित्र आभुवो वा इति । किमयमप्यार्षो नित्यः, उत, चिन्तयित्वा-प्रगीतः ? । किं प्राप्तम् । एतानि ऊहसामानि मन्त्रभूतानि आर्षाणि नित्यानीति एकेमन्यन्ते । कुतः । स्मृत्युपदेशाभ्याम् । एवं हि स्मरन्ति । मन्त्रभूतानि आर्षाणि नित्यानीति । उपदिशन्ति च, एवंविधमेव शिष्येभ्यः ॥ आह । ननु यदेव स्मरन्ति, तदेवोपदिशन्ति । बाढम् । अयमन्य उपदेशो वर्णयते, ऊहश्चिकीर्षित इति ब्राह्मणमुपदिशन्ति । चिकीर्षित इति च इष्ट उच्यते । इच्छायां हि सन् विधीयते । यदि चायम् अपुरुष-धुद्धिपूर्वको वेदतुल्यः, तत इष्टः । अथ पुरुषप्रणीतस्ततो न प्रमाणम् । यज्ञे चाचिकीर्षितो न प्रयोक्तव्यः । चिकीर्षित इति च शब्दो भवति । तस्मान्नित्य ऊह इति ॥ १ ॥ पूर्व० ॥

तदुक्तदोषम् ॥ २ ॥

तदेतदुक्तदोषं भवद्वचनम् । भवतैव हेतुं वर्णयता अस्योक्तो दोषः । ऊहश्चिकीर्षित इति । ऊहश्चिकीर्षित इत्यनित्ये एतद्भवति । यदुक्तम्, इष्टे चिकीर्षितशब्दो भवति । इच्छायां हि सन् विधीयते इति । उच्यते । सत्यम् । इष्टं कर्तुं यद्धि क्रियते, तत्र कर्तुमिष्टं भवतीति । तस्माद् अनित्य ऊहः । यदुक्तं, स्मृतेर्नित्यतेति । नैषा स्मृतिः प्रमाणम् । इष्टमूला ह्येषा । भवति हि वचनम् । कवतीषु रथन्तरं गायतीति । तस्माद् अतिदेशवचनान्यायेनैवं गातव्यामिति वाचनिकं प्रथमं विज्ञानम् । तत एषा स्मृतिः । तस्माद्प्रमाणं, कृत्रिम ऊह इति । किं भवति प्रयोजनम् । न्यायविरुद्धमपि प्रमाणम् । यथापूर्वः पक्षः । यथा तर्हि सिद्धान्तः, न्यायविरुद्धमप्रमाणम् ॥ २ ॥ सिद्धान्तः ॥ ऊहग्रन्थस्य पौरुषेयताधिकरणम् ॥ १ ॥

कर्म वा विधिलक्षणम् ॥ ३ ॥

तान्येवोदाहरणानि । तेष्वयमर्थः समधिगतः । गीतिः सामशब्देन उच्यते इति । तत इदमिदानीं सन्दिह्यते । किं सा गीतिः, ऋचः प्रति प्रधानभूता ? उत गुणभूतेति । ननु सिद्धं— संस्कारकर्मणः सामशब्दो वाचक इति, अपि तु कर्मशब्दः स्यात् भावोऽर्थः प्रसिद्ध-ग्रहणत्वाद् इति । उच्यते । सत्यमाक्षेपेण प्रवर्तते । स एव निर्णयः

भविष्यति । किं प्राप्तम् । तेनैवाधिकरणेन संस्कारकमेति ॥ तथा प्राप्ते भ्रूमः । प्रधानकर्म वा सामशब्देनोच्यते इति । किं कारणम् । प्रधानविधिलक्षणं हि अत्रास्ति द्वितीया विभक्तिः— रथन्तरं गायतीति । तस्मात् प्रधानकमेति । अपिच । कर्मकाले गानं भवति । तद् यदि द्रव्यसंस्कारार्थं, संस्कृतं द्रव्यमदृष्टेन संस्कारेण, न कर्मकाले पुनः संस्कर्तुं शक्यम् । न हि स्निग्धस्य स्नेहनं शक्यं कर्तुं, पिष्टस्य वा पेयणम् । स एषोऽग्नीनामिवाभ्युपगन्तव्यः । अकर्मकाले क्रियमाणः संस्कारो भवतीति । अस्मत्पक्षे पुनः प्रधानकर्म फलाय भविष्यति । तत्राविप्रतिषिद्धकर्मकाले गानम् ॥ अपिच, श्रावण्यां पौर्णमास्यां व्रतान्युपाकृत्य, अर्द्धपञ्चमान् मासान् स्वाध्यायमधीयीतेति । तदेषां फलाय भविष्यति । इतरथा पुरुषाणामुपदिश्यमानं कर्मणां कल्प्येत । तस्मादपि प्रधानकमेति ॥ ३ ॥ पूर्व० ॥

तादृग्द्रव्यं वचनात् पाकयज्ञवत् ॥ ४ ॥

आह । प्रधानकर्मेत्युच्यते । न चैतत् प्रधानकर्म । न हीदं फलम् । फलकल्पनायां चाश्रुतं कल्प्येत । तेन यागं प्रति गुणभूतम् । यदि न गुणभूतं, किमस्य द्रव्यम्, यत् प्रति प्रधानभूतमेतत् ? । तदुच्यते । ऋग्द्रव्यम् । ऋग् अस्य द्रव्यस्थानीया । यथाऽन्यस्य कर्मणो द्रव्यं साधकम्, एवमस्य ऋक् साधिका । तस्माद् ऋचं प्रति प्रधानभूतमेतत् । भूतं हि भव्यायोपदिश्यते । कथं पुनरेतद् ऋग्द्रव्यम् । वचनात् । वचनमिदं भवति । ऋचि साम गायतीति । यथा पाकयज्ञेषु तत्तद्वाचनिकं द्रव्यं भवति, लाजाः, धानाः, तण्डुलाः आज्यामिति । एवमिहापि ऋग् द्रव्यम् । वचनादिति ॥४॥ आ०नि० ॥

तत्राविप्रविद्धो द्रव्यान्तरे व्यतिरेकः प्रदेशश्च ॥ ५ ॥

आह । या ऋगस्य वचनेनोच्यते, तद् द्रव्यमेतद् भवति । कथं द्रव्यव्यतिरेके सति द्रव्यान्तरे प्रदेशे च तदिदं साम ? इति । अत्रोच्यते । अविप्रतिषिद्धमेतत् । गीतिमात्रं हि सामेति । द्रव्यमस्य निर्वर्त्तकं वाचनिकम् । तत् सामान्यविहितं, विशेषविहितेन द्रव्यान्तरेण बाध्यते । यद् अत्र द्रव्यव्यतिरिक्तं गीतिमात्रं, तदेव बृहद्वा रथन्तरं वेति न दोषो भवति । तस्मात् प्रधानकर्म सामेति ॥ ५ ॥ युक्तिः ।

शब्दार्थत्वान्तु नैवं स्यात् ॥ ६ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । नैतदेवं भवितुमर्हति, प्रधानकर्म सामेति । गुणकर्म स्यात् । कुतः । शब्दार्थत्वात् । शब्दस्योपकारकं साम प्रत्यक्षमुपलभ्यते । साम्निक्रियमाणे ऋगक्षराणि उच्चार्यन्ते । तस्मिन् सति नादृष्टं कल्पनीयम् ॥ ६ ॥ सि० ॥

परार्थत्वाच्च शब्दानाम् ॥ ७ ॥

परार्थाच्च शब्दाः स्तुत्यर्थाः । स्तुतिर्हि चोदिता, आज्यैः स्तुवते पृष्ठैः स्तुवते इति साम्न ऋगक्षरैरुच्चार्यमाणैः प्रत्यक्षा अवगम्यते । ततः स्तुत्यर्थाया ऋचः सत्याः सामार्थता परिकल्प्येत । कल्पनायाञ्च प्रमाणं नास्ति । तस्मादपि साम गुणभूतमिति ॥ ७ ॥

असम्बन्धश्च कर्मणा शब्दयोः पृथगर्थत्वात् ॥ ८ ॥

इतश्च गुणभूतं साम । कुतः । असम्बन्धश्च साम्नः स्तोत्रेण स्यात् । तस्य प्रधानभावेन स्तुतिः साम्न उपदिश्येत, न सामस्तुतेः । तत्र बृहत् पृष्ठं भवति रथन्तरं पृष्ठं भवतीति वचनं बाध्येत । रथन्तरगुणकं पृष्ठं भवतीत्येतदेवमुपदिश्यते । तद् ऋगर्थं साम्नमवकल्पते । प्रत्यक्षं हि तदा पृष्ठस्योपकारं साम करोति । यदस्य वाचकं प्रकाशयति शब्दं, तद् रथन्तरपृष्ठशब्दयोः सामानाधिकरण्यादेकार्थत्वं शक्यं विज्ञातुम् । पृथगर्थत्वे तु असम्बन्धः स्यात् । तस्माद् ऋचः साम गुणभूतमिति ॥ ८ ॥ युक्तिः ॥

संस्कारश्चाप्रकरणेऽग्निवत् स्यात् प्रयुक्तत्वात् ॥ ९ ॥

अथ यदुक्तं, कर्मकाले गानम् ऋचः संस्कारकमग्न्याधानमिव कल्प्येत । प्रयुक्तत्वादिति । तत् परिहर्त्तव्यम् ॥ ९ ॥ आ० ॥

अकार्यत्वाच्च शब्दानामप्रयोगः प्रतीयेत ॥ १० ॥

यदि हि अकर्मकाले गानं कृतं, कर्मकालं यावत् तिष्ठेद् न विनश्येत् । ततः पुनरप्रयोगः प्रतीयेत । यदि वा पुनर्न शक्येत कर्मकाले गानं कर्त्तुं, तथाप्यप्रयोगः स्यात् । शक्यन्ते तु प्रगीताः शब्दाः पुनः प्रयोक्तुम् । तस्मादकर्मकाले प्रयुक्ता असाधका इति कर्मकाले प्रयुज्येरन् । तस्मान्न दोषो भविष्यतीति ॥ १० ॥ आ० नि० ॥

आश्रितत्वाच्च ॥ ११ ॥

अपिच कर्मकालाश्रितं गानं दर्शयति । औदुम्बरीं स्पृष्टानपाश्रित उद्गातोद्गायेदिति । सदस्यौदुम्बरी मध्यमा स्थूणा भवति ।

तां स्पृष्ट्वा इति ब्रुवन् सवसि गानं दर्शयति । तस्मान्न अकर्मकाल-
मग्न्याधानवत् कल्पयितव्यमिति ॥ ११ ॥ युक्तिः ॥

प्रयुज्यत इति चेत् ॥ १२ ॥

अथ यदुक्तम्, अङ्गपञ्चमान्मासान् अध्ययनं प्रयुज्यते, तत्
फलाय भविष्यतीति । तत् परिहृत्तव्यम् ॥ १२ ॥ आ० ॥

ग्रहणार्थं प्रयुज्येत ॥ १३ ॥

न हि फलाय भवितुमर्हति । तथाहि अदृष्टं कल्पयेत् । इश्यतेऽत्र
प्रयोजनम् । यत्तावदुपाध्यायः शिष्यभक्षिधावधीने, तद् ग्रहणार्थम् ।
यच्छिष्यस्तद् धारणार्थम् । ग्रहणधारणे प्रयोगार्थं भूमिरथिकवत्,
शुष्केष्टिवद्वा । तद् यथा, भूमिरथिको भूमौ रथमालिख्य शिक्षां
करोति, संग्रामे प्राशुभावो भवितेति । यथा च छात्रः शुष्केष्टीः प्रयु-
ङ्क्ते, प्रयोगे प्राशुकर्मा भविताऽस्मीति । एवमेतद् द्रष्टव्यम् । तस्माद्
दृष्टे सति नादृष्टायाध्ययनम् । तस्मात् संस्कारकर्म सामेति ॥ १३ ॥
आ० नि० ॥ साम्न ऋक्संस्कारकर्मताधिकरणम् ॥ २ ॥

तृचे स्याच्छ्रुतिनिर्देशात् ॥ १४ ॥

ज्योतिष्टोमे समाप्तायते । तस्मादेकं साम तृचे क्रियते स्तोत्री-
यमिति । अत्रायमर्थः सांशयिकः । किं तिसृषु ऋक्षु व्यासज्ज्य गानं
कर्त्तव्यम् ? उत प्रतिऋचं, समाप्तं गानं कर्त्तव्यमिति । किं प्राप्तम् ।
व्यासज्ज्येति । कुतः । श्रुतिनिर्देशात् । एवं श्रूयते । एकं साम तृचे
क्रियते इति । साम्न क्रियमाणे, निर्वृत्तौ गुणभूता त्रिसंख्या ऋग्-
गता श्रूयते । तत्र यद्येकस्यामृचि उपक्रम्य तस्याञ्चैतत् परिसमा-
पयेयुः, न त्रिसंख्यया साधनमस्य क्रियमाणस्य परिच्छिन्नुः । एक-
संख्यापरिच्छिन्नं क्रियमाणं स्यात् । तत्र श्रुतिर्बाध्येत । तद् यथा,
अयं घटस्त्रिषु नागदन्तकेषु स्थाप्यतामित्युक्ते व्यासज्ज्य स्थाप्यते,
न पर्यायेण । एवमिहापि द्रष्टव्यम् ॥ ननु पर्यायेऽप्येवञ्जातीयकः
शब्दो भवति । यथा, त्रिषु कुलेषु देवदत्तो भुङ्क्ते इत्युक्ते न यौगपद्य-
मवगम्यते । पर्यायेणापि भुञ्जाने भवत्येष वादः । एवमिहापि पर्या-
येण प्राप्नोतीति । अत्रोच्यते । न तत्र त्रिसंख्या भुजिं प्रत्युपदिश्यते,
येनैतदेवं भवति । तत्र कुलशब्देन सम्बद्ध्यते । त्रिषु कुलेषु, न द्वयो-
रेकस्मिन् वेति । यदा भुजिनिर्वृत्तिं प्रत्युपदिश्यते, तदा यौगपद्येनैव

भोजयितव्यः । इह तु त्रिसङ्ख्या क्रियते इत्यनेन सम्बद्ध्यते । एवं सति क्रियायां त्रिसङ्ख्या विहिता भवति । तत्र स्वपदगतस्य किञ्चिद्विधायकेन विहितं भवति । इतरथा ऋचः सङ्ख्यायाश्च सम्बन्धस्य पदान्तरगतेन शब्देन भावनोच्येत । तथा, अर्थविप्रकर्षः स्यात् । तस्मात् सामनिर्वृत्तिं प्रति त्रिसङ्ख्या उच्यते ॥ आह । ननु त्रिसङ्ख्या ऋक्शब्देनैवात्र सम्बद्ध्यते । अन्यथा असति सामर्थ्ये समास एव न स्यादिति । अत्रोच्यते । न भ्रूमो न सम्बद्ध्यते इति । सम्बद्ध्यते एव । समासश्च भवति । स तु समासशब्दः सामनिर्वृत्ताबुपयुज्यते इति । तत्र त्रिशब्दस्य ऋक्शब्दस्य चार्थो निर्वृत्ताबुपदिष्टो भवति । साम निर्वर्त्तयितव्यम् । एवं तास्तिस्र ऋचो भवन्ति, न न्यूना इति । इतरस्मिन् पक्षेऽभ्यासस्त्रिसङ्ख्यया सम्बद्ध्यते । तत्र साम क्रियते इति लक्षणा स्यात् । अभ्यासनिर्वृत्तौ सामनिर्वृत्तिशब्दो भवेत् । तस्माद् व्यासज्ज्य गानं कर्त्तव्यम् ॥ १४ ॥ पूर्व० ॥

शब्दार्थत्वाद्विकारस्य ॥ १५ ॥

इतश्च पश्यामः । तृचे व्यासज्ज्य साम गानव्यमिति । कुतः । शब्दार्थोऽयं सामसंज्ञको विकारः । ऋचो गुणभूत इत्यर्थः । स यदि व्यासज्ज्य क्रियते, बहुन्यक्षराणि अविकृतानि भवन्ति । तत्रायं चोदकोऽनुग्रहीष्यते । तस्माद् व्यासज्ज्य गानव्यम् ॥ १५ ॥

दर्शयति च ॥ १६ ॥

ऋक्सामौ वाव मिथुनीसम्भवावेति । सोऽब्रवीन्न वै त्वं ममालमसि जायार्थे वेदो मम महिमेति । ते द्वे भूत्वोचतुः । सोऽब्रवीत् । न युवां ममालं स्वो जायार्थे वेदो मम महिमंति तास्तिस्रो भूत्वोचुः । मिथुनीसम्भवामेति । सोऽब्रवीत् सम्भवामेति । तस्मादेकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रीयमिति । नैका स्तोत्रीया साम्नः सम्भवति । नापि द्वे तिस्रः सम्भवन्तीति व्यासज्ज्य गानं दर्शयति ॥ १६ ॥ युक्तिः ॥

वाक्यानां तु विभक्तत्वात् प्रतिशब्दं समाप्तिः

स्यात् संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ १७ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । वाक्यानि विभक्तानि त्रीणि एतानि । यास्तिस्र ऋचस्तत्रैकेका ऋक् कृत्स्नेन पदप्राप्तेण काञ्चित् स्तुतिमभिनिर्वर्त्तयति, न ऋगन्तरेण सह कञ्चिदर्थं संस्तौति । तत्र साम,

ऋचः संस्तवमभिनिर्वर्त्तयन्त्या गुणभावं गच्छत् साहाय्यं करोति । तत्र यदि व्यासज्ज्य गीयेत, न ऋचः स्तुतिमभिनिर्वर्त्तयन्त्याः साम उपकारकं स्यात् । न हि सामावयवः साम भवतीति । न च ऋक्-समुदायेन कश्चिदर्थः स्तूयते, यत्र सामसम्बद्धा स्तुतिं कुर्यात् । ऋक् स्तुतिं करोति, सा न सामसम्बद्धा । य ऋक्समुदायः साम-सम्बद्धः स स्तुतिं न करोति । तत्र प्रत्यृचं साम्नि परिसमाप्ते क्रियमाणे सामवता शब्देन स्तुतिः कृता भवति । सामसंस्कारस्य स्तुति-भावनार्थत्वात् प्रत्यृचं परिसमाप्तं गानं कर्त्तव्यमिति ॥ १७ ॥ सि० ॥

तथा चान्यार्थदर्शनम् ॥ १८ ॥

अन्यार्थमपि वाक्यमेतमर्थं दर्शयति । अष्टाक्षरेण प्रथमायामृचि प्रस्ताति द्व्यक्षरेणोत्तरयोरिति प्रस्तावे भेदं दर्शयति । तथाच, एका वा अस्योत्तमा स्तोत्रीया तामुद्गृह्णाद्वायेदिति उद्गीथभेदं दर्शयति । तस्मादपि प्रत्यृचं गानं कर्त्तव्यमिति ॥ अर्धर्चप्रगीतेष्वपि ऋच्येव गानं कर्त्तव्यम् । अपरिपूर्णं तद्वाक्यं अर्धर्चं भवति । ऋचि तु परि-पूर्णं इति । पादप्रगीतेषु पाद एव गानं कर्त्तव्यमिति । पाद एव हि तत्परिपूर्णं वाक्यम् । यथा, गाष्ट्रे वासिष्ठ इति । एवं यावति परिपूर्णं वाक्यं, तावति साम परिसमापयितव्यम् । क्वचित् पादेऽपि पूर्णं वाक्यम् ऋच्यपि क्वचिदर्धर्चेऽपि परिपूर्णम् । यत्र यथा परिपूर्णं, तत्र तथा गातव्यमिति ॥ १८ ॥

अनवानोपदेशश्च तद्वत् ॥ १९ ॥

अनवानोपदेशश्च तद्वद् युक्ता भविष्यति । यथाऽस्माभिर्न्याय उपदिष्टः । अनवानं गायतीति । शक्यते अनवानं, प्रत्यृचं परिसमाप-यितुम् । न तु तिसृषु व्यासज्ज्य शक्यते ॥ अपि च स्वाध्यायकाले प्रत्यृचं गानं परिसमापितं, स्वाध्यायकाले चाभ्यासः, प्रयोगकाले कथं प्राशुता स्यादिति । तद्यदि प्रयोगकाले प्रत्यृचं गानं कर्त्तव्यं, ततः स्वाध्यायकाले तदभ्यासो युक्तः । तस्मादपि प्रत्यृचं गेय-मिति ॥ १९ ॥ युक्तिः ॥

अभ्यासेनेतरा भ्रुतिः ॥ २० ॥

अथ ययुक्तं, तस्मादेकं साम तृचं क्रियते इति । तासु अभ्यासेन इतरा भ्रुतिर्द्रष्टव्या । पर्यायेणेत्यर्थः । न ह्यत्र ऋक् सामानवृत्त्यर्थमु-

पादीयते । तस्माद् न शक्यमिदं वक्तुम् । सामनिर्वृत्तिसाधनीभूता-
मृचं त्रिशब्दः परिच्छेत्स्यतीति । साम स्तोत्रस्य गुणभूतं निर्दिश्य-
ते । रथन्तरं पृष्ठं भवति, बृहत् पृष्ठं भवतीत्येवमादि । तत्र प्रत्यृचं
न्यायेन गानं प्राप्तं, न सामनिर्वृत्त्या संख्या सम्बद्ध्यते । किं तर्हि ।
ऋग्भिः । तत्रान्यथा नात्रकल्पते इति अश्यासो लक्ष्यते । तिसृष्वशय-
सितव्यं सामेति । यथा, त्रिषु कुलेषु देवदत्तो भोजयितव्य इति ।
यदा त्रिसंख्या कुलैः सम्बद्ध्यते, तदाऽश्यासो लक्ष्यते । एवमिहापि
द्रष्टव्यम् । तस्मात् प्रत्यृचं परिसमाप्तं गानं कर्त्तव्यमिति ॥ २० ॥
आ० नि० ॥ तृचे प्रत्यृचं कृत्स्नसाम्नः समापनाधिकरणम् ॥ ३ ॥

तदभ्यासः समासु स्यात् ॥ २१ ॥

अस्ति ज्योतिष्टोमः । ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेति । तत्रैतत्
सामानायते । तस्मादेकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रीयमिति । तत्रैतत्
समधिगतम् । प्रत्यृचं परिसमाप्तं गेयमिति । इदमन्यत् सांशयिकम् ।
समासु विषमासु वा गेयम् ? उत समास्वेवेति । किं तावन्नः प्रति-
भाति । नियामकस्य शास्त्रस्याभावादनियम इति ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः ।
समास्वेव गेयं, न नानाच्छन्दस्कास्विंति । किमेवं भविष्यति । गीतेः
संशर-विलेशौ न भविष्यतः । यदि न्यूनच्छन्दस्का ऋच उपादास्या-
महे, गीतिं संश्रुणीयाम । अथ अधिकच्छन्दस्काः, ततो गीतिं विले-
शयाम । उभयथा चार्थे बाधेमहि । समासु तु उपादीयमानासु न
किञ्चिद् दुष्यति । तस्मात् समासु गानं कर्त्तव्यमिति । अपिच त्रि-
शब्दोपचारः समासु युक्तो भविष्यति । समाने हि कस्मिंश्चिदाश्रीय-
माणे सङ्ख्याव्यवहारो भवति ॥ २१ ॥ सि० ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २२ ॥

लिङ्गं खल्वप्यस्मिन्नर्थे पश्यामः । स्थाल्यां सक्त्वधीयते सम्भ-
वतीत्याहुः, यद् बृहद् गायत्रीषु क्रियते ऋक्त्वेनान्नरुजतीति, न
चास्यां सम्भवतीति विच्छन्दस्कासु दोषं ब्रुवन् समानच्छन्दस्कासु गानं
दर्शयति ॥२२॥ युक्तिः ॥ समास्वेव तिसृषु ऋक्षु गानाधिकरणम् ॥४॥

नैमित्तिकं तूत्तरात्वमानन्तर्यात् प्रतीयेत ॥ २३ ॥

ज्योतिष्टोमे समामनन्ति । रथन्तरमुत्तरयोर्गायति, बृहदुत्तरयो-
र्गायति, कवतीषु रथन्तरं गायति, यद्योन्यां गायति, तदुत्तरयो-

गायतीति । तत्रैतत् समधिगतम् । समासु गेयमिति । अथेदानीमिदं
संदिह्यते । किं योन्युत्तरयोर्वा, उत्तराग्रन्थसमधीतयोर्वा गेयम् ?
उतोत्तराग्रन्थसमधीते एव उपादातव्ये इति । किं प्राप्तम् । नियम-
कारिणः शास्त्रस्याभावादनियम इति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । नैमित्तिकं
तूत्तरात्वमुत्तराग्रन्थसमधीतासूपपद्यते इति । कुतः । समाख्यानात् ।
प्रकृतत्वाच्चोत्तराग्रन्थसमधीतानाम् ॥ आह । द्वाभ्यामपि समाख्याप्र-
करणाभ्यां वाक्यं बलीयस्तस्मादनियम एव प्राप्नोति । अत्रोच्यते । सर्वे
हि सम्बन्धिशब्दाः पदान्तरमनपेक्षमाणा न कश्चिदप्यर्थमाहुः । त-
स्मादपेक्षितं पदान्तरं, तत् प्रकृतं सन्निहितं वा । इतरथा अपरिपूर्णार्थं
वाक्यमनभिधायकमेव कस्यचिदर्थस्य स्यात् । संज्ञासंज्ञिग्रहणे न पुनः
पदान्तरमपेक्षते । श्रुत्यैव परिपूर्णार्थो गृह्यते । तस्मान्न सम्बन्धि-
शब्दोऽध्यवसानीयः । उत्तरासंज्ञैवोपादातव्येति । न हि संज्ञासु
गृह्यमाणसु पदान्तरानन्तर्यमपेक्षितव्यं भवति ॥ २३ ॥ सि० ॥

ऐकार्थ्याच्च तदभ्यासः ॥ २४ ॥

तास्वेव चोत्तराग्रन्थसमधीतासु साम अभ्यसितव्यम् । एवमे-
कार्थता तृचशब्दस्य भविष्यति । एकं कश्चित् सामान्यविशेषमाश्रि-
त्य तृचशब्दमुपचरन्ति । एतदेवमुक्तम् । यद्विशेषे कस्मिंश्चित् सं-
ख्या भवति, इतरथा हि सर्वत्र सर्वसंख्या भवेयुः । तथाहि संव्य-
वहाराभावः स्यात् । तस्मात् समानच्छन्दस्कासु समानदेवताकासु
च तृचशब्दोपचारादुत्तराग्रन्थसमधीता एव गृहीतव्या इति ॥ २४ ॥
युक्तिः ॥ उत्तरयोगायतीत्यत्र उत्तराग्रन्थसमधीतयोरेव ऋचोर्ग्रहणा-
ऽधिकरणम् ॥ ५ ॥ प्रथमवर्णकम् ॥ १ ॥

एवं वा—

तदभ्यासः समासु स्यात् ॥ २१ ॥

अस्ति द्वादशाहः, द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेदिति । तत्र
चतुर्थेऽहनि त्रैशोकं नाम साम अतिजगत्यामुत्पन्नम् । अतिजगती,
विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरं सज्जस्ततश्चुरिन्द्रअजनुश्च राजसं ।
क्रत्वा वरिस्थं वरामुरीमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम् । उत्तरे द्वे
बृहत्यौ । तयोः पूर्वा, नेमिं नमन्ति चक्षसा मेघं विप्रा अभिस्वरा ।
सुदीतयो घो अद्रूहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृकमि । उत्तरा, सर्मी

रेमासो अस्वरजिन्द्रं सोमस्य पीतये । स्वर्पतिं यदीं वृधे । धृतव्रतो ह्योजसा समृतिभिरिति । तत्रैषोऽर्थः । सांशयिकः । किमन्ये अतिजगत्यौ उपादाय समासु गेयम् ? उत ये एव ते उत्तरं बृहत्यौ, एते एव उपादाय विषमास्वेव गातव्यमिति । किं प्राप्तम् । संशारविलेशौ मा भूतीमित्यभ्ये उत्पत्तिजगत्याबुपादाय एतत्साम समास्वेव अश्वसितव्यमिति ॥ २१ ॥ पूर्व० ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २२ ॥

लिङ्गं खल्वप्यस्मिन्नर्थे दर्शयति । अतिजगतीषु स्तुवन्तीति । किं लिङ्गम् । अतिजगतीष्विति बहुवचनम् । तस्मादन्ये अतिजगत्यौ उपादातव्ये इति ॥ २२ ॥ युक्तिः ॥

नैमित्तिकं तूत्तरात्वमानन्तर्यात् प्रतीयेत ॥ २३ ॥

नैमित्तिकं तूत्तरात्वमानन्तर्यादुत्तरापाठनिमित्तमानन्तर्ये सति प्रतीयेत । श्रुतिर्हि वाक्याद्वलीयसीति प्रकृतत्वादुत्तरे बृहत्यौ एव मनुग्रहीष्येते । तस्मान्नान्ये आदातव्ये इति ॥ २३ ॥ सि० ॥

ऐकार्थ्याच्च तदभ्यासः ॥ २४ ॥

एवञ्च समानदेवनाके त्रैशोके तृच इति तृचशब्दोपचारो युक्तो भविष्यति । तस्मादपि नान्ये उपादातव्ये इति । अत्राह । अथ यदुक्तम्, अतिजगतीषु स्तुवन्तीति शब्दोपचारादतिजगतीषुत्वं दर्शयतीति । तत् परिहृत्तव्यम् । अत्रोच्यते । तदभ्यास एव द्रष्टव्यः । षोडशभ्यासः । एकविंशः षोडशी इति एकविंशतिकृत्वः षोडशिनि अश्वस्यमाने त्रैशोकाभ्यासः । तत्र सप्तकृत्वोऽतिजगत्यामश्वस्यमानायामतिजगतीषु स्तुवन्तीति वचनमुपपत्स्यते इति ॥ २४ ॥ युक्तिः ॥ अतिजगत्यामश्वस्यमानायां त्रिशोकगानाधिकरणम् ॥ ५ ॥ द्वितीयवर्णकम् ॥ २ ॥

प्रागाधिकं तु ॥ २५ ॥

ज्योतिष्टोमे श्रूयते, बृहत् पृष्ठं भवति रथन्तरं पृष्ठं भवतीति । रथन्तरस्य योनिर्बृहती, अभि त्वा शूर नोनुमो दुग्धा इव धेनवः । ईशानमस्य जगतः स्वर्दृष्टशमीशानमिन्द्र तस्थुषः । उत्तरा पङ्क्तिः, न त्वावान् अन्यो द्विव्यो न पार्यिवो न जातो न जनिष्यते । अश्ववायन्तो मध्वजिन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे । बृहतो योनिर्बृहत्स्येव,

त्वामिच्छि इवामहे साता वाजस्य कारवः । त्वां वृत्रेष्विन्द्र सत्पतिं
 नरस्त्वां काष्ठास्वर्वतः । उत्तरा पङ्क्तिरेव, स त्वं नश्चिन्न वज्रहस्त
 धृष्णुया महःस्तवानो अद्रिवः । गामश्वं रथ्यमिन्द्र सङ्घ्निर सत्रा वा-
 जन्न जिग्युषे इति । तयोर्वेच्छन्दस्कं गानमाग्नायते, न वै बृहद्रथन्तर-
 मेकच्छन्दो यश्चैतयोः पूर्वा बृहती ककुभावुत्तरे इति ॥ तत्रायमर्थः
 सांशयिकः । किमन्ये उत्पत्तिककुभावागमय्य गातव्यम्, उत, या-
 ऽसौ पूर्वा बृहती, उत्तरा च पङ्क्तिस्तयोः प्रग्रथनेन तृचकर्म कृत्वा
 ककुभावुत्तराकारं गानं कर्त्तव्यम् ? इति । किं प्राप्तम् । उत्पत्तिककु-
 भावागमयितव्ये इति । कुतः । एवमन्यासां ककुभामुत्पत्तिरथर्वती
 भविष्यति, यदि ताः ककुपकार्ये प्रयुज्यन्ते ॥ आह । ननु वाचस्तोत्रे
 तासामर्थवत्ता भविष्यति । उच्यते । सत्यमर्थवत्ता तत्र भविष्यति ।
 ककुपकार्यार्थताऽपि तु गम्यते । सा नापह्नोतव्येति ॥ एवं प्राप्ते
 भूमः । प्रागाधिकं तु । तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । प्रागाधिकं सामगानं
 कर्त्तव्यमिति । याऽसौ पूर्वा बृहती, उत्तरा च पङ्क्तिस्तयोः प्रग्रथनं
 कर्त्तव्यम् । एवं हि स्मरन्ति । काकुभः प्रगाथ इति । आह । ननु
 ककुभि अनाद्यायां काकुभ इति न प्राप्नोतीति । उच्यते । तस्येदमिति,
 तत्र भव इति वा न दोषः ॥ २५ ॥ सि० ॥

स्वे च ॥ २६ ॥

एवञ्च स्वे च्छदसि गानं कृतं भवति । उत्तरापाठेन हि अत्रैषा
 पङ्क्तिरुपदर्शिता तृचकर्मणि । तत्र प्रकृतहानं अप्रकृतप्रक्रिया च न
 कृता भविष्यति । तस्मादपि तयोः प्रग्रथनं कर्त्तव्यमिति ॥ २६ ॥

प्रगाथे च ॥ २७ ॥

एवञ्चात्र प्रगाथशब्द उपपन्नो भवति । प्रकर्षे हि प्रशब्दो द्योत-
 यति । प्रकर्षेण यत्र गानं, स प्रगाथः । कश्च प्रकर्षः । यत् किञ्चित्
 पुनर्गायति । तस्मादपि प्रकृतयोः प्रग्रथनं कर्त्तव्यमिति ॥ २७ ॥

लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकाच्च ॥ २८ ॥

अव्यतिरेकेण च सर्वत्र लिङ्गं दर्शयति । कथमिदमव्यतिरेकेणे-
 ति । यत् प्रकृतयोरेव प्रग्रथनमुपपद्यते, न प्रकृतव्यतिरेकेणेति । किं
 लिङ्गं भवति । एवमाह । एषा वै प्रतिष्ठिता बृहती या पुनःपदा तद्य-
 त्पाद् पुनरारभते तस्माद् वत्सो मातरमभि हिङ्कुरंतीति । पुनः

पादारम्भः प्रग्रथने उपपद्यते, नान्यथा । तस्माद्याऽसौ पूर्वा बृहती, उत्तरा च पङ्क्तिः, तयोः प्रग्रथनेन तृचकर्म कृत्वा ककुबुत्तराकारं गानं कर्त्तव्यमिति ॥ २८ ॥ युक्तिः ॥ बृहतीपङ्क्त्योरेव प्रग्रथनेन रथन्तरस्य गानाधिकरणम् ॥ ६ ॥ ॥ प्रथमवर्णकम् ॥ १ ॥

एवं वा—

प्रागाधिकं तु ॥ २५ ॥

अस्ति ज्योतिष्टोमः । ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतैति । तत्र त्रिच्छन्दा आवापो माध्यन्दिनः पवमानः पञ्चसामा, गायत्रामहीयवे गायत्रे तृचे भवतो रौरवयोधाजये बार्हते तृचे औशनसमन्त्यं त्रिष्टुप्स्विति । यदेतद् रौरवं यौधाजयञ्च द्वे सामनी, तयोः पूर्वा बृहती । पुनानः सोम धारयापो वसानो अर्षास । आ रत्नधा योनिमृतस्य सीदस्युत्सो देव हिरण्मयः । उत्तरा विष्टारपङ्क्तिः । दुहान ऊधर्द्द्व्यं मधु प्रियं प्रत्नं सधस्यमासदत् । आपृच्छुच धरुणं वाज्यर्षति नृभिर्धौतो विचक्षणः । तदत्र संशयः । किमन्ययोरुत्पत्ति-बृहत्योरगमं कृत्वा समासु गानं कर्त्तव्यम्, उत, याऽसौ पूर्वा बृहती, उत्तरा च विष्टारपङ्क्तिस्तयोः प्रग्रथनेन तृचकर्म कृत्वा बृहतीकारं गानं कर्त्तव्यम् ? इति ॥ किं प्राप्तम् । अन्ये बृहत्यावागमयितव्ये इति । कुतः । एवमृचामुत्पत्तिरर्थवती भविष्यतीति ॥ एवं प्राप्तं ब्रूमः । प्रागाधिकं तु तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । प्रागाधिकं सामगानं कर्त्तव्यं, नोत्पत्ति-बृहत्यावागमयितव्ये । प्रकृतयोरेव प्रग्रथनं कर्त्तव्यम् । एवं हि स्मरन्ति । बार्हतः प्रगाथ इति । उत्पत्तिबृहत्योरानीयमानयोः प्रगाथो न स्यात् । तत्र स्मृतिर्बाध्येत । तस्मात् प्रकृतयोः प्रग्रथनं कर्त्तव्यमिति ॥ २५ ॥ सि० ॥

स्वे च ॥ २६ ॥

एवञ्च स्वे च्छन्दसि प्रकृते गानं भविष्यति, न प्रकृतहानमप्रकृत-प्रक्रिया । तस्मादपि नान्ये बृहत्यौ आगमयितव्ये इति ॥ २६ ॥

प्रगाथे च ॥ २७ ॥

एवञ्च प्रगाथशब्द उपपन्नो भविष्यति । स हि प्रकर्षे गानस्य भवति । प्रकर्षश्चेह पुनःपादे उपादीयमानं भवति । तस्मादपि नान्ये बृहत्यौ उपादातव्ये इति ॥ २७ ॥

लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकाच्च ॥ २८ ॥

अव्यतिरेकेण च लिङ्गं दर्शयति । किं लिङ्गं भवति । एवमाह, षष्टिस्त्रिष्टुभो माध्यन्दिनं सवनमिति । कथं कृत्वा लिङ्गम् । यदि प्र-
ग्रथनेन बृहतीकारङ्गानं क्रियते, ततः सर्वस्मिन् सवने या ऋचः स-
माम्नातास्ताः षष्टिर्भवन्ति । इतरथा उत्पत्तिबृहत्योरानीयमानयो-
रभ्यधिका भवेयुः । तादृदं निर्दिश्यते, गायत्रामहीयवे गायत्रे तृचं
भवतः । ताः षड्गायत्र्यः । रौरव-यौधाजये बार्हते, ता अपि षड्बृह-
त्यः । औशनसमन्त्यं त्रिष्टुप्सु । ता अपि तिस्रस्त्रिष्टुभः । अथ होतुः
पृष्ठे बृहति रथन्तरे वा सप्तदशस्तोमे क्रियमाणे पञ्च बृहत्यो भवन्ति ।
द्वादश च ककुभः ॥ कथम् ? । एषा हि तत्र तत्र विष्टुतिः । पञ्चभ्यो
हिङ्कुरोति, स तिसृभिः, स एकया स एकया । पञ्चभ्यो हिङ्कुरोति,
स एकया, स तिसृभिः, स एकया । सप्तभ्यो हिङ्कुराति स एकया, स
तिसृभिः, तिसृभिरिति ॥

तत्र बृहतीभिस्त्रिष्टुभिः प्रथममेकया च ककुभा, पुनश्चैकया ककुभा ।
ततः पुनरेकया बृहत्या तिसृभिः ककुब्भिः, एकया च ककुभा । एवं
चतस्रो बृहत्यः षट् ककुभाः । ततः पुनः, एकया बृहत्या, पुनश्च तिसृभिः
ककुब्भिः, पुनश्च तिसृभिः ककुब्भिरिति । एवं पञ्च बृहत्यो द्वादश
ककुभ इति । ताभिश्च बृहतीभिः सहैकादश बृहत्यो भवन्ति । ततः
षण्णां गायत्रीणां चतस्रो गायत्र्यो द्वादशभिः ककुब्भिर्द्वादश बृहत्यो
भवन्ति । एवं त्रयोविंशतिर्बृहत्यः । ततो वामदेव्ये सप्तदशका गाय-
त्र्यः । पावमानीभ्यां द्वाभ्यां गायत्रीभ्यामवशिष्टाभ्यां सहैकोनविंश-
तिगायत्र्यो भवन्ति । ततो नौघस्कालेययोरैकत्र सप्तदश बृहत्यः,
एकत्र सप्तपञ्चाशता गायत्रीपादैः सह सप्तपञ्चाशद् बृहत्यः सप्तप-
ञ्चाशत् त्रिष्टुभो भवन्ति । पावमानीभिस्त्रिष्टुभः सह षष्टिस्त्रिष्टुभ
इति सिद्धं भवति ॥ अथ बृहद्ग्रथन्तर्योरुत्पात्तककुभोरामः क्रियते
तत्र याः सवने साम्नाताः, ताः षष्टिर्भवन्ति । ये ते द्वे सवने
ककुभौ असाम्नाते आनीयेते, तयोर्द्वादशकृत्वः प्रयोगः । तेन सा
षष्टिः पूर्यते । यास्ता ऋचः सवने साम्नातास्ता इह सवनशब्देन
उच्यन्ते, न कर्मणि सवनशब्दप्रयोगः । तत्र हि त्रिषु सवनेषु बह्व्य-
स्त्रिष्टुभो भवेयुः, न षष्टिस्त्रिष्टुभो माध्यन्दिनं सवनमिति । तस्मा-
द्याप्तौ पूर्वा बृहती उत्तरा च विष्टारपङ्क्तिस्तत्र प्रगाथं कृत्वा गा-

तव्यमिति ॥ २८ ॥ युक्तिः ॥ बृहतीविस्तारपङ्क्तयोः प्रप्रथनेन रौरव-
यौधाजयसाम्नोर्गानाधिकरणम् ॥ ६ ॥ द्वितीयवर्णकम् ॥ २ ॥

एवं वा—

प्रागाधिकं तु ॥ २५ ॥

पञ्चच्छन्दा आवाप आर्भवः पवमानः सप्तसामा, गायत्रसंहिते
गायत्रे तृचे भवतः, श्यावाश्वान्धीगवे आनुष्टुभे, उष्णिहि सफं,
ककुभि पौष्कलं, कावमन्त्यञ्जगतीष्विति । यदेतत्, श्यावाश्वमान्धी-
गवश्च द्वे सामनी, तयोः पूर्वा अनुष्टुप्, पुरोजिती वो अन्धसः सुता-
य मादयित्तवे । अप श्वानं श्रयिष्टन सखायो दीर्घजिह्वम् । उत्तरे द्वे
गायत्र्यौ, यो धारया पावकया परिप्रस्यन्दते सुतः । इन्दुरश्वो न
कृत्यः । तं वुरोपमभी नरः सोमं विश्वस्या भिया । यन्नं हिन्वन्ति
आद्रिमिरिति । तत्रैषोऽर्थः सांशयिकः । किमन्ययोरुत्पत्त्यनुष्टुभो-
रागमं कृत्वा समासु गानं कर्त्तव्यम् ? अथ वा याऽसौ पूर्वाऽनुष्टुप्,
उत्तरे च गायत्र्यौ, तयोः प्रथमेन तृचकर्म कृत्वा अनुष्टुप्कारं
गानं कर्त्तव्यम् ? इति ॥ किं प्राप्तम् । अन्ये अनुष्टुभावागमयितव्ये
इति । कुत पतत् । एवं तासामुत्पत्तिरर्थवती भविष्यति । एवं प्राप्ते
ब्रूमः । प्रागाधिकं तु । प्रागाधिकं गानं कर्त्तव्यम् । एवं हि स्मरन्ति ।
अनुष्टुभः प्रगाथ इति । प्रगाथता स्मर्यमाणा नापहोतव्या ॥२५॥सि०॥

स्वे च ॥ २६ ॥

एवं स्वे गानं भविष्यति । तत्र प्रकृतमनुग्रहीष्यते । नाप्रकृतप्र-
क्रिया भविष्यति ॥ २६ ॥

प्रगाथे च ॥ २७ ॥

प्रगाथशब्दश्चोपपत्स्यते पुनःपादे गीयमाने ॥ २७ ॥

लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकाच्च ॥ २८ ॥

अव्यतिरेकेण च लिङ्गं भवति । एवमाह, चतुर्विंशतिर्जगत्य-
स्तृतीयसवनम्, एका ककुषिति । तन्निर्दिश्यते । पञ्चच्छन्दा आवाप
आर्भवः पवमानः सप्तसामा, गायत्रसंहिते गायत्रे तृचे भवतः । ताः
षड् गायत्र्यस्तिस्रा जगत्यो भवन्ति । श्यावाश्वान्धीगवे आनुष्टुभे,
तयोः पूर्वा अनुष्टुप्, उत्तरे गायत्र्यौ । तत्र प्रप्रथनेन क्रियमाणे द्वयोः
साम्नोः षडनुष्टुभः, ताश्चतस्रो जगत्य, पूर्वाभिः सह सप्त । उष्णिहि

सर्पं, ककुभि पौष्कलम् । एकमपि एकस्यामृचि, अपरमप्येक-
स्याम् । ते द्वे उष्णक्ककुभौ । सैका जगती । गायत्रीपादैश्च पूर्वा-
भिः सहाष्टौ जगत्यः । कावे तिस्रो जगत्यः । ताभिः सहैकादश भ-
वन्ति । एकविंशं यज्ञायज्ञीयम् । तत्र पूर्वा बृहती, उत्तरा विष्टारप-
ङ्क्तिः । ततः ककुभावुत्तरे कृत्वा प्रगाथः क्रियते । एकविंशे च स्तोमे
क्रियमाणे सप्त बृहत्यो भवन्ति । चतुर्दश ककुभः । याः सप्त बृहत्यः,
ता पञ्च जगत्यः । पूर्वाभिः सह षोडश । एकश्चात्र जगतीपादः ।
पूर्वेण गायत्रीपादेन सह विंशतिरक्षराणि । अथ चतुर्दशसु ककुप्सु
या द्वादश ककुभः, ताः सप्त जगत्यः । पूर्वाभिः सह त्रयोविंशतिः ।
ये द्वे ककुभौ शिष्टे, सैका जगती गायत्रीपादश्च । पूर्वाभिः सह चतु-
विंशतिर्जगत्यः । गायत्रीपादः पूर्वेविंशत्यक्षरैः सह ककुब् भवति ।
एवं प्रगाथे क्रियमाणे चतुर्विंशतिर्जगत्यः । एका च ककुप् । अथ
प्रगाथो न क्रियते, ततः श्यावाश्वान्धीगवयोरुत्तरानुष्टुभोरागमाद्
यज्ञायज्ञीयं उत्पत्तिककुभोरागमान्नेषा संख्या सम्पद्यते । तस्मात्
प्रग्रथनेन गानं कर्त्तव्यमिति ॥ २८ ॥ युक्तिः ॥ अनुष्टुब्गायत्र्योः
प्रग्रथनेन श्यावाश्वान्धीगवयोरंगानाधिकरणम् ॥६॥ तृतीवर्णकम् ॥३॥

एवं वा— गवामयने ब्रह्मसाम प्रकृत्य समामनन्ति । चतुःशत-
मैन्द्रा बार्हताः प्रगाथास्त्रयस्त्रिंशतं च सतोबार्हतास्त्रिका इति । तत्र
सन्देहः । किं द्वयोर्द्वयोर्ऋचोः प्रगाथं कृत्वा गातव्यम् ? उत तिसृषु
ऋक्षु गातव्यमिति । किं प्राप्तम् । तिसृषु ऋक्षु इति । कुतः । एवं प्र-
कृतां श्रूयंत तस्मादेकं साम तृचे क्रियते इति । तदिह चादकेन
प्राप्तम् । तस्मात्तिसृषु गातव्यमिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः—

प्रागाधिकं तु ॥ २५ ॥

स्वे च ॥ २६ ॥

प्रगाथे च ॥ २७ ॥

द्वयोर्द्वयोर्ऋचोर्गेयम् । एवं स्वे गानं कृतं भविष्यति । कस्मिन्
स्वे । प्रगाथं । कथं प्रगाथः स्वः । विहितो हि गवामयने ब्रह्मसाम
प्रकृत्य । तस्माद् ब्रह्मसाम्नः स्वः प्रगाथः । प्रगाथशब्देन च वचनात्
स्वः प्रगाथ इत्युच्यते ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ सि० ॥

लिङ्गदर्शनाव्यतिरेकाच्च ॥ २८ ॥

भवति हि लिङ्गदर्शनं, पञ्चसुमाः सुबार्हताः प्रगाथा आप्यन्ते इति । तच्च प्रप्रथने युज्यते, न तृचगाने । कथम् । चतुरुत्तरं हि शतं ते प्रगाथाः । तत्र बृहद्रथन्तरयोज्योतिष्ठोमे प्रगाथद्वयम् । नौघसकालेययोरपि । तत्रैव प्रगाथद्वयम् । इन्द्रकतुः प्रगाथ उत्तरस्मिन् यक्षसि भवति । त एते नवनवतिः प्रगाथाः शिष्टा अभिप्लवेषु कर्त्तव्याः । पृष्ठेषु सतोबृहत्यो विधीयन्ते । अभिप्लवानां तृतीये दिवसे सतो-बृहत्यः । एवमवशिष्टानि अभिप्लवानां शतमहानि । तेषामन्ये सतो-बृहत्यः । अन्येषु नवनवतौ दिवसेषु नवनवतिः प्रगाथाः । आप्यन्ते इति लिङ्गमप्युपपन्नं भवति । तृचे पुनर्गाने क्रियमाणे षट्षष्टिस्तृचा-स्त्रिषु सप्ताधिकेषु मासेषु समाप्येरन् । तदेतस्माल्लिङ्गदर्शनात् प्रगाथे गानं कर्त्तव्यमिति मन्यते ॥ आह । अथ कस्मान्न प्रथमतृचे गानं कृत्वा ततस्तस्मात् तृचादेकामृचमादायान्ये द्वे ऋचौ गृहीत्वा तृचे गानं क्रियते ? तथा हि तृचगानप्रापी चोदकोऽनुगृहीतो भवति । लिङ्गञ्चोपपत्स्यते । पञ्चसुमाः सुबार्हताः प्रगाथा आप्यन्ते इति । उच्यते । अव्यतिरेकेण लिङ्गं दर्शयति । अन्या ऋचो भवन्ति । तदेव सामेति । तस्माद् द्वयोर्द्वयांर्ऋचोः प्रगाथं कृत्वा गानं कर्त्तव्यमिति ॥ २८ ॥ युक्तिः ॥ पादप्रप्रथनेन ब्रह्मसामगानाधिकरणम् ॥ ६ ॥ चतुर्थ-वर्णकम् ॥ ४ ॥

अर्थेकत्वाद् विकल्पः स्यात् ॥ २९ ॥

सामवेदे सहस्रं गीत्युपायाः । आह । के इमे गीत्युपाया नाम । उच्यते । गीतिर्नाम क्रिया । सा आश्रयन्तरप्रयत्नजनितस्वर-विशेषाणामभिव्यञ्जिका । सा सामशब्दाभिलष्या । सा नियतपरि-माणे ऋचि च गीयते । तत्सम्पादनार्थं ऋक्षु अक्षरविकारो विश्लेषो विकर्षणमभ्यासो विरामः स्तोभ इत्येवमादयः सर्वे समाधिगताः समाप्तायन्ते । तेषु संशयः । किं समुञ्चीयन्ते, उत विकल्प्यन्ते इति । किं तावन्नः प्रतिभाति । सर्वेषां समाप्नानात् सर्वाङ्गोपसंहारित्वाच्च प्रयोगवचनस्य, समुञ्चीयेरन्निति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । अर्थेकत्वाद्विकल्पः स्यादिति । एकार्थो हि गीत्युपायाः । गीतिः कथं निर्वर्त्तेति प्रयुज्यन्ते । तत्रान्यतरेण भिन्नी गीतौ निर्वृत्तायां नेतरे प्रयोगमर्हन्ति । तस्माद्विकल्प इति ॥ २९ ॥ गीतिसंपादकानामक्षरविकारादीनां विकल्पाधिकरणम् ॥ ७ ॥

अर्थैकत्वाद्विकल्पः स्यादृक्सामयोस्तदर्थत्वात् ॥ ३० ॥

क्वचित्कर्मविशेषे श्रूयते, ऋचा स्तुवते साम्ना स्तुवते यहचा स्तुवते तदसुरा अन्ववायन् यत् साम्ना स्तुवते तदसुरा नान्ववायन् य एवं विद्वान् साम्ना स्तुवीतेति । तत्रायमर्थः सांशयिकः । किमृचा वा स्तोतव्यं, साम्ना वा ? उत साम्नैवेति । किं तावत् प्राप्तम् । विकल्पः । ऋचा वा साम्ना वा । भिन्नमिदं वाक्यं दृश्यते । यहचा स्तुवते तदसुरा अन्ववायन्निति । ऋचा स्तवे क्रियमाणेऽसुरा अन्ववगता इति । परिपूर्णमेतावति वाक्यं पद्यामः । एवमर्थमिदं सङ्कीर्त्येन । कथं नाम गम्यते ऋचा स्तोतव्यमिति । किमर्थम् । यस्मिन् कर्मविशेषे श्रूयते, तस्याङ्गं यथा स्तात् । तच्च प्रयोगसामर्थ्यात् प्रयोगवचनेन गम्यते इति ॥ नन्वसुरसङ्कीर्त्तनान्निन्दैषा । नेत्याह । न वयं निन्दितान् अनिन्दितान् वा असुरान् विद्मः । सङ्कीर्त्तनात् कर्त्तव्यतामध्यवस्यामः । एवं साम्ना स्तुवते इति पृथग्वाक्यम् । तस्माद्विकल्पः । ऋक्सामयोः स्तुत्यर्थत्वादुभयोरप्येकं कार्यम् । स्तुतिर्हि निर्वर्त्तयितव्यंति, तदन्यतरंण सिद्ध्यतीति विकल्पः ॥ ३० ॥ पूर्व० ॥

वचनाद्विनिर्योगः स्यात् ॥ ३१ ॥

नैतदस्ति, विकल्प इति । साम्नो विनिर्योगः स्यात् । कुतः । तस्येह विनियोजकं वचनमस्ति । यहचा स्तुवते तदसुरा अन्ववायन् । य एवं विद्वान् साम्ना स्तुवीतेति साम्ना स्तुतिः प्रशम्यते प्रत्यक्षेण प्रशंसावचनेन । इतरथा कल्प्या स्यात् । ऋचा स्तवने असुरा अनुगताः । तस्माद् ऋचा स्तोतव्यमिति । अथ साम्ना स्तवः प्रशस्यते, ततो यहचा स्तुवते तदसुरा अन्ववायन्निति तत्रप्रशंसार्था निन्दैषा न किञ्चिद् विकल्पयिष्यते इति । कथं निन्दावचनमेतदिति गम्यते । इतरस्तुतिवचनात् । तस्मात् साम्नैव स्तोतव्यमिति ॥ ३१ ॥ ॥ सिद्धान्तः ॥ ऋचा स्तुवते साम्ना स्तुवते इति विधिना साम्नैव स्तवविधानाधिकरणम् ॥ ८ ॥ प्रथमवर्णकम् ॥ १ ॥

अर्थैकत्वाद्विकल्पः स्यादृक्सामयोस्तदर्थत्वात् ॥ ३० ॥

क्वचित् कर्मविशेषे श्रूयते । अयं सहस्रमानव इत्येतया आहवनीयमुपतिष्ठते इति । अत्रायमर्थः सांशयिकः । किमप्रगीतया उपस्थातव्यम्, उत प्रगीतयेति । किं प्राप्तम् । प्रगीतया अप्रगीतया वा ।

कुतः । अविशेषोपदेशात् । प्रगीताऽप्यसौ इयमेव ऋक् । अप्रगीता-
ऽपीयमेव । उभयथा हि तां समामनन्ति । तस्मान्न विशेष आदर्शव्य
इतिान चेद्विशेषः, स्तुतिपरत्वाद् ऋक्सामयोर्विकल्प इति ॥३०॥ पूर्व०॥

एवं प्राप्ते भूम.—

वचनाद्विनियोगः स्यात् ॥ ३१ ॥

प्रगीतैव विनियुज्येत, नाप्रगीता । कुतः । वचनात् । किं वचन-
म् । अयं सहस्रमानव इत्येतया इतिप्रकृतवचनशब्दः । प्रगीता च
सामवेदे प्रकृता । सा, एतया इति सम्बद्ध्यते । नन्वप्रगीताऽपि तत्र
पठ्यते । सत्यम् । प्रगाणसम्बन्धार्था तु सा । न ह्यपठितायां प्रगाणं
शक्यते कर्त्तुमिति ऋक् सामार्थं । ऋचोऽध्ययनं सामार्थं गम्यते ।
न ह्यन्तरेण ऋचं, सामनिर्वृत्तिर्भवति । अन्तरेणापि तु साम, ऋक्
निर्वर्त्यते । न ऋक् साम आकाङ्क्षते इति । तस्मादेवं सामवेदे, उप-
तिष्ठते वा, स्तौति वेत्युक्ते प्रगीतायामेव ऋचि सम्प्रत्ययो भवति,
नाप्रगीतायाम् ॥

आह । यदि प्रगीतायां सम्प्रत्ययः प्रकरणाद्, वचनाद्प्रगीताया-
म् । अप्रगीताऽपि हि शाखान्तरे समाभ्यायते । सा प्रकरणं बाधित्वा
वाक्येन गृह्यतेति । उच्यते । न वाक्येन ऋक् गृह्यते । प्रतीकग्रहणं
ह्येतत् । अयं सहस्रमानव इत्येतयेति पुनः प्रकृताया ऋचो वाचको
मुख्य ऋक्शब्दः । त्वत्पक्षे प्रतीकग्रहस्य लक्षणा स्यात् । श्रुतिलक्ष-
णाविशये च श्रुतिर्न्याय्या, न लक्षणा । तस्मात् प्रगीतया उपस्थात-
व्यमिति ॥ ३१ ॥ सिद्धान्तः ॥ अयं सहस्रमानव इत्युक्त्वा प्रगीतयैव
आहवनीयोपस्थानाधिकरणम् ॥ ८ ॥ द्वितीयवर्णकम् ॥ २ ॥

अर्थैकत्वाद्विकल्पः स्यादृक्सामयोस्तदर्थत्वात् ॥३०॥

इह केचित्तु त्रैस्वर्येणाभ्यायन्ते, केचिच्चानुःस्वर्येण । आह । ये
इमे चानुःस्वर्येणाधीयन्ते, किं ते, उदात्तानुदात्तस्वरितेभ्योऽधिक-
मपरं स्वरं कुर्वन्ति ? नेत्याह । तेषामप्येते एव स्वराः, येऽन्येषाम् ।
किं नु कुर्वन्ति । एकं स्वरान्तरमुत्क्रम्याधीयन्ते । तत्र सन्देहः । किं
समुच्चयस्यैस्वर्यादीनाम्, उत विकल्प इति । किंप्राप्तम् । सर्वाङ्गो-
पसंहारित्वात् प्रयोगवचनस्य, समुच्चय इति । एवंप्राप्ते भूमः ।
अर्थैकत्वाद्विकल्पः स्यात् । एकोऽर्थः सर्वेषां त्रैस्वर्यादीनामध्ययन-
निर्वृत्तिः । तस्माद्विकल्पः ॥ ३० ॥ पूर्व० ॥

वचनाद्विनियोगः स्यात् ॥ ३१ ॥

वचनमिदं भवति स्मृत्यनुमितम् । तानो यज्ञकर्मणि इति । तस्मात्तानेन प्रयोगः कर्त्तव्यः । अथ त्रैस्वर्यादीनां किमर्थं समाप्नानमिति । उच्यते । अर्थावबोधनार्थं भविष्यति ॥ ३१ ॥ सिद्धान्तः ॥ अग्निर्मुद्धेत्यादियाज्यानुवाक्यादीनां तानेन प्रयोगाधिकरणम् ॥ ८ ॥ तृतीयवर्णकम् ॥ ३ ॥

सामप्रदेशे विकारस्तदपेक्षः स्याच्छास्त्रकृतत्वात् ॥ ३२ ॥

इदमाप्नायते, रथन्तरमुत्तरयोर्गायति, यद्योन्यां तदुत्तरयोर्गायति, कवतीषु रथन्तरं गायति, विराट्सु वामदेव्यमिति । तत्र सन्देहः । किमुत्तरावर्णवशेन गातव्यं, किं योनिवर्णवशेन ? । कथमुत्तरावर्णवशेन गीतं भवति ? कथं वा योनिवर्णवशेनेति । उच्यते । किञ्चिदुदाहरणं गृहीत्वा व्याख्यास्यामः । यदा तावद् वृद्धं तालव्यमाई भवति इति योनौ यस्मिन् भागे आईभावः कृतस्तस्मिन्नेव भागे उत्तरासु आईभावः क्रियते । ततो योनिवर्णवशेन गीतं भवति । अथ भागान्तरे वृद्धं तालव्यं दृष्ट्वा आईभावः क्रियते, तत उत्तरावर्णवशेन गीतं भवति ॥

किं पुनरत्र कर्त्तव्यम् । योनिवर्णवशेनेति । कथम् । यावति भागे एकारस्य योनौ आईभावः कृतस्तत्र विचारयामः । किं तत्र कृतमिति । एकारो नोच्चारितः, ईकाराकारौ आगमिताविति । एवञ्चेदुत्तरास्वपि तावत्येव भागे यो वर्णः, स नोच्चारयितव्यः । ईकाराकारौ आगमयितव्याविति । एवं, यद्योन्यां तदुत्तरयोर्गीतं भवति । तस्माद्योनिवर्णवशेन गातव्यमिति । अपिचैवं गीतिर्न प्रणङ्गयति, इतरथा क्वचित् प्रणश्येद् यत्र महती गीतिरल्पेषु अक्षरेषु गीयते । तत्र व्यक्तं प्रणश्यति यद्युत्तराक्षरवशेन क्रियते । तस्माद्योन्यक्षरवशेन कर्त्तव्यम् ॥ अपिच क्वचिदुपरुध्यते यत्राक्रमे आईभावभागवर्णः । आर्षञ्च क्वचिदुपरुध्यते । यत्र प्राकृत आगमो नैव क्रियते, तत्र स्वाध्यायकाले गानेन च कर्मकालं गानमविरुद्धं कर्त्तव्यम् । तस्माद्योन्यक्षरवशेन कर्त्तव्यमिति सामप्रदेशे विकार आईभावादिः । तदपेक्षो योन्यपेक्षः । एतत्, शास्त्रेण कृतं, यद्योन्यां तदुत्तरयोरिति । यावति सामभागे योनौ आईभावः कृतस्तावत्येवोत्तरासु कर्त्तव्यः ॥ ३२ ॥ पूर्व० ॥

वर्णे तु बादरिर्वधाद्रव्यं द्रव्यव्यतिरेकात् ॥ ३३ ॥

उत्तरावर्णवशेन कर्त्तव्यं बादरिर्मन्यते स्म, न योनिभागवशेन । कुतः । योऽसौ प्रकृतौ आर्द्रभावः कृतो, नासौ आगमः । न च तत्र एकारलोपः । किं तर्हि एकारो नाम अवर्णम् इवर्णञ्च । अवर्णं संवृतम्, इवर्णं विवृतम्, उभे अपि च दीर्घे । ताभ्यामसाधुभ्यां सन्ध्यक्षरं साधु जन्यते । तत्र प्रकृतौ अकारेकारौ विश्लेषितौ, नाऽपूर्वा-वागमितौ । गुणस्तु तयोः कश्चिद्पूर्वः कृतः । सर्वत्रात्र प्रमाणं प्रत्यक्षम् । तद्यत्र, तावति भागेऽन्यो धर्णो भवति, न सन्ध्यक्षरं, तत्र संश्लेषाभावे विश्लेषो न शक्यः कर्त्तुम् । अन्यस्मिन् भागे यत्र सन्ध्यक्षरं भवति, तत्र तद्वशाद्विश्लेषः क्रियते । एवं, यद्योन्यां तदुत्तरयोः कृतं भवति । योन्यां हि संश्लिष्टयोर्विश्लेषः कृतः । इहापि संश्लिष्टयोर्विश्लेषः । इतरथा व्यतिरिक्तं कल्पितं स्यात् ॥ अथ यदुक्तं, गीतिः प्रणङ्गयतीति । न प्रणङ्गयतीति । विनामं कृत्वा अनक्षरं गायिष्यते । संश्लेषाभावाच्चाशक्यो विश्लेषः कर्त्तुम् । आर्षक्रमौ नोपरोत्स्येते ॥ ३३ ॥ सिद्धान्तः ॥ रथन्तरमुत्तरयोर्गायतीत्यादौ उत्तरावर्णवशेन गानाधिकरणम् ॥ ९ ॥

स्तोभस्यैके द्रव्यान्तरे निवृत्तिमृगवत् ॥ ३४ ॥

कवतीषु रथन्तरं गायति, रथन्तरमुत्तरयोर्गायति, यद्योन्यां तदुत्तरयोर्गायतीति । तत्रोत्तरावर्णवशेन गातव्यमित्येतत्समधिगतम् । अथेदानीमिह सन्दिह्यते । किं स्तोभाः प्रदिश्यन्ते, न ? इति । किं प्राप्तम् । न प्रदिश्यन्ते इति । कुतः । गीतिर्हि साम, न स्तोभाः । या गीतिः सा प्रदिश्यते । यद्योन्यां तदुत्तरयोर्गायतीति गायतिशब्दसम्बन्धात् । अपि च दिक्शब्दाथैरसम्बध्यमानः स्तोभोऽनर्थकः स्यात् । तस्मादपि न प्रदिश्येत । अपिच क्वचिद् भवति वचनम् । ऐन्द्रचामवभृथसाम गायतीति । तत्रानुपपत्तिर्भवेत् । शीतकर्मा हीन्द्रोवाक्यशेषेभ्योऽवगम्यते । तस्य तपतीत्यनेन सम्बन्धो न स्यात् । तस्मात् स्तोभस्य ऋगन्तरे निवृत्तिः । यथा ऋगक्षरणामगीति-त्वान्निवृत्तिरेवं स्तोभाक्षरणामपीति ॥ ३४ ॥ पूर्व० ॥

सर्वातिदेशस्तु सामान्याल्लोकवद्विकारः स्यात् ॥ ३५ ॥

नैतदस्ति, स्तोभानां निवृत्तिरिति । सर्वातिदेशो हि भवति ।

ऋक्-स्तोम-स्वर-कालाभ्यासविशिष्टाया गीतेः सामशब्दो वाचकः । कथमवगम्यते । तत्र प्रयोगात् । यदि स्तोभा निवर्त्तेरन्, तत्कृतो विशेषो नोपसंगृहीतः स्यात् । तत्र शब्दो बाध्यत । तस्मात् स्तोभाः प्रदिश्येरन् । यत्तूक्तम्, ऋक्शब्दार्थैरसम्बद्ध्यमानाः स्तोभा अनर्थका भवेयुः । अत्र ब्रूमः । लोकवन्न अनर्थका भविष्यन्ति । तद्यथा लोके गायनैरङ्गवस्तुकानि यानि नाम प्रक्षिप्यन्ते तानि गीतिकालगणनाऽर्थानि, नार्थसम्बन्धायोश्चार्यन्ते । सुखं ह्यक्षरैर्गीतिकालः परिच्छिद्यते । तद्वद् इहापि कालपरिच्छेदार्थानि स्तोभाक्षराण्यनुवर्त्तेरन्निति ॥ ३५ ॥ सि० ॥

अन्वयश्चापि दर्शयति ॥ ३६ ॥

अन्वयतश्चापि स्तोभान् दर्शयति । यत्रार्थिकानि पदानि निवर्त्तन्ते, स्तोभा गेह्याश्चानुयन्तीति । स्तोभाः स्तोभा एव । गेह्याः स्वराः । तस्मादपि स्तोभाः प्रदिश्यन्ते ॥ ३६ ॥ युक्तिः ॥

निवृत्तिर्वाऽर्थलोपात् ॥ ३७ ॥

वाशब्दात् पक्षो विनिवर्त्तते । निवृत्तिः, अग्निष्टपतीत्येवञ्जातीयकानां स्तोभानाम् । शीतकर्मा हीन्द्रो वाक्यशेषे उपलभ्यते । न तेनैवञ्जातीयकाः स्तोभाः सम्बद्ध्येरन्निति । अन्वयात् सम्बद्ध्यन्ते लोकवदिति यदुक्तं, तत् परिहर्त्तव्यम् ॥ ३७ ॥ आ० ॥

अन्वयो वार्थवादः स्यात् ॥ ३८ ॥

अन्वीयुर्वा एवञ्जातीयका स्तोभाः । न हि वयमिन्द्ररूपं प्रत्यक्षमुपलभामहे । यच्च वाक्यशेषवचनं, सोऽर्थवादः ॥ ३८ ॥ आ० नि० ॥ उत्तरयोः स्तोभातिदेशाधिकरणम् ॥ १० ॥

अधिकञ्च विवर्णञ्च जैमिनिः स्तोभशब्दत्वात् ॥ ३९ ॥

अथ कः स्तोभो नाम । तस्य लक्षणं कर्त्तव्यम् । उच्यते । य ऋग्-ऽक्षरेभ्योऽधिको, न च तैः सवर्णः स स्तोभो नाम । ईदृशो हि लौकिकाः स्तोभशब्दमुपचरन्तीति । तद्यथा देवदत्तेन सभायां परं प्रलपता बहुस्तोभं कथितमिति । यदर्थवचनेभ्योऽधिकं विवर्णञ्च, तद् आलोच्य एवंवक्तारो भवन्ति । लक्षणकर्मणः प्रयोजनं न वक्तव्यम् । लक्षणकर्मणो हि तदेव प्रयोजनं, यल्लक्षितो भविष्यतीति । किमर्थमुभयं सूत्रितम् ? नन्वन्यतरत् पर्याप्तम्, अधिकमिति वा विवर्ण-

मिति वेति । नेत्याह । भवति हि किञ्चिद् अधिकं, न विवर्णम् । यथा
अभ्यासश्चाद्रिश्चाद्रिरिति । तथा किञ्चिद् विवर्णं, नाधिकम् । यथा
विकारः, ओग्नाइ इति तस्मादुभयं सूत्रयितव्यमिति ॥ ३९ ॥ स्तोभ-
लक्षणाधिकरणम् ॥ ११ ॥

धर्मस्यार्थकृतत्वाद्द्रव्यगुणविकारव्यतिक्रमप्रतिषेधे

चोदनानुबन्धः समवायात् ॥ ४० ॥

वाजपेये श्रूयते । बार्हस्पत्यञ्चरं नैवारं सप्तदशशरावं निर्धपती-
ति । अस्ति च प्रकृतौ व्रीहिषु प्रोक्षणम् । तदनीवारेषु भवति, न वेति
संशयः । तथा, उद्रीथा वा एतर्हि वाग्रवति यर्हि पृष्ठः षडहः सन्तिष्ठ-
ते, न बहु वदन्नान्यं पृच्छेन्नान्यस्मै ब्रूयात् । संस्थिते षडहे मध्वाश-
येद् घृतं वा इति मध्वशने घृताशने च षडहधर्मा भवन्ति वां, न
भवन्तीति संशयः । तथा राजसूये श्रूयते, नैऋतञ्चरं नखावपूतानां
परिवृत्यै ग्रहं इति । अस्ति प्रकृतौ उलूखलमुसलयोः प्रोक्षणम् । प्रोक्षि-
ताभ्यामुलूखलमुसलाभ्यामर्धहन्तीति । तद् नखेषु भवति, न भवति ?
इति संशयः । तथा चानुर्मास्येषु श्रूयते । परिधौ पशुं नियुञ्जीतेनि
परिधौ यूपधर्माः कर्त्तव्याः, न कर्त्तव्याः ? इति संशयः । तथा, न
गिरा गिरति ब्रूयाद्यदि गिरा गिरेति यादात्मानं तदुद्गातोद्गिरद् परं
कृत्वोद्देयमिति, इरापदे गिरापदधर्मा भवन्ति ? न भवन्तीति संशयः ॥
किं तावत् प्राप्तम् । व्रीह्यादिषु उक्ता धर्मा, न नीवारादिषु । तस्मात्तेषु
न भवेयुरिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । नीवारादिषु चोदनानुबन्धः स्यात् ।
समवैति हि तेषु स प्राकृतो धर्मः । प्रकृतौ तावदपूर्वप्रयुक्तोऽसौ
न व्रीह्यादिप्रयुक्तः । येनापूर्वस्य विशिष्टोऽयं साधनविशेषस्तत्रैव
धर्मो, न व्रीह्यादाविति समाधिगतमेतत् । नीवारादयश्च व्रीह्यादि-
कार्यकारिण इत्यवगम्यते । नीवारस्य भावचोदना । नैवारश्चरुः कर्त्त-
व्य इति । स च नान्येन प्रकारेण नीवारो यागस्योपकरोति, वर्ज-
यित्वा तण्डुलनिर्वृत्तिम् । स प्रत्यक्षेणावगम्यते, व्रीहिकार्ये वर्त्तते
इति । तस्माद् व्रीहिधर्मा नीवारे भवेयुरिति ॥ एवं षडहेनोपासीते-
ति चोदनायां सत्यां यदा षडहः सन्तिष्ठते, न षडहेनोपास्यते इत्य-
ऽर्थः । मधुघृताभ्यामुपासीतेति गम्यते । यस्य भावे यस्य निवृत्तिस्त-
त्तस्य स्थानेऽवगम्यते । षडहनिवृत्तौ मध्वशनं ब्रुवन् षडहकार्ये व-

दतीति गम्यते । तस्मात् षडहधर्मो व्रतं नियमो वा मध्वशने भव-
तीति । यागाभावात्तन्निमित्ता ग्रहा न प्रवर्त्तन्ते । ग्रहं वा गृहीत्वा
चमसं बोध्नीय स्तोत्रमुपाकरोतीति ग्रहचमसाभावात् स्तोत्राभावः ।
स्तुतमनुशंसतीति स्तोत्राभावादस्याभावः । सवनाभावात् सवनीया
न प्रवर्त्तन्ते, इत्येवमादि न प्रवर्त्तते । व्रतानि नियमाश्च प्रवर्त्तन्ते
इति ॥ यच्चान्यदनर्थलुप्तं न नखावपूतानामिति । नान्यथा नखावपू-
ता भवन्ति । यदि न तैस्तुपा विपूयन्ते, तस्मात्तुषाविमोचने नखाः
श्रुता इति गम्यते । अतश्चोदूखलमुसलधर्मैः सम्बद्ध्यन्ते इति ॥

तथा परिधिर्यूपकार्ये वर्त्तते इति विस्पष्टमेव वचनं, परिधौ
पशुं नियुञ्जतीति । तस्मात्तद्धर्मकः परिधिः स्यादिति ॥ तथा
न गिरा गिरंति ब्रूयादैरं कृत्वोद्रेयमिति नैतौ द्वावपि विधीयंते
प्रतिषेध, इरापदश्च । तथा हि वाक्यं भिद्यंत । न च, इरापदमप्राप्त-
त्वादनूयते । प्रतिषेधे त्वनुवादः सम्भवति । यदा इरापदं तदा व्य-
क्तं गिरापदं न भवतीति । एकवाक्यरूपश्च गम्यते । यस्माद्गिरापद-
स्यायं दोषस्तस्मादिरापदं ब्रूयादिति । भिन्नवाक्यरूपे त्वाध्रीयमाणे
भूयसी अदृष्टानुमानकल्पना स्यात् । न ह्यात्मानं गिरेदिति दोषो वि-
धीयते । शरीरं गिरितुमनम्भवः । परमात्मन्यदोषः । वाक्यभेदस्तु
स्थित एव । तस्माद् गिरापदोच्चारणमिरापदस्य तत्कार्यार्थापत्तिषु
दर्शनार्थं, न गिरा गिरंति कृत्वोद्रेयमिति । तस्माद्गिरापदधर्मा इरा-
पदं भवयुरिति सर्वत्र पर्यवसितम् । परिधौ अनन्तरा कथा वर्त्तिष्य-
ते ॥ ४० ॥ नीवारादिषु प्रोक्षणावघातादिधर्मानुष्ठानाधिकरणम् ॥ १२ ॥

तदुत्पत्तेस्तु निवृत्तिस्तत्कृतत्वात् स्यात् ॥ ४१ ॥

चातुर्मास्येष्वान्नायते । मध्यमे पर्वणि परिधौ पशुं नियुञ्जती-
ति । तत्रोक्तं, यूपधर्माः परिधौ कर्त्तव्या इति । तद्विपरिवर्त्तते । ते
न कर्त्तव्याः । तदुत्पत्तेः परिधेराहवनीयपरिधानार्थोत्पत्तैर्यूपधर्मा
निवर्त्तेरन् । तत्कृता हि ते अपूर्वप्रयुक्तपशुबन्धनद्वारेण अपूर्वं गच्छ-
न्ति । तत्र यद् बन्धनस्याङ्गभूतमिति श्रुतं तद् बन्धनार्थमेव द्रव्यमु-
त्पन्नम् । यच्चाहवनीयपरिधानार्थमुत्पन्नं, तस्मिन् पराङ्गभूते बन्धनं
कृतं भवति । न तद्धर्माणां द्वारं भवितुमर्हति । न हि तत्राक्रियमाणाः
पशोः कृता भवन्ति । न पाशुकस्य । अपिच सत्वकः परिधिरनु-

च्छयश्च यूपधर्मैः परिधित्वाद् हीयेत । यूपायाज्यमानायेति च शब्द ऊह्येत । तत्रायं बाधितः स्यात् । तस्मात् परिधौ यूपधर्मा न स्युरिति ॥ ४१ ॥ पूर्व० ॥

आवेश्येरन् वार्थवत्त्वात् संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ ४२ ॥

आवेश्येरन् वा यूपधर्माः परिधौ । बन्धनोपकारसाधने हि विधीयन्ते । यश्च परार्थो बन्धनं नयति निष्पादयति, करोत्यसौ बन्धनोपकारम् । अयश्च संस्कारो बन्धनं निष्पादयति, तदर्थोत्पत्तिम् अतदर्थोत्पत्तिं वा नापेक्षते । तस्मात्परिधौ यूपधर्माः कर्त्तव्या इति ॥ यदुक्तम्, अनुच्छयश्च सत्वक्कश्च परिधिरांत । अत्रोच्यते । ये परिधित्वाविरोधिनां यूपधर्मास्ते करिष्यन्ते, न विरुद्धा इति ॥ ४२ ॥ सि० ॥

आख्या चैवं तदावेशाद् विकृतौ स्यादपूर्वत्वात् ॥ ४३ ॥

अथ यदुक्तं, यूपायाज्यमानायेति शब्द ऊहितव्यः स्यादिति । अत्रोच्यते । नाहितव्यो भविष्यति । धर्मावेशाद् आख्या अपि यूप इति भविष्यति । धर्मनिबद्धा हि सा यथैव यूपे, तथा परिधावापि भवितुमर्हति । तस्मान्नोहिष्यतं यूपशब्द इति ॥ ४३ ॥ आ० नि० ॥ परिधौ यूपधर्मानुष्ठानाधिकरणम् ॥ १३ ॥

परार्थेन त्वर्थसामान्यं संस्कारस्य तदर्थत्वात् ॥ ४४ ॥

वि वा एनं प्रजया पशुभिरर्द्धयति वर्द्धयत्यस्य भ्रातृव्यं यस्य हविर्निरुतं पुरस्ताच्चन्द्रमा अश्रुदेति स त्रेधा तण्डुलान् विभजेत्, ये मध्यमास्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत् । यं स्वाविष्टान्दानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुं ये क्षोर्दष्टान्दान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृते चरुम् । शृते चरुं दधंश्चरुमित्येवमुदाहरणम् । तत्रायमर्थः सांशयिकः । किं शृते दधि प्रणीता धर्माः कर्त्तव्याः ? उत न कर्त्तव्या इति । किं प्राप्तम् । न कर्त्तव्या इति । परार्थमेतत् प्रदानार्थमिति, न प्रणीतार्थम् । दधि च तण्डुलविभागश्च एको भाग इन्द्राय प्रदात्रे दातव्यः । शृतश्च तण्डुलविभागश्च विष्णवे शिपिविष्टाय, न अणपार्थं दधि पयो वा विधीयते । तत्र हि सप्तमीसंयोगोऽनुवाद् एव । न च प्रणीताकार्ये विधीयते दधि पयो वा । तस्मात् प्रणीतानां धर्मैर्न संयुज्येते । न हि प्रणीतानां दधश्च अर्थसामान्यं किञ्चिदस्ति । तदर्थ-
श्चायं संस्कारः, अणपद्वारकः । तस्मान्न प्रणीताधर्माः पयसि दधनि

वा भवेयुरिति ॥ ४४ ॥ पूर्व० ॥

क्रियेरन् वाऽर्थनिवृत्तेः ॥ ४५ ॥

नचैतदस्ति, प्रणीताधर्मा दधिपयसोर्न कर्त्तव्या इति । श्रपणसाधने हि ते विधीयन्ते, न श्रपणार्थमुत्पन्ने द्रव्ये, येनार्थो निवर्त्तत तत्र ते अपूर्वप्रयुक्तत्वात् क्रियन्ते । क्रियते च दधिपयोभ्यां श्रपणम् । तस्मात् तद्धर्मैः संयोगः स्यात् ॥ ४५ ॥ सिद्धान्तः ॥ श्रुतादौ प्रणीताधर्मानुष्ठानाधिकरणम् ॥ १४ ॥

एकार्थत्वादविभागः स्यात् ॥ ४६ ॥

ज्योतिष्टोमे समामनन्ति, बृहत्पृष्ठं भवति रथन्तरं पृष्ठं भवतीति । व्यक्तो हि बृहद्रथन्तरयोर्विकल्पः । यस्मिन् कार्ये रथन्तरं प्रवर्त्तते तस्मिन्नेव कार्ये बृहत्पृष्ठसिद्धिद्वारेण धर्मा विहिताः । तस्माद् बृहद्धर्मा रथन्तरधर्माश्चाभयत्र कर्त्तव्या इति । बृहद्ग्रहणं रथन्तरग्रहणञ्च लक्षणाऽर्थं भविष्यति ॥ ४६ ॥ पूर्व० ॥

निर्देशाद्वा व्यवतिष्ठेरन् ॥ ४७ ॥

निर्देशाद्वा रथन्तरे रथन्तरधर्माः कर्त्तव्याः । नोच्चैर्गेयं, न च बलवद् गेयम् । रथन्तरे प्रस्तूयमाने संमीलेत् स्वर्देशं प्रतिवीक्षेत्-त्येवमादयः । बृहद्धर्माश्च, बृहति उच्चैर्गेयं, बृहति गीयमाने समुद्रं मनसा ध्यायेदित्येवमादयः । एवं निर्देशोऽर्थवान् भविष्यति । इतरथा रथन्तरग्रहणञ्च बृहद्ग्रहणञ्च प्रदर्शनार्थं स्यात् । तथा लक्षणा भवेत् । न च श्रुतिसम्भवे लक्षणा न्याय्या । यदुच्यते, अर्थकत्वाद् बृहद्रथन्तरयोरिति । सत्यमेकोऽर्थः पृष्ठसिद्धिः । एतदप्यस्ति । अन्यथा बृहता साध्यते पृष्ठम् । अन्यथा रथन्तरेणेति । यथा पर्वणि विभज्यमाने द्वावप्युपायौ । यथा द्वौ पुरुषौ अन्तयोगृहीत्वा आकर्षतः । यद्वा तीक्ष्णेन शस्त्रेण च्छेदनम् । तत्र यच्छस्त्रस्य तीक्ष्णीकरणं द्रव्यं तच्छेदनाभ्युपाये सम्बद्ध्यते, नाकर्षणाभ्युपाये तदर्थापन्नेऽपि । एवं बृहद्धर्मा रथन्तरे तदर्थापन्ने भवेयुर्वा न वेति जायते विचारणा । तत्र निर्देशसामर्थ्यादिदमवगच्छामः । अन्यथा बृहत्साधयति । अन्यथा रथन्तरमिति । प्रत्यक्षं खल्वपि अन्यदुपलभामहे । रथन्तरं शूरादिकां संस्तुतिं कुर्वत् पृष्ठं साधयति । बृहत् चित्रादिकाम् । तस्माद्रथन्तरधर्माः शूरादिकायां स्तुतौ निर्बद्धा रथन्तरे प्रस्तूयमाने भवे-

युनं बृहति । बृहद्धर्मा अपि चित्रादिकायां स्तुतौ निबद्धा बृहति भवेयुः, न रथन्तरे । तस्माद् व्यवस्था धर्माणामिति ॥ ४७ ॥ सिद्धान्तः ॥ बृहद्रथन्तरयोर्धर्मव्यवस्थाधिकरणम् ॥ १५ ॥

अप्राकृते तद्विकाराद्विरोधादव्यवतिष्ठेरन् ॥ ४८ ॥

अस्ति वैश्यस्तोमः । वैश्यो वैश्यस्तोमेन यजेतेति । तत्रेदमाज्ञायते । कण्वरथन्तरं पृष्ठं भवतीति । तत्रायमर्थः सांशयिकः । किं कण्वरथन्तरेऽन्यतरस्य रथन्तरस्य बृहतो वा धर्माः कर्त्तव्याः ? उतोभयोरपीति । किं प्राप्तम् । अन्यतरस्येति । कुतः । एवं हि उक्तम् । रथन्तरस्य राथन्तरा भवन्ति । बृहतो बृहद्धर्मा इति निर्देशसामर्थ्यादिति । तद्विशेषेऽनुच्यमाने यावदुक्तं तावत् प्राप्तमिति । तस्मादन्यतरस्य धर्माः कर्त्तव्या इत्येवं प्राप्तं द्रूमः । अप्राकृते कण्वरथन्तरे तद्विकाराद् यस्मात् कण्वरथन्तरमुभयोः कार्यं वर्त्तते, तस्मादुभयधर्माँल्लभेत । न हि विकृतौ निर्देशोऽस्ति यथा प्रकृतौ । अर्थापत्तित इह भवन्ति । चादकेन कण्वरथन्तरमुभयोरर्थापन्नम् । तस्मादुभयधर्माँल्लभेत । ये तु विरुद्धा धर्माः, तद्यथा उच्चैर्गैयं बलवद्गैयमित्येवजातीयका विरोधाद् व्यवतिष्ठेरन् । अविरुद्धेषु समुच्चयः ॥ ४८ ॥ कण्वरथन्तरे बृहद्रथन्तरधर्मसमुच्चयाधिकरणम् ॥ १६ ॥

उभयसाम्नि चैवमेकार्थात्ते ॥ ४९ ॥

सन्ति उभयसामानः क्रतवः । संसव उभे कुर्यात् गोसव उभे कुर्यात् । अपवितावपि एकाहे उभे बृहद्रथन्तरे कुर्यादिति श्रूयते । सन्ति तु प्रकृतौ बृहद्धर्मा रथन्तरधर्माश्च । ते इह चादकेन प्राप्यन्ते तत्र संशयः । किमुभयसाम्नि उभयधर्माः कर्त्तव्याः ? अथवा इहापि तथैव व्यवतिष्ठेरन्निति । किं प्राप्तम् । उभयसाम्नि चैवं स्यात् । यथा कण्वरथन्तरे । उभे हि अत्र सामनी पृष्ठकार्ये वर्त्तते, नैकैकम् । तस्मान्नैकैकधर्माँल्लभेत । उभे हि अत्र संहते, उभे धर्मैः संयुज्येयाताम् । उभे हि ते संहते, एकार्थापन्ने पृष्ठकार्ये वर्त्तते इति ॥४९॥ पूर्व०

स्वार्थत्वाद्वा व्यवस्था स्यात् प्रकृतिवत् ॥ ५० ॥

वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । न चैतदस्ति बृहद्रथन्तरयोः संहतयोर्भये धर्माः कर्त्तव्या इति । रथन्तरे रथन्तरधर्मा बृहति बृहद्धर्माः । कुतः ? । स्वार्थत्वाद् धर्माणाम् । रथन्तरधर्मा रथन्तरार्थाः,

बृहद्धर्मा बृहदर्थः । साम्नोश्चैते धर्माः, न पृष्टस्य । तच्च साम प्रयुज्यते रथन्तरं बृहद्वा । रथन्तरे प्रयुज्यमाने तद्धर्माः प्रयोक्तव्याः । बृहत्यपि प्रयुज्यमाने बृहद्धर्माः । सामप्रयुक्ता एवैते धर्माः । साम्नापि हि दृष्टमदृष्टञ्च क्रियते । तस्मात् सामापि धर्मप्रयोजने समर्थम् । अतो व्यवस्था धर्माणां प्रकृतिवत् । यथा प्रकृते रथन्तरे प्रयुज्यमाने तदङ्गं प्रयुज्यते । बृहति तदङ्गम् । एवमिहापीति ॥ ५० ॥ सिद्धान्तः ॥ द्विसामके बृहद्रथन्तरधर्मयोर्व्यवस्थाधिकरणम् ॥ १७ ॥

**पार्वणहोमयोस्त्वप्रवृत्तिः समुदायार्थसंयोगा-
त्तदभीज्या हि ॥ ५१ ॥**

स्तो दर्शपूर्णमासौ । तत्रेदं समामनन्ति । स्रुवेण पार्वणौ जुहोतीति । सौर्यादिषु वैकृतेषु कर्मसु भवति सन्देहः । किं तेषु पार्वणहोमौ कर्त्तव्यौ, न वा ? इति । तत इदं तावत् परीक्ष्यम् । किं कालाभीज्या पार्वणहोमौ, उत समुदायाभीज्या ? इति । कालाभीज्यायां तयोः प्रवृत्तिः । समुदायाभीज्यायामप्रवृत्तिः । कुतः संशयः । उभयत्र प्रसिद्धेः । उभयत्र हि पर्वशब्दो लोके प्रसिद्धः काले समुदाये च आ हिमवत आ च कुमारीभ्यः । किं तावत् प्राप्तम् । कालाभीज्या इति । ततः कालगता प्रसिद्धिर्व्यपदिश्यते ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः । पार्वणयोर्वैकृतेषु कर्मसु अप्रवृत्तिः । कुतः । समुदायार्थसंयोगात् । ततः समुदाये प्रसिद्धिर्व्यपदिश्यते । काले प्रसिद्धिं परिहरिष्याम इति । अतः समुदायवाचिन्वात् पर्वशब्दस्य समुदायस्याभियष्टव्यत्वाद् वैकृतेष्वप्रवृत्तिरिति ॥ ५१ ॥ सि० ॥

कालस्येति चेत् ॥ ५२ ॥

इति चेत् पश्यसि, कालस्य पर्वशब्दो वाचकः । तस्मात् कालाभीज्येति । तत् पारहर्त्तव्यम् । आभाषान्तं सूत्रं परेण विशेष्यते ॥ ५२ ॥ आ० ॥

नाप्रकरणत्वात् ॥ ५३ ॥

नास्ति कालस्य प्रकरणम्, अस्ति तु समुदायस्य । तस्मात् प्रकरणेन विशेषेण समुदायवाची गृह्यते, न कालवाची । अत्राह । न प्रकरणेन शक्यते पर्वशब्दस्य कालवाचितां बाधितुम् । दुर्बलं हि लिङ्गात् प्रकरणम् । उच्यते । नायमुभयत्र पर्वशब्दो वर्त्तते । यदि

कालवचनस्तत्सम्बन्धात् समुदाये गम्यते । यदि वा समुदाये, यदि वा समुदायवचनस्तत्सम्बन्धात् काले । अभ्यतरवचनो युक्तो, नोभयवचनः । तत्र समुदायवचने कल्प्यमाने प्रकरणमनुगृहीतं भवति ॥ अपि च, पृणातेः पर्वशब्दः । पृणातिश्च दाने प्रसिद्धः । दानानि च समुदायाः । तस्मात् समुदायाभीज्या । एवं शब्दावयवप्रसिद्धिरनुगृहीता भवतीति । तस्माद्भैकृतेषु पार्वणयोरप्रवृत्तिः ॥ ५३ ॥ आ०नि० ॥

मन्त्रवर्णाच्च ॥ ५४ ॥

मन्त्रवर्णाच्च फलवदनुवादो भविष्यति । ऋषभं घाजिनं वयं पूर्णमासं यजामहे । अमावास्या सुभगा सुशेवा इति च । तस्मादपि समुदायाभीज्येति ॥ ५४ ॥ युक्तिः ॥

तदभावेऽग्निवादिनि चेत् ॥ ५५ ॥

नैतदस्ति, यदुक्तं वैकृतेष्वप्रवृत्तिरिति । तदभावेऽपि यद्यपि समुदायवचनोऽयम् । न च वैकृतेष्वयमस्ति समुदायः । तथापि पार्वणहोमौ भवेतामेव । कुतः । अन्या एवंशब्दिका देवता भविष्यन्ति । समुदायो वाऽसन्निहितोऽपि यक्ष्यते, सौर्याद्युपकारार्थेन । यथा, अग्निमग्न आवह इति सन्निहितोऽसन्निहिता वा अग्निर्यागार्थेनावाह्यते । एवमिहापीति ॥ ५५ ॥ आ० ॥

नाधिकारिकत्वात् ॥ ५६ ॥

नैतदेवम् । आधिकारिकं हीदं वचनम् । अधिकारे भवं, यस्याधिकारस्तस्य गुणं विदधातीति । आग्नेयादीनाञ्चाधिकारः । ते चाऽत्र देवताः । तेषां होमो देवतार्थः । एवं यत्र सा देवता नास्ति, तत्र तदर्थो होमो न करिष्यते । तस्मात् पार्वणहोमयोर्वैकृतेभ्यो निवृत्तिः ॥ ५६ ॥ आ० नि० ॥ सौर्यादिषु पार्वणहोमाद्यननुष्ठानाधिकरणम् ॥ १८ ॥

उभयोरविशेषात् ॥ ५७ ॥

इदमिदानीं संदिह्यते । किमुभौ होमौ पौर्णमास्याममावास्यायाञ्च ? उत पौर्णमासीहोमः पौर्णमास्याम्, अमावास्याहोमोऽमावास्यायामिति । किं प्राप्तम् । उभावप्युभयत्र । कुतः । उभयोर्हि प्रकरणे उभावप्याम्नानौ । तस्मादुभयत्र भवितुमर्हतः ॥ ५७ ॥ पूर्व० ॥

यदर्भीज्या वा तद्विषयौ ॥ ५८ ॥

वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । नैतदस्ति, उभयमुभयत्रेति । यद्-
भीज्या, स तत्र भवेत् । तस्य हि स उपकारकः । अनुपकारक इत-
रस्य । न चानुपकारकः कर्त्तव्यः । समुदायप्रधानावत्र होमावित्यु-
क्तम् । तस्माद्यद्भीज्या, तद्विषयौ भवेतामिति ॥ ५८ ॥ सिद्धान्तः ॥
दर्शपौर्णमासयोर्होमद्वयस्य व्यवस्थाधिकरणम् ॥ १९ ॥

प्रयाजेऽपीति चेत् ॥ ५९ ॥

दर्शपूर्णमासयोः प्रयाजा आम्नाताः, समिधो यजति तनूनपातं
यजति इडो यजति बर्हिर्यजति स्वाहाकारं यजतीति । तत्र संशयः
क्रियते । किं समिधो यजतीत्यादिशब्दैः समिदादयो देवताविशेषा
विधीयन्ते, एतान् समिदादीन् यजतीति । किं वा न प्रकृतैः समि-
दादिभिः सम्बन्ध उपादीयते, एवंशब्दिका देवता न प्रकृतौ उपादि-
यन्ते इति ॥ किं तावत् प्राप्तम् । प्रकृतानां समिदादीनां यागो विधी-
यते । समिदादयश्च देवता वाक्यसम्बन्धादिति । एवं प्रकृतैः समि-
दादिभिः सम्बन्धं क्रियमाणे प्रकरणानुग्रहो भविष्यति । तस्मात्
प्रयाजेषु प्रकृता देवता भवितुमर्हतीति । देवता प्राधान्यश्च यथा
पार्वणहोमे इति ॥ ५९ ॥ आ० नि० ॥

नाचोदितत्वात् ॥ ६० ॥

नैतदेवम् । नात्र समिदादयश्चाद्यन्ते देवतात्वेन । कुतः । द्विती-
यानिर्देशात् । तद्विनिर्देशेन वा देवता चोद्यते, चतुर्थ्यन्तनिर्देशेन
वा । तत्र हि तादर्थ्यं गम्यते । तादर्थ्यं च सति देवता भवति । न
देवता नाम जात्या काचित् । सैव कस्यचिद् रूपस्य देवता, सैव ना-
न्यस्य । यस्य यां प्रति तादर्थ्यं, सा तस्य देवता । द्वितीया हीप्सित-
तमे कारके भवति । तत्र न द्रव्यस्य तादर्थ्यं गम्यते । तस्मान्न द्वि-
तीयान्तेन देवताविधानम् ॥ अत्राह । तादर्थ्यं कल्पयिष्यामः । यथा
विष्णुं यजति वरुणं यजतीति । अत्र न विष्णुर्वरुणो वा यागः । ना-
ऽपि यागादर्थान्तरं यागस्य कारकं यदीप्सितं, तद् द्वितीययाऽभिधी-
यते । तेन तत्र कल्पयते तादर्थ्यम् । शब्दान्तरेण वा विहितं गम्यते ।
इह तु न शब्दान्तरविहितम् । न चैवं शक्यं परिकल्पयितुम् । न च
यागस्य कारकत्वेन सम्भवति । समिदादिशब्दकत्वात् यजिनां
समिदादयः शब्दा वाचका उपपद्यन्ते । क्रियायां चोप्सितायामिष्यते
द्वितीया । यथा पाकं पचतीति । तस्मात् समिधो यजतीत्ययमर्थः,

समिद्यजिः कर्त्तव्य इति । यदा च यजिं प्रति अनुष्ठानं चोद्यते, तदा यजिरुपदिष्टो भवति । यदि पुनरत्र देवता उपदिश्यंत, उपदिष्टे यजौ देवतोपदिश्येत । तत्रांपदिष्टांपदेशं वाक्यं भिद्येत । तस्मान्न देवतोपदेशः । यदा न देवतोपदेशस्तदा मान्त्रवर्णिको देवताविधिः । तदा चोपादेयत्वादेवंशब्दिका देवताश्चोद्यन्ते । तस्मान्मान्त्रवर्णिको देवताविधिः ॥ ६० ॥ सिद्धान्तः ॥ समिदादीनां यागनामधेयताधिकरणम् ॥ २० ॥ इत्याचार्यशबरस्वामिकृते मीमांसाभाष्ये नवमस्याध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ ९ ॥ २ ॥

अथ नवमेऽध्याये तृतीयः पादः ॥ ९ ॥ ३ ॥

प्रकृतौ यथोत्पत्तिवचनमर्थानां तथोत्तरस्यां ततौ
तत्प्रकृतित्वादर्थं चाकार्यत्वात् ॥ १ ॥

वैकृतानि कर्माणि उदाहरणम् । सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चस-
काम इति । ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकाम इति ।
चित्रया यजेत पशुकाम इति । वैश्वदेवीं साग्रहणीं निर्वपेद् ग्राम-
काम इति । अस्ति तु प्रकृतौ निर्वापमन्त्रः । अग्नये जुष्टं निर्वपामीति ।
तथा इन्द्राय मरुत्वते, नैवारमेकादशकपालं निर्वपेदिति । अस्ति तु
प्रकृतौ व्रीहिलिङ्गो मन्त्रः । स्यान्न्ते सदनं कृणोमि घृतस्य धारया
सुशवं कल्पयामि । तस्मिन् मीदामृते प्रतिनिष्ठ व्रीहीणां मेध सु-
मनस्यमान इति । तच्चैतच्च विकृतौ चोदकप्राप्तं सन्दिह्यते । किम्
अधिकारेण प्रयोक्तव्यम्, उतोहेनेति ॥ किं प्राप्तम् । अधिकारेणेति ।
तथा, आर्षमनुगृह्यते । यत् प्रकृतौ कर्त्तव्यं, तद्विकृताविति । प्रकृतौ
चाग्निव्रीहिशब्दौ प्रयुक्तौ । तस्माद्विकृतावपि तावैव प्रयोक्तव्यावि-
ति ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः । सत्यं प्रकृतौ यथा उत्पत्तिवचनमर्थानां कृतं
मन्त्रे, तथोत्तरस्यामपि ततौ विकृतौ तेनैव मन्त्रेण वचनं कर्त्तव्यम् ।
तत्प्रकृतित्वात् ॥ तथा प्राप्तं इदमुच्यते । नैतदेवम् । अर्थे चाकार्य-
त्वाद् इति । एतावदर्थां अग्निव्रीहिशब्दौ सूर्यं नैवारञ्च नाभिद-
ध्याताम् । चशब्दोऽत्र तुशब्दस्यार्थः । मन्त्राणां चार्थवचनं कार्यं, न
स्वरूपम् । स्वरूपे ह्यहष्टं कल्पयितव्यम् । अर्थवचनेन हृष्ट उपकारः ।
तस्माद् ऊहितव्यौ इति ॥ १ ॥ सि० ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २ ॥

लिङ्गं खल्वपि अस्मिन्नर्थे भवति । न माता वर्द्धते न पिता न भ्राता न सखा इति । प्रत्यक्षं, भ्रातर सखायञ्च वर्द्धमानं पश्यामः । अतो नार्थवृद्धिप्रतिषेधसंवादाऽयम् । शब्दवृद्धिप्रतिषेधस्तु । न भ्रातृ-शब्दो वर्द्धते, न सखिशब्द इति । का च तयोर्वृद्धिः । वर्णान्तरोप-जननं सा । एकस्मिन् भ्रातेति, द्वयोर्भ्रातराविति । एतदुक्तं भवति । न भ्रातृशब्द ऊह्यते, न सखिशब्दश्चेति । अतोऽवगम्यते, अन्यं ऊह्य-न्ते इति । यथा, न भवन्तः समाजं गच्छन्ति, न भवन्तः प्रेक्षका भवन्तीत्युक्ते नूनमन्ये गच्छन्तीति गम्यते । एवामहापि, न भ्राता ऊह्यते, न सखा इत्युक्ते नूनमन्ये अह्यन्ते इति लिङ्गदर्शनम् । स्थितं तावद् अपर्यवसितमत्र, अन्तरा चिन्नान्तरं वर्त्तिष्यते ॥२॥ युक्तिः ॥ विकृतौ मन्त्रगतवीह्यादिशब्दानामूहाधिकरणम् ॥ १ ॥

जातिनैमित्तिकं यथास्थानम् ॥ ३ ॥

इदमामनन्ति । मांद्गं चरुं निर्वपेत् श्रियै श्रीकाम इति । तत्रेदं विधीयते । पुण्डरीकाणि बर्हीषि भवन्तीति । अस्ति प्रकृतौ मन्त्रः । स्तृणीत बर्हिः पारधत्त वेदिं जयामि मा हिंसीरमुपाशयाना दर्भैः स्तृणीत हरितः सुपणं निष्का ह्येते यजमानस्य ब्रध्न इति । इह चादकेन प्राप्तः । अत्र दर्भैरिति जातिशब्दः । हरिनैरिति नैमित्तिको गुणशब्दः । तत्र संशयः । किं जातिशब्द ऊहितव्यः, नैमित्तिकः अविकारेण प्रयोक्तव्यः ? उताभावपि यथास्थानमूहितव्यौ ? जाति-शब्दः स्तरणे, नैमित्तिकः स्तरणसाधने द्रव्ये इति । तत एवं तावत् परीक्ष्यम् । किमयं हरितशब्दो हरितगुणविवक्षया प्रयुज्यते, उत स्तरणद्रव्यगुणाभिधित्मयेति । कश्चात्र विशेषः । यदि दर्भाणां हरि-तगुणसम्बन्धो वक्तव्यः, व्यक्तमसावदृष्टोऽर्थः । तदा पुण्डरीकाणाम-पि अदृष्टायैव हरितसम्बन्धो वचनीयो भवतीत्यविकारेण प्रयोक्त-व्यः । अथ स्तरणद्रव्यगुणविवक्षया प्रयुज्यते, तत्र पुण्डरीकाणामपि स्वगुणा वक्तव्यो भविष्यति । तदेतद् द्वयमपि हरितशब्दादवगम्यते । किन्तु विवाक्षनमिति संशयः ॥ किं तावत् प्राप्तम् । अविकारेण प्रयोक्तव्य इति । तत एतत्तावच्चिन्त्यते । हरितगुणविवक्षया प्रयु-ज्यते इति । कुतः । हरितशब्दस्य मन्त्रे भावात् । न हि यो यो द्रव्य-गुणः सोऽवश्यवचनीयो भवति । यः यस्य तु वाचको मन्त्रे शब्दो-

ऽस्ति, स गुणो वक्तव्य इति गम्यते । हरितगुणस्य वाचको मन्त्रो-
ऽस्ति । तस्माद् हरितगुणो वक्तव्य इति ॥

ननु स एव स्तरणद्रव्यगुणस्य वाचकः । नेत्याह । न ह्यसौ स्तरण-
द्रव्यगुण इत्यनेन कारणेन हरितशब्देनोच्यते । कथं तर्हि । हरित-
त्वयांगाद् हरितशब्देनोच्यते । स एव हारित्यं श्रुत्या अभिदधाति,
लक्षणया स्तरणद्रव्यगुणम् । श्रुतिश्च लक्षणाया ज्यायसी । तस्मा-
द्धरितगुणविवक्षया प्रयुज्यते, विकृतौ न ऊहितव्य इति ॥ एवं प्राप्ते
ब्रूमः । जातिशब्दो नैमित्तिकश्च उभावप्यूहितव्यौ । तत एतद्वर्णयते ।
स्तरणद्रव्यस्य गुणविवक्षया प्रयुज्यते इति । यद्यपि हारित्यं श्रुत्या
हरितशब्दोऽभिवदति, तथापि हरितगुणवचनमनर्थकम् । अदृष्टं हि
तत्र कल्पनीयं स्यात् । तच्चाशक्यं दृष्टे सम्भवति । स्तरणद्रव्यगुणन्तु
लक्षणयाऽभिवदति । तद्वचने अदृष्टं प्रयोजनं स्तरणद्रव्यप्रत्यायनम् ।
एवञ्चेदिहापि स्तरणद्रव्यस्य पुण्डरीकस्य गुणः प्रत्याययितव्यः । त-
स्मात्तद्वाचक ऊहितव्यो रक्तशब्द इति ॥ ३ ॥ सि० ॥

तत एव अन्तरागर्भिणीन्यायो भवतीत्यन्यथा सूत्रं वर्णयते—

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २ ॥

जातिनैमित्तिकं यथास्थानम् ॥ ३ ॥

इति । इतश्च पश्यामो विकृतानूहः कर्त्तव्य इति । कुतः । लिङ्गं
दृश्यते । किं लिङ्गं भवति । एवमाह । विश्वेषां देवानामुस्त्राणां छा-
गानां वपानां मेदसोऽनुब्रूहीति । जातिशब्दानामूहितानां समुच्चारणं
भवति । तन्मन्त्राणामर्थवचनपक्षे एव कल्प्यते । ऊहं क्रियमाणे अन-
र्थपरत्वे अग्निच्छागशब्दावेव प्रयुज्येयानाम् । तत्रामीषामक्रिया-
ऽर्थानां वचनमनर्थकमेव स्यात् । न चात्रैते शब्दा विधीयन्ते, विधा-
यकस्याभावात् । ननु प्रयोगवचनेन विधायिष्यन्ते । एवं तर्हि अदृष्टा-
ऽर्थतादोषः । तस्मादस्ति ऊह इति ॥ २ ॥ युक्तिः ॥ ३ ॥ सिद्धान्तः ॥

अविकारमेके नार्षत्वात् ॥ ४ ॥

एके पुनराचार्या अविकारमनुमन्यन्ते । अस्मिन्नर्थे लिङ्गं वक्ष्य-
ति । तस्येयं प्राप्तिः क्रियते । यदि हि ऊहोत, आर्षश्चोदको बाध्येत ।
तस्मादनूह इति ॥ ४ ॥ पूर्व० ॥

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ ५ ॥

लिङ्गमस्मिन्नर्थे दृश्यते । आग्नेये वैकृते पशौ आम्नायते । मघ्नये छागस्य वपायाया मेदसोऽनुब्रूहीति । ऊहपक्षे न विधातव्यं स्यात् । विधीयते तु । तस्मादनूह इति । अपिचेदमपरं लिङ्गमग्नीषोमीये पशौ श्रूयते । यर्होक्तं यूपमुस्पृशेत्, एष ते वायो इति ब्रूयात् । यदि द्वौ, एतौ ते वायू इति । यदि बहून्, एते ते वायव इति । यद्यूहो भवेद् एतदपि प्राप्तत्वात् विधातव्यं स्यात् । विधीयते तु । तस्मादप्यनूह इति ॥ ५ ॥ युक्तिः ॥

विकारो वा तदुक्तहेतुः ॥ ६ ॥

वाशब्देन पक्षो व्यावर्त्यते । यदुक्तमविकार इति । तन्न । ऊहः स्यात् । अस्मिन्नर्थे पूर्वोक्तो हेतुः । अर्थे चाकार्यत्वादिति । मन्त्रार्थं ह्यनुरुध्यते चांदको, न मन्त्राक्षराणि । अर्थपराणि हि तानि, न स्वरूपप्रधानानि । तस्माद्ऊहः स्यात् पूर्वोक्तैव हेतुना । केवलं लिङ्गपरिहारो वक्तव्यः ॥ ६ ॥ उत्तरम् ॥

लिङ्गं मन्त्राचिकीर्षार्थम् ॥ ७ ॥

यल्लिङ्गमुक्तम्, अग्नये छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहीति । तन्मन्त्राचिकीर्षया विधीयते । इतरथा ऊहितत्वादमन्त्रः स्यात् । तस्मात् पुनर्वचनम् ॥ ७ ॥ आ० नि० ॥

नियमां वोभयभागित्वात् ॥ ८ ॥

यल्लिङ्गमुक्तम्, एष ते वायो इति । तत् परिह्रियते । यदि हि एतन्नोच्येत, यदि द्वावुपस्पृशेत्, यदि बहून्, सर्वे इमे मन्त्रा एकयूपे भवेयुः । उभयमपि मा प्रकृतौ भूदितिनियमः क्रियते । यदि द्वावुपस्पृशेत्, एतौ ते वायू इति ब्रूयात्, यदि बहून्, एते ते वायव इति ब्रूयात् । तस्मादेतदप्यलिङ्गमिति ॥ ८ ॥ आ० नि० ॥ पौण्डरीकेषु हविःषु स्तरणमन्त्रस्योहाधिकरणम् ॥ २ ॥

लौकिके दोषसंयोगादपवृक्ते हि चोद्यते निमित्तेन प्रकृतौ स्यादभागित्वात् ॥ ९ ॥

अस्ति ज्योतिष्टोमः । तत्राग्नीषोमीये पशौ आम्नायते । यदि एकं यूपमुपस्पृशेदेष ते वायो इति ब्रूयाद्यदि द्वावेतौ ते वायू इति, यदि बहून् एते ते वायव इति । तत्रैषोऽर्थः सांशयिकः । लौकिकं वैदिके च यूपोपस्पर्शने प्रायश्चित्तम् ? उत वैदिके, अथ वा लौकिके इति ।

किं प्राप्तम् । लौकिके वैदिके वाऽनियम इति । कथम् ? । विशेषा-
नाश्रयणात् । न हि विशेष आश्रीयते लौकिके वैदिके वेति, 'तस्मा-
दनियम इति । वैदिके वा । तथाहि अस्य मन्त्रस्य समीपगतेन प्र-
योजनाभिसम्बन्धा भविष्यति । इतरथा दूरगतेनाप्रकृतंन परोक्षः
सम्बन्धः स्यात् । तस्माद् वैदिके यूपोपस्पर्शने इदं प्रायश्चित्तमिति ॥
एवं प्राप्ते भूमः । लौकिके उपस्पर्शने भवितुमर्हति, न वैदिके । कुनः ।
एवं दोषसंयुक्तं हि श्रूयते इदं प्रायश्चित्तम् । यूपो वै यज्ञस्य दुरिष्ट-
मामुञ्चते, यद्युपमुपस्पृशद्यज्ञस्य दुरिष्टमामुञ्चते तस्माद्यूपो नोपस्पृ-
श्य इत्यभिधाय, यद्येकं यूममुपस्पृशेदिति समाप्नायते । तस्माद्यत्र
दोषस्तत्र प्रायश्चित्तमिति । लौकिकं च दोषां, न वैदिके । वैदिकं
हि अङ्गनमुपच्छ्रयणं च कर्त्तव्यमुक्तम् । न तत् कर्त्तव्यं सद् अक-
र्त्तव्यं भविष्यति । सावकाशञ्चोपस्पर्शनेप्रतिषेधवचनं लौकिकं
अविरुद्धं भविष्यति ॥

अपि च अपवृक्ते कर्मणि चाद्यते निमित्तेन । कथम् यूपां वै यज्ञस्य
दुरिष्टमामुञ्चते इति । यत् किल यज्ञे दुरिष्टं तन्नूप आमुञ्चते, यत् सुकृतं
तद्यजमान इति । सर्वमिदं प्रशंसार्थं, न विधिपदान्तरंण सम्बद्ध्यते ।
इष्टशब्द एवैकां विधिपदैः सम्बन्धमुपैति । प्रशंसापदैरपि सम्बध्यमान
इह सन्निहितो भवति । सन्निहितत्वाच्च पदान्तरैः सम्बद्ध्यते । यथा
दण्डो मनोहरं रमणीयश्च प्रहर शीघ्रमिति रमणीयमनोहर-सम्बन्धे-
ऽपि सति सन्निहितत्वात् प्रहर शीघ्रमित्येतैः पदैः सम्बद्ध्यते । एव-
मिष्टशब्दोऽपि सन्निहितत्वात् सम्बध्यते । इष्टे यदि यूपमुपस्पृशेदेष
ते वायो इत्येवमादि ब्रूयादिति । सोऽयमिष्ट इत्यपवर्गस्य वक्ता शब्दः ।
अपवृक्ते चेदुपस्पर्शने मन्त्रस्य निमित्तं, व्यक्तं न वैदिकम् । तस्मात्लौ-
किके यूपोपस्पर्शने प्रायश्चित्तं, न प्रकृतौ वैदिके अमागित्वात् प्रति-
षेधस्यापवर्गस्य च वैदिके न सम्भवतीति ॥ ९ ॥ अग्नीषोमीयपशौ
लौकिकयूपस्पर्शप्रायश्चित्ताधिकरणम् ॥ ३ ॥

अन्यायस्त्वविकारेणादृष्टप्रतिघातित्वादवि-

शेषाच्च तेनास्य ॥ १० ॥

अस्ति पशुग्नीषोमीयः । यो दीक्षेता यद्ग्नीषोमीयं पशुमाल-
भते इति । तत्र पार्श्वैकत्वाभिधायी मन्त्रः । अदितिः पार्श्वं प्रमुमोक्तं-

तमिति । तथा पाशबहुत्वाभिधायी, अदितिः पाशान् प्रमुमोक्तेता-
निति । प्रकृतौ तयोः समुच्चयं वक्ष्यति । अस्ति द्विपशुर्विकृतिः । मैत्रं
श्वंतमालभेत बारुणं कृष्णमपां चौषधीनां च सन्धावन्नकाम इति ।
तत्र चोदकेन पाशाभिधायिनौ मन्त्रौ प्राप्तौ । तयोः संशयः । किं बहु-
वचनान्तोऽविकारेण प्रवर्त्तते एकवचनान्तस्य निवृत्तिः ? उत बहु-
वचनान्तो निवर्त्तते, एकवचनान्त ऊहितव्यः ? उत उभयोरपि प्रवृ-
त्तिरभिधानविप्रतिपत्तिश्च ? उतैकवचनान्त ऊहितव्यो, बहुवचना-
न्तोऽपि निवर्त्तते ? ॥ किं प्राप्तम् । अन्यायस्त्वविकारेण । अन्यायनिगदो
बहुवचनान्तोऽविकारेण प्रवर्त्तते । एकवचनान्तो निवर्त्तितुमर्हति ।
कुतः । नास्यैकस्मिन् पाशे प्रवर्त्तमानस्य दृष्टः प्रतिघातः । यथैक-
स्मिन् पाशे प्रवर्त्तते, तथा द्वयोरपि प्रवर्त्तितुमर्हति । नासौ एकस्य
वाचकः, न द्वयोः । एवमार्षश्चादकाऽनुगृहीतो भविष्यति । इतरथा
हि ऊह्यमाने यथाप्रकृति मन्त्रो न कृतः स्यात् । न द्वयोः पाशयोः,
एकस्मिंश्च पाशे कश्चिद् विशेषोऽस्ति । तस्माद् अविकारेण बहु-
वचनान्तः प्रयुज्यते, एकवचनान्तस्य निवृत्तिरिति ॥ १० ॥

विकारो वा तदर्थत्वात् ॥ ११ ॥

वाशब्दः पक्षे व्यावर्त्तयति । विकारो वा स्यात् । एकवचनान्त
ऊहेन प्रवर्त्तते, बहुवचनान्तनिवृत्तिरिति । कुतः । तदर्थत्वात् । यौ पाशौ
विकृतौ वक्तव्यौ, तौ च प्रयोगवचनानुग्रहाद् यौगपद्येन, न पर्या-
येण । तत्र न गम्यते विशेषः । पाशशब्द उच्चरिते कस्य पाशस्या-
ऽभिधानं, कस्य नेति । अविशेषाद् द्वयोरपि पाशयोः । तत्र तयोः क-
र्मत्वाभिस्सम्बन्धं द्वितीयाद्विवचनमेव शक्नोति वदितुं, नान्यत् । त-
स्माद् द्विवचनमूह्येताबहुवचनमेकवचनं च निवर्त्तितुमर्हति इति ॥ ११ ॥

अपि त्वन्यायसम्बन्धात् प्रकृतिवत् परेष्वपि

यथार्थं स्यात् ॥ १२ ॥

अपि त्विति पक्षो व्यावर्त्तयते, न बहुवचनं निवर्त्तयति । यथा प्रकृ-
तौ बहुवचनान्तमेकवचनान्तं च प्रवृत्तम् । अन्यायसम्बन्धाद् बहु-
वचनान्तम् । एवं विकृतावपि एकवचनान्तं, द्विवचनान्तमूह्येता । अ-
न्यायसम्बन्धाच्च बहुवचनान्तं प्रवर्त्तते । यदि प्रकृतौ प्रातिपदिकार्थ-
मात्रं पक्षे प्रकाशितं, विकृतावपि तत् पक्षे प्रकाशयितव्यम् । अथ

बहुवचनान्तेनैकत्वमुक्तम्, इहापि बहुवचनान्तेन द्वित्वं वक्तव्यम् । तस्मादभिधानविप्रतिपत्तिः कर्त्तव्या इति ॥ १२ ॥ पूर्व० ॥

यथार्थं त्वन्यायस्याचोदितत्वात् ॥ १३ ॥

तुशब्दस्तमपि पक्षं व्यावर्त्तयति । नाभिधानविप्रतिपत्तिः कर्त्तव्येति । किं तर्हि । यथार्थं द्विवचनमूहितव्यं, बहुवचनमेकवचनं च निवर्त्तयताम् । तद्धि द्विपाशाभिधायिनः पाशशब्दात् परं बहुवचनमेकवचनं वा न शक्नोति कर्मसम्बन्धं वदितुम् । लोको हि शब्दाऽर्थावगमे प्रमाणम् । नच लोके द्वयोरर्थयोर्बहुवचनान्त एकवचनान्तो वा प्रवर्त्तमानो दृश्यते । तस्माद्दूहेन द्वयोः पाशयोर्बहुवचनान्त एकवचनान्तो वा प्रयोक्तव्यः ॥ १३ ॥ सि० ॥

कथं प्रकृतौ एकस्मिन् पाशे बहुवचनान्त इति चेत्—

छन्दसि तु यथादृष्टम् ॥ १४ ॥

यावद्दर्शनं प्रामाण्यमभ्युपगन्तव्यम् । छन्दसि न दर्शनमतिक्रमितव्यम् । यो हि दर्शनमतिक्रम्यान्यदपि कल्पयत्, न तेन छान्दसं कृतं स्यात्, न लौकिकं, नापि लक्षणसिद्धम् । यदुक्तं, चोदकेनाभिधानविप्रतिपत्तिश्चोद्यते इति । नैतदेवम् । अन्यायस्याचोदितत्वात् । न हि चोदकोऽन्याय्यामभिधानविप्रतिपत्तिमभिप्रापयति । किं कारणम् । प्रकृतावेकत्वात् । पाशस्य प्रकृतत्वाच्च बहुवचनान्तस्य प्रत्यक्षाभिधानविप्रतिपत्तिः । केयमभिधानविप्रतिपत्तिर्नाम । यदन्यथाऽभिधानम्, अन्यथा अभिधेयम् । न च प्रकृतौ एकस्मिन् बहुवचनान्तं प्रयुक्तमभिधानविप्रतिपत्तिं कर्त्तुम् । किं तर्हि । यत् तेन शक्यते, तत् कर्त्तुम् । किञ्चानेन शक्यते ? । अस्य सिद्धे प्रयोगेऽर्थमन्विच्छन्तो, यदवगम्यते तदर्थः शब्द इत्यवधारयामः । अस्माच्च पाशद्रव्यस्य माचनेन सम्बन्धोऽवगम्यते, तदर्थता शब्दस्य भवितुमर्हति । न एकत्वेन बहुत्वेन वा प्रयोजनम् । इह तु विकृतौ पाशस्य च पाशस्य च यौगपद्येन माचनेन सम्बन्धो वदितव्यः । बहुवचनञ्च द्वयोः पाशयोरन्याय्यम् । तस्याभिधाने इह पुनर्न प्रयोगः । किन्तु प्रयोग एव चिन्त्यते । कः शब्दः प्रयोक्तव्य इति । तत्र प्रयोगेऽस्मदायत्ते किमित्यवाचकं प्रयोक्ष्यामहे विद्यमाने वाचके । न चायं द्वयोश्छन्दसि दृष्टो बहुवचनान्तः । सोऽयं मन्त्रः प्रयुज्यमानोऽपभ्रंश एव स्याच्च

छान्दसः । न च बहुवचनं द्वित्वप्रत्ययार्थं लभ्यते लौकिके वैदिके च । न चाभिधित्सितं द्वित्वे द्वयोर्बहुवचनं भवति । तद्यथा देवदत्त-यज्ञदत्ताभ्यां कर्त्तव्यमिति देवदत्तयज्ञदत्तशब्दद्वयादेव द्वित्वं प्राप्तं, न विभक्त्या विधित्स्यते । तथापि द्विवचनमेव भवति, न बहुवचनम् । तस्माद् विकृतावूहितव्यमिति ॥ १४ ॥ आ० नि० ॥ द्विपशुयागे पाशमन्त्रयोरेकवचनान्तबहुवचनान्तपदयोर्द्विवचनान्तेनोहाधिकरणम् ॥ ४ ॥

विप्रतिपत्तौ विकल्पः स्यात् समत्वाद् गुणे त्व-
न्यायकल्पनैकदेशत्वात् ॥ १५ ॥

अस्ति पशुरग्नीषोमीयः । यो दीक्षितो यद्ग्नीषोमीयं पशुमालभते इति । तत्र पाशकत्वाभिधायी पाशबहुत्वाभिधायी च मन्त्रौ समा-म्नातौ । तयोः किमेकत्वाभिधायी प्रकरणे निविशते, बहुत्वाभिधायी प्रकरणादुत्कृष्यते ? उत उभावपि प्रकरणमभिनिवेशेते इति । किं प्राप्तम् । बहुत्वाभिधायी उत्कृष्टव्य इति । कुतः ? बहूनां हि स पाशानां मोचकः । न च प्रकरणे बहवः पाशाः सन्ति । तस्मात् प्रकरणे असम्बध्यमानो यत्र बहवः पाशास्तत्र नीयन्त । यथा, युवं हि स्यः स्वर्पती इति द्वयोर्यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यादिति । एतं असृग्रमि-न्दव इति बहुभ्यो यजमानेभ्यः प्रतिपदं कुर्यादिति प्रतिपद्विधानमु-त्कृष्यन्ते । यथा च पौष्णसावित्र—सारस्वन—द्यावापृथिवीयाद्यनुम-न्त्रणानि उत्कृष्यन्ते, एवं पाशबहुत्वाभिधाय्यपीति ॥ एवं प्राप्ते भ्रूमः । विप्रतिपत्तौ एतस्यां का विप्रतिपत्तिः । यत् प्रकृतावेकः पाशः, पाश-बहुत्वाभिधायी च मन्त्रः । एतस्यां विप्रतिपत्तौ किं मन्त्र उत्कृष्यते, न ? इति । उच्यते । नोत्कृष्टव्यः । ननु प्रकृतौ अन्यां मन्त्रः ? । उ-च्यते । तेन सह विकल्पो भविष्यति । कुतः । पाशप्रातिपदिकार्थस्य प्रकृतौ विद्यमानत्वादुत्कर्षो न न्याय्यः । ननु बहुपाशवचन एष मन्त्रः । प्रकृतौ त्वेकः पाशः । तस्मात् तत्र न सम्भवतीति । उच्यते । बहूनप्यसौ पाशान् वदन् बहुत्वाधिष्ठानं द्रव्यं प्रकाशयत्येव । यदि न प्रकाशयेद्, न पाशविशिष्टं बहुत्वं गम्येत । प्रकाशयति चेत् ताव-ता नः प्रयोजनम् । तस्य हि उन्मोचनं क्रियते, न बहुत्वस्य, पाशाकृते-र्वा । तस्मात् तस्य प्रकाशनं कर्त्तव्यम् । तत् प्रातिपदिकेन करिष्यते,

नोत्कृष्यते । अस्यैव ह्येकवचनान्तं प्रातिपदिकम् । तत्तस्य प्रकाशनं कारिष्यति इति । अत्रोच्यते । न हीदं तस्मादन्यत् । यद्येकवचनान्तं प्रातिपदिकं न उत्कृष्यते प्रकरणादित्युच्यते, सिद्धस्तर्ह्यनुत्कर्षस्तदेवेदमिति ॥ ननु बहुवचनस्य बहुपाशकप्रयोगेऽर्थवत्ता । तस्मादुत्कृष्टव्यम् । तदुत्कृष्यमाणमेकदेशत्वात् प्रातिपदिकमुत्कर्षतीति । उच्यते । गुणे त्वन्यायकल्पना स्यादिति, न प्रधाने । गुणश्च विभक्त्यर्थः । प्रधानं प्रातिपदिकार्थः । प्रातिपदिकार्थविशेषो विभक्त्याऽभिधीयते । सति प्रातिपदिकार्थे विभक्त्यर्थेन भवितव्यम् । न च विकृतौ प्रातिपदिकमस्ति । अनारभ्याप्यभिहितं प्रकृतिं प्रविशति । किमङ्ग पुनः प्रकृतावेवाभिहितम् । तस्माद्यत्र प्रातिपदिकार्थस्तत्र विभक्त्यर्थो भविष्यति ॥

ननु विकृतावपि चोदकेन प्राप्तं प्रातिपदिकं, प्रातिपदिकार्थश्चोच्यते । बाढम् । विप्रकृष्टस्तु चोदकः । बहुवचनसमर्थकं प्रातिपदिकं चोदको नोत्कृष्यति । तस्मात् प्रातिपदिकमेकदेशत्वाद् बहुवचनमाकर्ष्यतीति । न च प्रकृतौ अनर्थकमेव बहुवचनं, पाशाकृतिकस्य हि तदुन्मोचने कर्मसम्बन्धं करोति । तस्माद् गुणे बहुवचने अन्यायकल्पना, न प्रधाने प्रातिपदिकार्थे इति । किं पुनरन्याय्यम् । यद् बहुत्वं गम्यमानमविवक्षितमित्युच्यते । तत् कल्प्यतां, न तु प्रकृतौ प्रातिपदिकस्य प्रातिपदिकार्थाभिधानमन्याय्यं कल्पयितव्यम् । अस्य हि गुणस्यावाच्यमेव वैकृतं बहुत्वं सन्निधानाभावात् । तस्मात् प्रकृतौ बहुवचनान्तस्यापि निवेश इति ॥ १५ ॥ सि० ॥

प्रकरणाविशेषाच्च ॥ १६ ॥

प्रकरणविशेषाच्चैतदध्यवसीयते, प्रातिपदिकं बहुवचनमाकर्षति, न प्रातिपदिकं बहुवचनेनोत्कृष्यते इति । प्रकृतौ प्रातिपदिकार्थो विद्यते अग्नीषोमीयं पशौ बहुवचनार्थो विकृतिषु । तस्मादपि बहुवचनान्तस्य प्रकृतौ निवेश इति ॥ १६ ॥ युक्तिः ॥

उत्कर्षो वा द्वियज्ञवदिति यदुक्तं, तत् परिहर्त्तव्यम् ॥

अर्थाभावात्तु नैवं स्याद् गुणमात्रमितरत् ॥ १७ ॥

युक्तं यत् प्रतिपद्विधानमुत्कृष्यते, नास्ति प्रकृतौ यजमानद्वित्वं यजमानबहुत्वं वा । तत्र न भवेद्विषय एतयोः प्रतिपदोः । इह तु

गुणमात्रं नास्ति बहुत्वम् । अन्यन्तु बहुवचनस्य प्रयोजनं, मुचिना सम्बन्धः । नचानेकप्रयोजनमन्यतमेन प्रयोजनेन न प्रयुज्यते । न हि उल्का प्रकाशननाप्रयुज्यमाना भग्मना न प्रयुज्यते । तस्माद् विषमं प्रतिपद्भ्यामिदमिति ॥ १७ ॥ आ० नि० ॥

द्यावास्तथेतिचेत् ॥ १८ ॥

अथ यदुक्तं, द्यावापृथिवीयादीनामनुमन्त्रणानां यथा उत्कर्ष-
स्तथाऽस्येति । तत् परिहर्त्तव्यम् ॥ १८ ॥ आ० ॥

नोत्पत्तिशब्दत्वात् ॥ १९ ॥

नैतदनुमन्त्रणेन तुल्यम् । न हि दर्शपूर्णमासयोर्द्यावापृथिव्या-
दीनामुत्पत्तौ शब्दोऽस्ति । अस्ति त्विह पाशस्योत्पत्तौ शब्दः । त-
स्माद् विषममनुमन्त्रणनेति ॥ १९ ॥ आ० नि० ॥ अग्नीषोमीयपशौ
पाशकत्वपाशबहुत्वाभिधायिमन्त्रयोर्विकल्पाधिकरणम् ॥ ५ ॥

अपूर्वे त्वविकारोऽप्रदेशात् प्रतीयेत ॥ २० ॥

दर्शपूर्णमासयोरामनन्ति, प्राक्षणीरासादयंधं बहिरूपसादय
स्युचः संमृद्धिं पत्नीं सन्नह्य आज्येनोदेहीति । तत्र, पत्नीं सन्नह्येति
चिन्त्यते । अस्ति हि यजमान एकपत्नीको बहुपत्नीकश्च । तत्र सर्वस्य
प्रयोगमधिकृत्य पत्नीशब्द उच्चरतीति एतत्पाशाधिकरणेनैव निर्णीतम् ।
इदन्तु सन्दिह्यते । किं द्विपत्नीके बहुपत्नीके च प्रयोगे ऊहितव्यः
पत्नीशब्दः ? उत नेति । किं प्राप्तम् । अभिधानार्थत्वान्त्राणामूहित-
व्य इति ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः । अपूर्वे तु अप्रकृतिपूर्वके कर्मणि अविका-
रेण प्रयुज्येत । कुतः । ईकारान्तं हीदं पत्नीमात्रस्य वाचकम् । तत्र
द्विपत्नीके बहुपत्नीके च प्रयोगे पत्नीशब्दे उपादीयमाने द्विवचनं
बहुवचनं च सामर्थ्यात् प्राप्नोति सन्नहनसम्बन्धं कर्तुम् । सामान-
सामर्थ्यात्तु एकवचनेन क्रियते । नचात्र द्वित्वं बहुत्वं वा विवक्ष्य-
ते । लक्षणत्वेन हि पत्नीशब्दस्य श्रवणात् । न चैकपत्नीकात् प्रयोगा-
द् द्विपत्नीके प्रयोगेऽतिदेशो भवति । यथा तत्र सङ्ख्या उक्ता तद्व-
दिहापीति । तस्मादविकारेण पत्नीशब्दस्य प्रयोगः । अथापि कथ-
ञ्चिदेकत्वं विवक्ष्येत, तथापि द्विपत्नीके प्रयोगे सम्प्रतिपत्यभावादे-
कवचनार्थमेकवचनम् । तदनेकपत्नीकं प्रयोगे अविरुद्धमित्यविकारेण
प्रयुज्यते इति ॥ २० ॥ दर्शपूर्णमासयोर्द्विपत्नीके प्रयोगे पत्नीं सन्नह्ये-

ति मन्त्रस्यानूहाधिकरणम् ॥ ६ ॥

विकृतौ चापि तद्वचनात् ॥ २१ ॥

अथेदानीं विकृतौ पत्नीशब्दश्चिन्त्यते । किं द्विपत्नीके बहुपत्नीके च प्रयोगे ऊहितव्यो, न ? इति । द्विवाची बहुवाची वा पत्नीशब्दो द्विवचनं बहुवचनञ्चोपादानः प्रकृतौ समाप्तानेन बाधित इह समाप्तानाभावादुपादातुमर्हतीति ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः । विकृतावपि अविकारेण प्रयोक्तव्य इति । कुतः । तद्वचनात् । यत् प्रकृतौ तद् विकृतौ कर्त्तव्यमिति तद्वचनम् । प्रकृतौ चैकत्वमविवक्षितमिहापि द्वित्वं बहुत्वमेकत्वञ्च न विवक्षितव्यमिति । तस्मादविकारः । अथवा तदेव विवक्षितम् । तदनंकपत्नीकेऽपि अविरुद्धमित्यविकार एवावसीयते ॥ २१ ॥ द्विपत्नीके विकृतियागेऽपि, पत्नी सन्नह्येति मन्त्रस्यानूहाधिकरणम् ॥ ७ ॥

अध्रिगुः सवनीयेषु तद्वत् समानविधानाश्चेत् ॥ २२ ॥

अस्ति सोमे पशुरग्नीषोमीयः, यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते इति । तत्राध्रिगौ इदं समास्नायते । प्रास्मा अग्नि भरतस्तृणीत बर्हिरन्वेनं माता मन्यतामनु पिताऽनु भ्राता इत्येवमादि । यदा तु अग्नीषोमीयाः सवनीयाश्चसमानविधानाः, तददं विचार्यते । किमाध्रिगौ प्रास्मै इत्येवमादि पदमूहितव्यम् ? उत नेति । किं प्राप्तम् । ततोऽतिदेशः क्रियते । अध्रिगौ तद्वदिति । तत्र यः पत्न्यधिकरणे पूर्वपक्षः स इह पूर्वपक्षः । यः सिद्धान्तः स इह सिद्धान्तः । ऊह इति पूर्वपक्षः । अविकार इति सिद्धान्तः ॥ २२ ॥ सवनीयपशुनामग्नीषोमीयसमानविधानत्वे, प्रास्मै अस्मिन्निति मन्त्रे अनूहाधिकरणम् ॥ ८ ॥

प्रतिनिधौ चाविकारात् ॥ २३ ॥

अस्ति प्रतिनिधिः श्रुते द्रव्येऽपचरति । आगमां वा चोदनार्थाविशेषादिति । स च सदृशः सामान्यं तच्चिकीर्षेति । तद् यदा व्रीहिषु अपचरत्सु नीवारा उपादीयन्ते प्रतिनिधित्वेन, तदा व्रीहिमन्त्रो यः समास्नातः, स्योनं ते सदनं कृणोमि । घृतस्य धारया सुशेवं कल्पयामि तास्मिन् सीदामृते प्रतितिष्ठ व्रीहीणां मेघसुमनस्यमान इति । तं प्रति सन्देहः । किं नीवारेषु व्रीहिशब्दस्य ऊहेन प्र-

योगः ? उताविकारेणेति । किं प्राप्तम् । अविकारेण व्रीहिशब्दः प्रयु-
ज्यमानः कार्थ्यवतो नीवारान् न शक्नोति प्रकाशयितुमिति तेषु प्रका-
शयितव्येषु नीवारशब्दः प्रयोक्तव्यो भवति । तस्माद् ऊहः कर्त्त-
व्य इति ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः । प्रतिनिधौ च अविकारात् प्रतिनिधौ च-
ति ऊहां न कर्त्तव्य इत्यनुकूप्यते । किमेवं भविष्यति । एवमविकारो
भविष्यति । तत्रार्थमनुग्रहाप्यते । तस्मादनूहः ॥ २३ ॥ सि० ॥

अनाम्नानादशब्दत्वमभावाच्चैतरस्य स्यात् ॥ २४ ॥

न चैतदस्ति अनूह इति । एवमनूहो भवेत् । यदि तस्मिन् मन्त्रे
व्रीहिशब्दो नास्नातः स्याद्, अभावाच्चैतरस्य यदि नेदं नीवाराख्यं
स्यात् । न चेदमुभयमस्ति । तस्मादभिधानसिद्धये ऊहित-
व्यां नीवारशब्द इति ॥ २४ ॥ सा० ॥

तादर्थ्याद्वा तदाख्यं स्यात् संस्कारैरविशिष्ट-
त्वात् ॥ २५ ॥

वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । नैतदस्ति । ऊह इति । अविकारेण
प्रयोगः । कुतः । तादर्थ्यात् । तादर्थ्यं व्रीह्यर्थना नीवाराणाम् । ये
व्रीहिप्रोक्षणादयः संस्काराः क्रियन्ते । संस्कारैरविशिष्टास्य व्रीहि-
शब्दो यथा धान्येषु व्रीहिलक्षितेषु भवति, एवमेतेष्वपि नीवारेषु ।
तस्मादविकारेण प्रयोक्तव्य इति ॥ २५ ॥ आ० नि० ॥

उक्तञ्च तत्त्वमस्य ॥ २६ ॥

कथं पुनर्ज्ञायते, यो यो व्रीहिगतो विशेषः स नीवारेष्विति ? ।
उक्तञ्च तत्त्वमस्य । उक्तोऽस्य विशेषस्य तद्भावः षष्ठेऽध्याये, सामा-
न्यं तच्चिकीर्षा इति । तस्मादप्यविकारः ॥ २६ ॥ युक्तिः ॥ नीवाराणां
व्रीहिप्रतिनिधित्वे मन्त्रे व्रीहिशब्दस्यानूहाधिकरणम् ॥ ९ ॥

संसर्गिषु चार्थस्यास्थितपरिमाणत्वात् ॥ २७ ॥

सन्त्याधिगुप्रेषे संसर्गिणोऽर्थाः । तद्यथा चक्षुः प्राण इत्येवमादयः ।
सूर्यं चक्षुर्गमयताद्वातं प्राणमन्ववसृजतादिति । द्विपश्वादिषु पशु-
गणेषु किमूहितव्यः ? उत, नेत्युच्यते । नन्वन्यायनिगदत्वादेवायं
नोहितव्यः । द्वयोश्चक्षुषोरेकवचनान्तो यतः श्रूयते । उच्यते । नाय-
मधिगौ अधिष्ठानयोः सूर्यगमनमाह । न हि अधिष्ठाने सूर्यं गच्छ-
तः । तेजोरश्मिवचनस्त्वयम् । एकञ्च तत्संज्ञः । तस्मान्नायमन्याय-

निगदः । द्विपश्वादिषु च वैकृतेषु प्रयोगेषु मैत्रं इवेतमालभेत
 वारुणं कृष्णमपां चौषधीनां च सन्धावन्नकाम इत्येवमादिषु पशु-
 भेदात्तेजसो भेदे गम्यमाने ऊहः स्यादिति प्राप्नोति । नन्वेकस्मिन्नपि
 पशावधिष्ठानभेदेन भिन्न एव तेजसी । नेत्युच्यते । सूर्यमस्य चक्षु-
 र्गमयतादिति । यत् पशोस्तेजस्तद् हि विवक्षितम् । नाधिष्ठानभेदः ।
 पश्वन्तरेषु पशुतेजोभेदादूह इति ॥ एवं प्राप्तं ब्रूमः । संसर्गिषु चा-
 ऽर्थस्यास्थितपरिमाणत्वात् । संसर्गिषु अर्थेषु यद्यपि पशुभेदस्तथापि
 रश्मीनां संसर्ग एवैकीभूतास्तेषां रश्मयः । यथैव पानीयस्य तैलस्य
 घृतस्य वा स्तत्का नानादेशेषु भिन्नाः समानदेशे एकीभूता भवन्ति
 तद्वद्रश्मयः । तस्मादेकवचनान्तस्तेषां वाचक इत्यनूहः स्यात् ॥ २७ ॥ सि०

लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २८ ॥

लिङ्गं खल्वपि भवति, यथा संसर्गिणो नोह्यन्ते इति । न माता
 वरुणं न मज्जा न नाभिः प्राणो हि स इति प्राणस्य सिद्धमनूहं हेतु-
 त्वनोपदिशति । तस्मात् संसर्गिणो नोह्यन्ते इति ॥ २८ ॥ युक्तिः ॥
 द्विपशुयागे सूर्यं चक्षुर्गमयतादिति मन्त्राणामनूहाधिकरणम् ॥ १० ॥

एकधेत्येकसंयोगादभ्यासेनाभिधानं स्यात् ॥ २९ ॥

अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयो यो दीक्षिनो यदग्नीषोमीयं
 पशुमालभते इति । तत्राधिगुप्रैषे समास्नायते । एकधाऽस्य त्वचमा-
 च्छयतादिति । तद्विकृतौ द्विपश्वादिषु सन्दिह्यते । किमभ्यसितव्यं ?
 उताविकारणं प्रयोक्तव्यं इति । किं प्राप्तम् । एकधेत्ययमभ्यसितव्यः ।
 कुतः । एकसंयोगादेकस्त्वचः प्रकार आच्छता कर्त्तव्य इति । तत्र
 द्वयोर्बह्वीषु वा त्वक्षु उत्कृत्यमानासु नैकः प्रकारो भवति । पर्यायेण
 हि तां पशुभ्योऽपाच्छन्ति । एकस्यां त्वचि अपाच्छयमानायामेकं
 प्रकारेणापाच्छेयुस्तस्मादसर्वविषयो भवति अविकृतः शब्दः प्रयुज्य-
 मानस्तस्मादभ्यसितव्य इति ॥ २९ ॥ सि० ॥

अविकारो वा बहूनामेककर्मवत् ॥ ३० ॥

वाशब्दात् पक्षो विपरिवर्त्तने । नैतदस्ति । अभ्यसितव्य इति ।
 अविकारेण प्रयोक्तव्य इति । कुतः । ऐक्यवचन एव शब्दः । एकी-
 कुरु एषां त्वच इति ॥

किं तत्र ऐक्यम्, एककालोपदेशो वा, एकदेशोपदेशो वा ? ।

बहूनामेककर्मवत् । यथा बहूनामेककाले कर्माणि भवन्ति, एक-
धा गाः पाययतीति । एवमिहापि ऐकध्यं त्वचः कुर्विति । बहूनां
तु एकीकरणं शक्यते कर्तुं, नैकस्यास्त्वचः । तस्माद्बह्वीषु त्वक्षु
एकीकरणमेकधाशब्दो वदतीत्यवसेयम् ॥ ३० ॥ पूर्व० ॥

सकृत्त्वं त्वैकध्यं स्यादेकत्वात्त्वचोऽनभिप्रतं तत्प्रकृति-
त्वात् परेष्वभ्यासेन विवृद्धावभिधानं स्यात् ॥३१॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । नाविकारः । अश्यासितव्यः शब्द
इति । एककाले कर्मण्यभिधीयमाने सहत्वं त्वचामभिहितं भवति ।
तत्प्रकृतावेकस्यां त्वचि असम्भवादनभिप्रतं तत्प्रकृतित्वादुत्तरासां
ततीनां परेषु वर्द्धमानेषु पशुषु अभ्यासेन अभिधानं स्यात् ॥ ३१ ॥
उत्तरम् ॥ द्विपशुयागं आधिगुप्रैषे ऐकध्येत्यस्य शब्दस्याभ्यासा-
ऽधिकरणम् ॥ ११ ॥

मेधपतित्वं स्वामिदेवतस्य समवायात् सर्वत्र
च प्रयुक्तत्वात् तस्य चान्यायनिगदत्वात्
सर्वत्रैवाविकारः स्यात् ॥ ३२ ॥

अस्ति ज्योतिष्टोमेऽग्नीषोमीये पशावाधिगुप्रैषे मेधपतिशब्द एक-
वन्निगदः । परेषां शाखिनां द्विवन्निगदः । तं प्रति संशयो भवति ।
द्विपश्वादिषु पशुगणेषु किमविकारेण इतरश्चेतरश्च प्रयोक्तव्यः ? उत
स्वामिपर ऊहः कर्त्तव्यः, उत देवतापर इति । किं प्राप्तम् । आविका-
रः । कुतः । मेधपतित्वं स्वामिदेवतस्य, स्वामी मेधपतिर्देवता च ।
स्वामिना पशुर्देवताभ्यां दत्तः सङ्कल्पितः । मेधपतये स्वामिनेऽप्यसौ
भवति । तस्य कार्यं करिष्यतीति । देवताभ्यामपि ताभ्यामुत्सृज्यते
इति । त्रयाणामपि हि तं मेधं प्रति आधिपत्येन समवायोऽस्ति ।
सर्वत्र च आधिपत्ये पतिशब्दः प्रयुक्त आ हिमवतः, आ च कुमा-
रीभ्यः । स एष त्रयाणामेकवचनान्तो वाचको द्विवचनान्तश्च । यथा
प्रकृतावाविक्षितैकत्वोऽविवक्षितद्वित्वश्च सम्बन्धमात्रनिबन्धनः । एवं
सर्वासु विकृतिषु । तस्मान्न विक्रियेत ॥ ३२ ॥

अपि वा द्विसमवायोऽर्थान्यत्वे यथासंख्यं
प्रयोगः स्यात् ॥ ३३ ॥

अपि वा नैतदेवम् । तयोरिह समवायः, एकवन्निगदस्य, द्विवन्निगदस्य च । तयोरैकवन्निगदः स्वामिनि प्रयोक्ष्यते, येषां समाज्ञातः । येषां द्विवन्निगदः समाज्ञातस्तेषां सदेवते वक्ष्यति । तस्माद्विकृतौ बह्वीषु देवतासु द्विवन्निगद ऊहेन प्रवर्त्तिष्यते । यजमानेष्वेकवन्निगद ऊहिष्यते । एवं यथासंख्यं प्रयोगो भविष्यति ॥ ३३ ॥

स्वामिनो वैकशब्द्यादुत्कर्षा देवतायां स्यात्
पत्न्यां द्वितीयशब्दः स्यात् ॥ ३४ ॥

वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । स्वामिदेवतयोरुभयोर्वाचक इति । नैतदेवम् । एक एव मेधपतिशब्दः । यस्माद् द्विवचनं, यस्माद् एकवचनं, स एव न स्वामिदेवतयोर्वाचको भविष्यति । नन्वेकोऽपि मेधपतिरपरोऽपि प्रतीयते । कथमवाचक इत्युच्यते । यदा स्वामिनस्तदा मेधपतये यो मेधस्तं मेध्यादुर उपनयन्तीति सम्बन्धः । यदा देवतावचनस्तदा मेधपतये उपनयत मेध्यादुर इति सम्बन्धः । स एव सकृदुच्चरित उभाभ्यां पदाभ्यां न सम्बन्धुमुत्सहते । वचनव्यक्तिभेदाद् वाक्यभेदः प्रसज्यते । तस्मात् स्वामिनो वाचक इति अध्यवसीयते ॥ अथ किमर्थं न देवतावचनः कल्प्यते । तथा हि कल्प्यमाने एकवन्निगदं उत्कृष्येत एकदेवत्यः क्रतुः । तत्र प्रकरणं बाध्यते । यजमानवचने पुनः कल्प्यमाने न द्विवन्निगद उत्कृष्येत । तत्रैव यजमानयोर्द्वययोर्वाचको भविष्यति । तस्मात् प्रकरणानुग्रहाय स्वामिवचनः कल्प्यते । स्वामिपरस्योहो भविष्यतीति ॥ ३४ ॥ पूर्व० ॥

देवता तु तदाशीष्ठात् सम्प्राप्तत्वात् स्वामिन्यनर्थिका स्यात् ॥ ३५ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । न स्वामिवचनो देवतापरो भविष्यति । कुतः । तदाशीष्ठात् । आशासाना मेधपतये मेधमिति देवताभ्यां हविराशास्यते । मेधपतिभ्यां मेधमाशासाना उपनयत ताभ्यामिति । यजमानं प्रत्याशासानानुकीर्त्तनमनर्थकम्, अकर्त्तव्यञ्च । स प्राप्त एव स्वामिनं, मेधः किमर्थमाशास्यते । न च तेन नित्यमेव स्वामिसम्बन्धेन प्रयोजनम् । याग एव हि न संवर्त्तते । तस्माद्देवतावचनो मेधपतिशब्द इति ॥ ३५ ॥

उत्सर्गाच्च भक्त्या तस्मिन् पतित्वं स्यात् ॥ ३६ ॥

उत्सृष्टञ्च यजमानेन नायं ममंति । केवलं परकीयो रक्षयते । कालेन देवतया सम्भन्स्यते इति । कः पुनरस्य देवतया सम्बन्धः । यत्तामुद्दिश्य परिग्रहोऽस्य त्यज्यते । स च यायात् प्राकृतः । तस्माद् यागात् परार्थं द्रव्यं नात्मीयं परित्यज्य आस्ते । आत्मप्रधानं यत्तदात्मीयं, न यं प्रति आत्मा गुणभूतस्तादृशेषु भक्त्या पतित्वं भवति । तस्माद् देवतयोरेव तत्र मुख्यं मेधपतित्वं, भाक्तं स्वामिन इति ॥ ३६ ॥ युक्तिः ॥

उत्कृष्येतैकसंयुक्तो द्विदेवते सम्भवात् ॥ ३७ ॥

इति यदुक्तं, तत् परिहर्त्तव्यम् ॥ ३७ ॥ आ० ॥

एकस्तु समवायात्तस्य तल्लक्षणत्वात् ॥ ३८ ॥

अत्रोच्यते । यौ हि तौ द्वावग्नीषोमौ तयोर्गणे. मेधपतिशब्दः । स चात्र देवतासमवेतस्तस्मिन् कर्मणि एकस्मै गणाय मेध उपनयत इत्युच्यते । तस्मादेकवचनान्तो गणवाची मेधपतिशब्दो नोत्कृष्यते इति ॥ ३८ ॥

संसर्गित्वाच्च तस्मात्तेन विकल्पः स्यात् ॥ ३९ ॥

अयं चान्यः परिहारः । संसर्गी अयमर्थो देवता नाम । द्वौ अर्थौ संसृष्टौ कदाचिदंका देवता भवति । यदि द्वयाय परिकल्पितं किञ्चिद् द्रव्यं, तत्र द्वयं देवता भवति । द्वावर्थौ संसृष्टौ एकतां यातः । तस्मादेकवचनान्तोऽपि प्रकरणमभिविधते पूर्वेण च सह विकल्पेन इति ॥ ३९ ॥ आ० नि० ॥

एकत्वेऽपि गुणानपायात् ॥ ४० ॥

अन्वारुह्य वचनमिदम् । मा तावद् भूदिहेकत्वमर्थः । तथापि प्रकरणमनुप्रविशेतैव एकवचनान्तः । प्रातिपदिकं हि तस्य विद्यमानाऽर्थम् । एकवचनञ्चापनयनसम्बन्धार्थम् । एकत्वं वा अविचक्षितम् । तस्मान्न प्रकरणादुत्कृष्येतेति । अथोच्यते, एकत्वाविशिष्टस्य विभक्तिः सम्बन्धं ब्रवीतीति । तथाप्यस्मत्पक्ष उपपद्यतेतराम् । सर्वोऽपि ह्येकत्वसम्बद्ध इति । अथ सम्बन्धं करोति एकत्वञ्च ब्रवीतीति । न तेन विशिनष्टि अविचक्षितत्वाद्विरुद्धं भविष्यतीति । अथोच्यते । अविचक्षितेऽपि वचने एकत्वसम्बन्धे एकवचनं भवति, नान्यत्रेति । तथा

मेघपतिगतमेकत्वमस्य भविष्यति । ततः सोऽनुवदिष्यते । तस्माद-
दोष इति ॥ ४० ॥ युक्तिः ॥ द्विपश्वादिपशुविकृतौ मेघपतिशब्दस्य
देवतानुसारणोहाधिकरणम् ॥ १२ ॥

नियमो बहुदेवते विकारः स्यात् ॥ ४१ ॥

अस्ति बहुदेवत्यः पशुः । स एतान् पशूनादित्येभ्यः कामाय आ-
लभते इति । तथा वैश्वदेवं धूम्रमालभेतेति । अस्ति तु प्रकृतौ अग्नी-
षोमीये द्विवस्त्रिगद एकवस्त्रिगदश्च मेघपतिशब्दश्चादकप्राप्तः सन्दि-
ह्यते । किं द्विवस्त्रिगद ऊहितव्यः । एकवस्त्रिगदो निवर्त्तते ? उत उ-
भावपि परस्परेण विकल्पमानौ निविशेयातामिति । किं तावत् प्रा-
प्तम् । द्विवस्त्रिगदः समवेताभिधायित्वाद्दुहितव्यः । एकवस्त्रिगदो-
ऽशक्नुवन्नभिधातुमित्येतावता दर्शनेन निवर्त्तते एष नियमः । आह ।
ननु प्रकृतौ द्वित्यस्याविषक्षितत्वाद्विकारेण प्रयोगः प्राप्तोतीति ।
उच्यते । अविशंपकमत्र द्वित्वं, नतु तत्र समवेतं न गम्यते । न च गम्य-
मानं निष्प्रयोजनम् । अन्यसंख्यापरिच्छेदेन पुनः संख्येयमुपस्थापयति ।
तदस्य दृष्टमेव प्रयोजनम् । तस्माद् बहुध्वप्यूहां भवतीति ॥ ४१ ॥ पूर्वैः ॥

विकल्पो वा प्रकृतिवत् ॥ ४२ ॥

यदुक्तं द्विवचनान्त ऊहितव्य इति । तद् गृह्णीम । यत्त्वेकवचनान्तो
निवर्त्ततेति । तत्र । एकवचनान्तोऽपि प्रकृतिवदिह द्विवचनान्तं
विकल्पितुमर्हति । उक्तं हि गणाभिप्रायं तत् प्रकृतौ । संसर्गि-
त्वाद्वा देवतानामिति । तद्वदिहापि गणाभिप्रायात् संसर्गित्वाद्वा देव-
तानां विकल्पेन निवेक्ष्यते इति ॥ ४२ ॥ सिद्धान्तः ॥ बहुदेवपशौ
अपि एकवचनान्तमेघपतिशब्दस्य विकल्पाधिकरणम् ॥ १३ ॥

**अर्थान्तरे विकारः स्याद्देवतापृथक्कादेकाभि-
समवायात् स्यात् ॥ ४३ ॥**

अस्त्येकादशिनी, प्रैषाग्नेयेन वापयति मिथुनं सारस्वत्या करोति
रेतः सौम्येन दधाति प्रजनयति पौष्णेनत्येवमादि । अस्ति च प्रकृतौ
अग्निगुप्रैषे एकवस्त्रिगदो द्विवस्त्रिगदश्च मेघपतिशब्दः । तस्येह चाद-
कप्राप्तिश्चिन्त्यते । द्विवास्त्रिगद ऊहितव्य एव । अथैकवस्त्रिगदः किम्
अविकारेण प्रवर्त्तते, उत निवर्त्तते ? किं प्राप्तम् । विकल्पो वा प्रकृ-
तिवदिति । एवं प्राप्ते ब्रूमः । विकार एवैकादशिन्यां, न विकल्पः ।

तत एकवचनान्तेन निवर्त्तितव्यम् । कुतः । देवतापृथक्त्वात् । पृथगत्र देवता । अन्यस्य पशोरन्या देवता, अन्यस्यान्येत्येवं, नात्र गणो देवतात्वेन । तदभावात् संसर्गित्वमपि नास्ति । प्रकृतौ च एतद्व्यं कारणम् । एकवचनान्तस्य निवेशे न तदभावादिहास्ति प्रवृत्तिः । यच्चोक्तम्, एकत्वंऽपि गुणानपायादिति । परपक्षमन्वारुह्य तद्वचनं, न स्वपक्षः । तस्माददोष इति ॥ ४३ ॥ एकादशिन्यामेकवचनान्तमेध-पतिशब्दस्योहाधिकरणम् ॥ १४ ॥ इत्याचार्य्यशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये नवमस्य अध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ९ ॥ ३ ॥

अथ नवमाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ९ ॥ ४ ॥

षड्विंशतिरभ्यासेन पशुगणे तत्प्रकृतित्वाद्गणस्य
प्रविभक्तत्वादविकारे हि तासामकात्स्न्येना-
ऽभिसम्बन्धो विकारान्न समासः स्याद-
ऽसंयोगाच्च सर्वाभिः ॥ १ ॥

अस्ति ज्योतिष्टोमे पशुरग्नीषोमीयः, यो दीक्षितो यदग्नीषोमीयं पशुमालभते इति । तत्राग्निगुप्रैपे इदमाम्नायते— षड्विंशतिरस्य वङ्कय इति । तच्चोदकेन द्विपश्वादीन् पशुगणान् सम्प्राप्तम् । मैत्रं श्वेतमालभते वारुणं कृष्णमपाञ्चौपर्धानाञ्च सन्धावन्नकाम इत्येवमादिषु । अयमर्थः सांशयिकः । किं षड्विंशतिशब्दोऽभ्यसितव्यः ? किमविकारेण प्रयोक्तव्यः, किं वचनमात्रमूहितव्यम् ? अथ अस्य पदाभ्यासः ? उत समस्य वचनमिति । किं प्राप्तम् । षड्विंशतिशब्दोऽभ्यसितव्यः । द्विपश्वादिषु पशुगणेषु प्रकृतावेकस्य पशोः षड्विंशतिर्वङ्कय उक्ताः । इह स गुणः प्रविभक्तः । पशौ पशौ षड्विंशतिर्वङ्कयः । तत्र यदि अविकारेण प्रयुज्येत, न कृत्वा वङ्क्रीरभिवदेत् । अथ समस्य वचनं क्रियते, तथा षड्विंशतिशब्दो निवर्त्तत । तत्रार्थे बाधितं स्यात् । न च सर्वाभिर्वङ्किभिः पशोः सम्बन्धोऽस्ति । पशुद्वयस्य ताभिः सम्बन्धः । न च पशुद्वयं पशुः ॥ ननु पशोः कार्य्ये यः पशोः स्थाने, स वङ्किभिः सम्बन्धयितव्यः । तथा हि प्रकृतौ वचनं कृतं, समस्ताभिर्वङ्किभिः पशुद्वयस्य सम्बन्धे कृते एकैकस्य षड्विंशत्या सम्बन्धः प्रत्यायितः स्यात् । यत्रोच्यते ।

नैवम् । प्रकृतौ साक्षात् षड्विंशत्या पशुसम्बन्धः । इह परसंख्यया सम्बन्धे क्रियमाणे परोक्षयाऽवयवसंख्यया सम्बन्ध आनुमानिकः स्यात् । न च नियोगतः षड्विंशत्या एकैकस्य सम्बन्धः प्रत्यायितः स्यात् । षड्विंशतिरेकस्य सप्तविंशतिरेकस्येहशमपि तत्र गम्यते । न चैवं प्रकृतावभिधानं कृतम् । तस्माद्भ्यसितव्य इति ॥१॥ पूर्व० ॥

अभ्यासेऽपि तथेति चेत् ॥ २ ॥

इतिचेद् भवान् पश्यति, समासवचने अप्राकृतः. शब्द उच्चरितो भवतीति । अभ्यासेऽपि अनभ्यस्तं प्रकृतौ वचनम् । इह साभ्यास-मप्राकृतं स्यात् ॥ २ ॥ आ० ॥

न गुणादर्थकृतत्वाच्च ॥ ३ ॥

नैष दोषः । गुण एष शब्दस्याभ्यासो नाम । स मत्पक्षे अप्राकृतः । त्वत्पक्षे पुनः शब्द एव । अङ्गुणाविरोधे च तादर्थ्यादित्युक्तम् । अर्थाच्च मयैतदश्रुतमुपादीयते, प्रविभक्तं गुणं वक्तुम् । यच्च श्रुत-चिकीर्षयाऽश्रुतं क्रियते, इष्यते एव तदस्माभिः । तस्माद्दोषः ॥ ३ ॥ आ० नि० ॥

समासेऽपि तथेतिचेत् ॥ ४ ॥

इतिचेत् पश्यसि, अभ्यासवचने चोदकोऽनुगृहीतो भविष्यति । कात्स्न्येन वङ्कयो वक्ष्यन्ते इति । समासेऽपि चोदकानुग्रहः । का-त्स्न्येन वङ्क्रीणामभिधानाद् । अपिच समासवचनेन योगपद्यवचनात् प्रयोगवचनोऽनुगृहीतो भविष्यति । तस्मात् समभ्यसितव्या वङ्कय इति ॥ ४ ॥ आ० ॥

नासम्भवात् ॥ ५ ॥

नैतदेवम् । मम चोदकोऽनुगृहीतः षड्विंशतिशब्दप्रयोगात् । तव प्रयोगवचनः समस्य वचनात् । न च सम्भवति चोदके प्रयोगवचनं प्रत्यादत्तव्यम् । बलीयान् हि चोदकः । स हि धर्माणामुत्पादकः प्रापकश्च । प्रयोगवचनः प्राप्तानामुपसङ्गाहकः । स उत्तरकालेऽर्थ-विप्रकर्षाद् दुर्बलः । तस्माद्भ्यसितव्यं वचनमिति ॥ ५ ॥ आ० नि० ॥

स्वाभिश्च वचनं प्रकृतौ तथेह स्यात् ॥ ६ ॥

स्वाभिश्च वङ्कभिः पशुरुपलक्षितः प्रकृतौ । इहापि तथैवोप-लक्षयितव्यः । सोऽभ्यासवचने शक्यते । समासवचने हि परसंख्या

समुदायस्योक्ता भवति, न स्वाभिः पशव उपलक्षिता भवन्ति । तस्मा-
दसदेतत् ॥ ६ ॥ युक्तिः ॥

वङ्क्रीणान्तु प्रधानत्वात् समासेनाभिधानं स्यात्
प्राधान्यमधिगोस्तदर्थत्वात् ॥ ७ ॥

तुशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । नैतदेवम् । अभ्यसितव्यः षड्-
विंशतिशब्द इति । किं तर्हि । समस्य वदितव्या वङ्कय इति ।
कुतः ? । तत्र वङ्क्रीणां प्रधानत्वात् । प्राधान्यं हि तासाम् । प्र-
कृतौ षड्विंशतिरंता वङ्कय इति अभिसम्बन्धः । तत्रेप्सितः षड्विं-
शतिरस्येति वङ्कयो गणिताः । न ताभिर्गणिताभिः पशुरुपलक्षि-
तः । किं कारणम् । वङ्क्रीभिर्गणिताभिर्दृष्टं प्रयोजनं, कृत्स्नं पा-
श्चमुद्धरिष्यते इति । न तु वङ्क्रीभिर्गणिताभिः 'पशवुपलक्ष्यमाणे
किञ्चिद् दृष्टमभ्यधिकं भवति । तस्मान्न पशुसम्बन्धो विवक्षितः ।
एवं प्राधान्यं वङ्क्रीणाम् । अधिगोर्वङ्कयर्थत्वात् तस्य सङ्ख्यापशु-
सम्बन्धः प्रयोजनम् । तस्मात् समस्य वचनं कर्त्तव्यम् । एतावत्त्वं
प्रकृतौ उक्तमिति विकृतौ एतावत्तैव वक्तव्येति । तस्मात् समस्य-
वचनं कर्त्तव्यमिति ॥ ७ ॥ उत्तरम् ॥

तासाञ्च कृत्स्नवचनात् ॥ ८ ॥

तासाञ्च वङ्क्रीणामिदं कात्स्न्यमुच्यते, न पशुनाम् । ता अनुष्ठयो-
ष्यावयतादिति । षड्विंशतिवङ्कयस्ताः प्रयत्नेन उद्धर्त्तव्या इति ।
इतरथा षड्विंशतिरस्य वङ्कयस्तं प्रयत्नेन किञ्चित् कुर्यादित्येव-
मभिसम्बन्धो भवेत् । यच्च लभ्यते, तद्विकार्यसम्बन्धार्थं प्रति-
निर्द्दिश्यते । तदिह षड्विंशतिरस्य वङ्कयस्ता इति वङ्क्रीणां प्रति-
निर्द्देशः कार्यार्थः । तस्मात्तासां प्राधान्यमिति ॥ ८ ॥ युक्तिः ॥

अपि त्वऽसन्निपातित्वात् पत्नीवदाज्ञातेना-
ऽभिधानं स्यात् ॥ ९ ॥

अपित्विति पक्षव्यावृत्तिः । नैतदेवं, समसितव्या वङ्कय इति ।
किं तर्हि । अविद्युतः षड्विंशतिशब्दः प्रयोक्तव्यः । कुतः । असन्निपा-
तित्वात् । असन्निपाती ह्यधिगुः, न करणत्वेन निर्द्दिश्यते । यदि हि
करणत्वेन निर्द्दिश्येत, ततोऽनेन एकाशितं कर्त्तव्यं, न ध्याननेति

मन्त्रान्तेन कर्मसन्निपातः स्यात् । तत्राशक्यमविकृतेन यौगपद्यं कर्तु-
मिति विक्रियेत, अशक्येत वा । अथ पुनरेतदकरणं, क्रियमाणानु-
वादिनयनकालमधिगुवचनमनेकस्मिन् पशौ चोदकेनात्र निपतितम् ।
तत्रैषां स्वसङ्ख्यावतीर्वङ्क्रीरभिवदितुमशक्यं विप्रतिपत्तिरूपं तत् ।
तस्मान्न तद्वङ्क्रीणामियत्ता वदितव्या । किं तर्हि । षड्विंशतिस-
ङ्ख्यायाः सम्बन्धः कर्तव्यः । यथा द्विपत्नीके बहुपत्नीके वा प्रयोगे
पत्नीशब्द एकवचनान्तो न सङ्ख्याया पत्नीः परिच्छिनत्ति । किं तर्हि ।
एकत्वेन सम्बध्नाति । एवमिहापि । तस्मादविकारेण प्रयोगः । एव-
मविकारे आर्षमनुग्रहीष्यते इति ॥ ९ ॥ पूर्व० ॥

विकारस्तु प्रदेशत्वाद् यजमानवत् ॥ १० ॥

तुशब्दात् पक्षो विपरिवर्त्तने । नाविकारः । ऊहः कर्त्तव्य इति ।
यद्यत्संख्येषु आहृत्य तत्संख्योच्चार्यते, तत्र वचनप्रामाण्याद् विप्रति-
पन्नसङ्ख्याकस्य शब्दस्य प्रयुज्यमानस्य अहष्टोऽर्थोऽशुपगम्यते । यथा
प्रकृतौ पत्नीशब्दस्य, न तु इहाहत्य षड्विंशतिशब्दोऽनेकस्मिन् पशौ
प्रयुज्यते । किन्तु चोदकेनेह प्राकृतवचनं प्राप्यते । तत्र यद् न्याय्यं तच्चो-
दकः प्रापयिष्यति, नाहत्य षड्विंशतिशब्दम् । किं तद् न्याय्यम् । यत्
प्रकृतौ विवक्षितम् । प्रकृतौ च वङ्क्रीणामियत्ता कथिता । तस्मादिह
सा प्रदिश्यते ॥ नन्वेतदुक्तं नाधिगोः करणत्वेन निर्देश इति । यदा च
न करणं, तदा कथमयं वङ्क्रीयत्तावचनः । धृत्या षड्विंशतिसङ्ख्या-
वचन एव भवितुमर्हतीति । उच्यते । यद्यपि नास्य तृतीयया निर्दे-
शः, तथापि प्रयोगवचनेनोपगृहीतः साधको भवन् कमन्यं दृष्टमुप-
कारं करिष्यति, अन्यतोऽवदानप्रकाशनात् । अत्रोच्यते । नास्या-
वदानैरभिसम्बन्धः प्रकृतियागप्रयोगवचनो यागेन सम्बध्नाति । तत्र
च हविष्कङ्कीर्त्तनं दृष्टं प्रयोजनम् । षड्विंशतिशब्दोऽपि तच्छ्रुतये
भविष्यतीति । नैतदेवमिति ब्रूमः । प्रकरणाद् यागमात्रेण अभिसम्ब-
न्धे सति ऋत्विजां प्रैष इति गम्यते । लिङ्गात् शमितृप्रैषमेनमध्य-
वस्यामः । तथारूपाणि ह्यत्र वाक्यानि, दैव्याः शमितार उपहृता
मनुष्या आरभध्वमिति । तथा षड्विंशतिरस्य षड्कयस्ता अनुष्ठयो-
च्छ्यावयतादिति । तस्माद् वङ्क्रीयत्तावचन एष, न षड्विंशति-
सङ्ख्यावचनः । यथा यजमानपदे एकयजमानवाचिनि स्वसङ्ख्या-

मात्रैकवचनमिति कृत्वा द्वियजमानके च प्रयोगे स्वसङ्ख्यावचन-
प्रदेशाद् ऊहः क्रियते । एवमिहापीति ॥ १० ॥ उत्तरम् ॥

अपूर्वत्वात्तथा पत्न्याम् ॥ ११ ॥

यदुक्तं पत्नीवदिति । युक्तं पत्न्यां न तत्रैकपत्नीके यजमाने पत्नी-
शब्दः समाज्ञातः । द्विपत्नीके बहुपत्नीके च प्रदेशाद् भवति । यथा
एकस्याः पत्न्याः स्वसङ्ख्यावचनः । एवं द्वयोर्बहूनां च स्वसङ्ख्या-
वचन इति । तस्माद्वैषम्यं पत्न्याम् ॥ ११ ॥ युक्तिः ॥

अनाम्नातस्त्वधिकारात् संख्यासु सर्वगामित्वात् ॥ १२ ॥

तुशब्दोऽन्यं पक्षमवतारयति, न समस्य-वचनं सङ्ख्याहः स्या-
दिति । यथा समाज्ञातं षड्विंशतिप्रातिपदिकं प्रयोक्तव्यम् । एव-
मविकारे आर्षानुग्रहो भविष्यति । प्रविभक्तं गुणमभिवदितुं वचन-
मूहिष्यते । षड्विंशती एतयोर्बहुक्य इति । ननु षड्विंशती इत्यभि-
धाने बहुक्रीणां प्रथमा न प्राप्नोति । उच्यते । यदा षड्विंशतिगुणः
प्राधान्येन विवक्षितो भवति, तद्विशेषणार्थं सङ्ख्येयमुच्चार्यते ।
तदा प्रथमान्तेनापि लक्षणया सङ्ख्या विशेष्यते । यथा, इन्द्राग्नी देवते
इति । यदा दिवैरैद्वैर्यकर्मणोऽर्थो गुणो विवक्षितो भवति, तदैकवच-
नान्तमेव इन्द्राग्नी इति शब्दो लक्षणया विशिनष्टि । तथा च प्रयोगो
दृश्यते । पञ्चपञ्चाशत्स्त्रिवृतः संवत्सराः पञ्चपञ्चाशतः पञ्चदश
पञ्चपञ्चाशतः सप्तदश पञ्चपञ्चाशत एकविंश इति सङ्ख्यावचनः
शब्दस्त्रिवृत इत्यनेन लक्षणया विशेष्यते । यथा, देवदत्तयज्ञदत्तविष्णु-
मित्राः पर्षदिति । एवं षड्विंशती बहुक्य इति । एवमविकारं च भ-
विष्यति । बहुक्रीणामी च षड्विंशतिशब्दां भविष्यतीति ॥ १२ ॥ पूर्व०
सङ्ख्या त्वेवं प्रधानं स्याद्बहुक्यः पुनः प्रधानम् ॥ १३ ॥

सत्यमुपपद्यत एव वचनं, षड्विंशती बहुक्य इति । संख्या-
प्रधानस्त्वेवं निर्देशः कृतो भवति । षड्विंशतिगुणः प्राधान्येन वि-
वक्षितः । तद्विशेषणत्वेन बहुक्रीणामुच्चारणम् । बहुक्यः पुनः प्रकृतौ
प्रधानं, न सङ्ख्या । तदुक्तं, प्राधान्यमभिगोस्तदर्थत्वात् । तासाञ्च कृत्स्न-
वचनादिति । तदेवं न प्रकृतिवदभिधानं कृतं भवेत् । तत्र चोदक
एव बाध्येत । तस्मात् समसितव्यमेव वचनमिति ॥ १३ ॥ उत्तरम् ॥

अनाम्नातवचनमवचनेन हि बहुक्रीणां स्यान्नर्देशः ॥ १४ ॥

न खल्वप्यस्मिन् पक्षे सर्वमेवाज्ञातमुच्यते, अनाज्ञातवचनमपि प्रतीयते इति षड्विंशती षड्विंशतय इति । अथ द्विवचनं बहुवचनं वा अनार्षं, तथा न क्रियते, न तासां वङ्क्रीणां कात्स्न्येनाभिधानं स्यात् ॥ १४ ॥ युक्तिः ॥

अभ्यासो वाऽविकारात् ॥ १५ ॥

वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । न समासवचनम् । अभ्यासः स्यात् । एवमविकारां भविष्यति । तत्रार्थचोदकावनुग्रहीष्येते । सर्वं समाज्ञातं कृतं भविष्यति । केवलमस्यशब्दोऽभ्यासिष्यते । कृत्स्नाश्च वङ्कयोऽभिहिता भविष्यन्ति ॥ १५ ॥ पूर्व० ॥

पशुस्त्वेवं प्रधानं स्यादभ्यासस्य तन्निमित्तत्वात्

तस्मात् समासशब्दः स्यात् ॥ १६ ॥

तुशब्देनावधार्यते । नैतदेवं, समस्य-वचनमेवेति । कथम् ? । एवं सति पशुः प्राधान्येनात्र निर्दिष्टः स्यात् । पशाः-पशोः षड्विंशतिः षड्विंशतिर्वङ्कयो न कश्चिद् अषड्विंशतिवङ्किकः पशुरिति पशोः सङ्ख्यासम्बन्धेऽभिधत्सिते एवं वचनं भवति । न च पशु-सङ्ख्यासम्बन्धः प्रकृतौ विवक्षित इत्युक्तम् । इयत्ता वङ्क्रीणां प्रकृतौ वक्तव्या । इहापि सैव चोदकेन प्रदिश्यते । तेन नाभ्यासः । स हि पशुनिमित्तकः । तस्मात् समस्य-वचनं वङ्क्रीणां कर्त्तव्यमिति ॥ १६ ॥ सि० ॥ षड्विंशतिरस्य वङ्कय इत्यादौ समस्योर्हाधिकरणम् ॥ १ ॥

अश्वस्य चतुस्त्रिंशत्तस्य वचनाद्वैशेषिकम् ॥ १७ ॥

अस्त्यश्वमेधः । तत्र सवनीयः पशुः, अश्वस्तूपरगोमृगौ च । अस्ति तु प्रकृतौ अग्नीषामीये षड्विंशतिरस्य वङ्कय इति वचनम् । तदिह चोदकेन प्राप्तमातत्राश्वस्य चतुस्त्रिंशद्वङ्कयः । तूपरगोमृगयोः षड्विंशतिः । अस्ति तु ऋक् समाज्ञाता । चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोर्वङ्क्रीरश्वस्य स्वाधितिः संमतिः । अच्छिद्रा गात्रा वयुना कृणोत परुष्परुरनुधुष्याविशस्ता इति । तादृक् सन्दिह्यते । किमश्वस्य वैशेषिकमिदं वचनं कर्त्तव्यं, तूपरगोमृगयोः समासेन ? उत सर्वेषामेष समासवचनम् । किं प्राप्तम् । अश्वस्य चतुस्त्रिंशद्वङ्कयस्तस्य वैशेषिकमिदं वचनं कर्त्तव्यम् । कस्मात् । वचनात् । एवं चतुस्त्रिंशद्वाजिनो देवबन्धोरित्येतद् वचनमर्थवदिति । इतरथा एतद्

वचनमर्थकं स्यात् । तस्माद्वैशेषिकमद्वयस्येति ॥ १७ ॥ चतुस्त्रिंश-
द्वाजिन इत्यनेन आश्वमेधिकसधनीयाश्वस्य चतुस्त्रिंशद्भक्तिरूप-
विशेषवचनाधिकरणम् ॥ २ ॥

तत् प्रतिषिध्य प्रकृतिर्नियुज्यते सा चतुस्त्रिंश-
द्वाच्यत्वात् ॥ १८ ॥

तत् प्रतिषिद्ध्य प्रकृतिर्नियुज्यते, प्रकृतौ यत् कृतं वचनं तत्
कर्त्तव्यमिति । कथम् । न चतुस्त्रिंशदिति ब्रूयात् षड्विंशतिरित्येव
ब्रूयादिति, सा नियुज्यमाना चतुस्त्रिंशद्वाच्यत्वाद् वारयति शब्दम् ।
तस्मात् प्रतिषिद्धत्वाद्द्वैशेषिकं वचनं न कर्त्तव्यं, सामासिकं वचनं
कर्त्तव्यम् ॥ ननु षड्विंशतिरित्येव ब्रूयादिति वचनात् प्रतिषिद्धेऽपि
वैशेषिकमेव वचनं कर्त्तव्यमिति । नेत्युच्यते, न ह्ययं षड्विंशतिशब्दो
विधीयन् । किं तर्हि । यथाप्राप्तवचनमनूद्यते । कथमवगम्यते । एव-
कारकरणात् । यथाप्राप्ते एवकारकरणम् । न च षड्विंशतिशब्दः
प्राप्तः । षड्विंशतिसङ्ख्याभिधानं प्रकृतौ कृतगिहापि तदेव प्राप्तम् ।
षड्विंशतिशब्देन तत् प्रकृतौ लक्षितमिहापि षड्विंशतिशब्दस्त-
ल्लक्षणार्थमेवाञ्चारितः । षड्विंशतिसङ्ख्यापरेऽनेकोऽर्थो विधीयते ।
चतुस्त्रिंशत्प्राप्तपेधः । षड्विंशतिसंख्यावचनञ्च । तत्र वाक्यं भिद्यत ।
भिद्यमाने एकवाक्यरूपं बाध्यते । किं तत् । साक्षाद्भूत्वम् । न चतु-
स्त्रिंशदिति ब्रूयात् षड्विंशतिरित्येव ब्रूयादिति । एतद्धि वचनं चतु-
स्त्रिंशद्वचनाभावे प्राप्तमेव सत् कर्त्तव्यतया प्रतिषेधं प्रशंसितुमुच्चा-
र्यते । तदेवमेकवाक्यतामापद्यते । सैकवाक्यता संख्यापरं बाधिता
स्यात् । अनेकार्थाविधानञ्चान्यात्त्यम् एकार्थाविधाने सम्भवति ।
भूयसी हि तत्रादृष्टकल्पना स्यात् । तस्माद्यथाप्राप्तवचनं कर्त्तव्य-
मिति ॥ १८ ॥ सि० ॥

ऋग्वा स्यादाज्ञातत्वादविकल्पश्च न्याय्यः ॥ १९ ॥

आज्ञाता हि ऋक् प्रतिषिद्धा च । तस्मादश्वस्य वैशेषिकं वचनं
स्यात् । तथा च अविकल्पो भाविष्यति । अविकल्पश्च न्याय्यः । वि-
कल्पे विरुद्धं वचनमन्यान्येन भवति । भवतीति चेद्, न प्रतिषेधः ।
नेति चेद्, न विधिः । तस्माद्वैशेषिकं वचनं कर्त्तव्यम् ॥ १९ ॥ पूर्व० ॥

तस्यां तु वचनादैरवत् पदविकारः स्यात् ॥ २० ॥

अथ यदुक्तम्, ऋक् तत्र प्रतिषिद्ध्यते इति । नैतदेवम् । तस्यां वचनात् पदधिकारः स्यात् । वचनं हि भवति, न चतुस्त्रिंशदिति ब्रूयात् षड्विंशतिरित्येव ब्रूयादिति । तत्र चतुस्त्रिंशत्पदं श्रुत्या प्रतिषिद्ध्यते । ऋग् लक्षणया प्रतिषिद्ध्यते । श्रुतिलक्षणाविशये च श्रुतिन्याय्या । तस्माद्द्वैशेषिकं वचनं कर्त्तव्यमिति ॥ २० ॥ आ० नि० ॥

सर्वप्रतिषेधो वाऽसंयोगात् पदेन स्यात् ॥ २१ ॥

सर्वस्या एव वा ऋचः प्रतिषेधोऽयं, न चतुस्त्रिंशत्पदस्य । कस्मात् । पदेन असंयोगात् । चतुस्त्रिंशत्पदेन ऋचः संयोगो न स्याद्, विना तस्मात् पदात् । नैव ऋक्शेषो वङ्क्रिगणनं कुर्यात् ॥ अथ षड्विंशतिपदेन सम्बद्धेन, तथापि नाश्ववङ्क्रीसंख्यां ब्रूयात् । तव दृष्टोऽर्थो नावकल्पेत । ऊनञ्च वाक्यमर्थं न साधयेत् । ऊने च वाक्ये दोषश्रवणात् । मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह । स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधादिति । चतुस्त्रिंशत्पदं चेह अनर्थकं स्यात् । तस्मात् समस्य वचनं कर्त्तव्यम् । ऋचश्च विध्यन्तरेण विहितत्वाद्द्वैशेषिकं वचनमिति ॥ २१ ॥ उत्तरम् ॥ आश्वमेधिकसवनीयाश्वस्य, न चतुस्त्रिंशदिति ब्रूयादित्यनेन समस्ताया एव ऋचो निषेधाधिकरणम् ॥ ३ ॥

वनिष्टुसन्निधानादुरुकेण वपाभिधानम् ॥ २२ ॥

ज्योतिष्टोमे अग्नीषोमीये पशौ अधिगौ वचनं, वनिष्टुमस्य मा राविष्टोरुके मन्थमाना इति । तन्नोरुकशब्दं प्रति विचारः । किं वनिष्टुमस्य मा राविष्टोरुकसदृशं मन्थमानाः ? उत उरुकं वपां मन्थमाना वनिष्टुं मा राविष्टेति । किं प्राप्तम् । वनिष्टुमुरुके मन्थमाना इति । कथमुरुकशब्द उलूकवचनः ? । रलयोः समानवृत्तित्वात् । पर्यङ्कः पल्यङ्कः, रोमाणि लोमानि, अङ्गुरिः अङ्गुलिः । उलूकसदृशत्वाच्च वनिष्टोः, वपायाञ्चाप्रसिद्धेः ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः । उरुकशब्देन वपाभिधानं स्यात् । वपां मन्थमाना वनिष्टुं मा राविष्टेत्येषा बुद्धिः क्रियमाणा दृष्टार्था । भवति हि वनिष्टुसन्निधानाद् व्यामोहेन वनिष्टोर्लवनप्रसङ्गः । तं च निवर्त्तयन्नेष शब्दो दृष्टप्रयोजनो भवति । न हि वनिष्टुर्न लवितव्य एव । षपोद्धरणकाले वपां मन्थमानैर्न लवितव्यः । इतरस्मिन् पक्षे वनिष्टुं मा राविष्टेति लवितव्ये वनिष्टौ अन-

र्थकः प्रतिषेधः । उलूकसदृशवचनञ्चअदृष्टार्थम् । कथं पुनर्वपायामप्र-
युक्तो वपां प्रत्याययिष्यति उरूकशब्दः ? इति । उच्यते । अवयवप्र-
सिद्ध्या उरुशब्दस्तावद्विस्तीर्णवचनो दृष्टः । तद्यथा उरु राजाङ्गण-
म्, उरु तैलिकाङ्गणमिति । तथा, उरुं हि राजा वरुणश्चकार सूर्य्या-
य पन्था मन्वेत वा उ इति । तथा उरु विष्णो विक्रमस्व इति । इहा-
ऽपि स विस्तीर्णवचन एव । तथा कशशब्दो मेदासि प्रसिद्धः । यथा,
कशवाहिनो रथाः । मेदोवाहिन इति गम्यते । तस्यैकदेशः कशब्दः
समुदायप्रत्ययमादधाति । मेदस्विनी तस्य वपा, न विस्तीर्णं मेदो
मन्यमानेन तत्सन्निकृष्टो वनिष्टुर्लवितव्य इति वपावचनतासिद्धा
भवति । किं भवति प्रयोजनम् । वनिष्टुवचनपक्षे उपमानस्य उरूक-
शब्दस्य अनूहः । वपावचनपक्षे उरुशब्द ऊहितव्यः कशब्दश्चेति
उरूणी के, उरूणि कानि अथ वा उरूके, उरूकानि, यदि समासाभिप्रायः
॥ २२ ॥ अग्नीषामीयपशवुरुकशब्देन वपाभिधानाधिकरणम् ॥ ४ ॥

प्रशसाऽस्याभिधानम् ॥ २३ ॥

तस्मिन्नेवाधिगावाभ्नायते, प्रशसा बाहू इति । तत्र सन्देहः ।
किं प्रशसा बाहू कृणुतात्, प्रशसेति तृतीयान्तः । प्रशसा बाहू प्रही-
तव्याविति ? उत प्रशसेति द्विवचनम्, आकारे विभक्तं कृतं प्रशस्तौ
बाहू कर्त्तव्याविति ? । किं प्राप्तम् । प्रशसाऽस्याभिधानम् । असौ हि
शासशब्दः प्रसिद्धः । तथाहि तमनुवदति । दश प्रयाजानिष्ट्वाह
शासमाहरति । असि वै शासमाचक्षते इति । अनर्थिका च बाह्वोः
स्तुतिः । स्तुतौ बाहू किमप्यदृष्टं कुरुत इति मान्त्रवर्णिकं तयोर्द्वैवतात्वं
कल्पितं स्यात् । तच्चायुक्तमन्यस्मिन् पक्षे सति । तथा शौनःशफे
भवति दर्शनम् । अतस्त्वामग्निं शासहस्तं शासेन विशसनत्वात्
द्रष्टुमुत्सहं इति । तस्मादसिना प्रशसेति गम्यते ॥ २३ ॥ पूर्व० ॥

बाहुप्रशंसा वा ॥ २४ ॥

अथ वा बाहुप्रशंसेषा । प्रशसा बाहू कृणुतात् प्रशस्तौ बाहूच्छे-
त्तव्याविति । तथा प्रशसाशब्दस्य दृष्टार्थता भविष्यतीति । कात्स्न्येन
हि बाह्वोः प्रशस्तता । कृत्स्नौ बाहू उद्धरतेत्यर्थः । कृत्स्नौ च बाहू
उद्धर्त्तव्याविति । इतरस्मिन् पक्षे स्वधितिना विशसनं क्रियते, असे-
श्च वाचकः शब्द उच्चार्यते । यदि वा मान्त्रवर्णिकं द्रव्यं विधीयते

असिना बाहू छेत्तव्यौ इति । तच्चायुक्तं विधिविहिते स्वधितौ सति । न च न प्रशस्तौ बाहू । ताभ्यां पशुर्हि गच्छति । अवनम्य च शमी-
करीरे भक्षयति । तस्माद् बाहुप्रशंसा । किं भवति प्रयोजनम् ।
अश्वमेधे शतं राजता हरितत्सरवोऽस्यः । तत्रासिपर ऊहां भवति ।
यथा पूर्वः पक्षः । यथा तर्हि सिद्धान्तः, तथा बाहुपरंणोहेन भवित-
व्यम् २ ॥४ ॥ सिद्धान्तः ॥ अधिगौ प्रशंसा बहु इत्यत्र प्रशंसाशब्द-
स्य प्रशंसापरत्वाधिकरणम् ॥ ५ ॥

इयेनशलाकश्यपकवषस्त्रेकपर्णेष्वाकृतिवचनं

प्रसिद्धसन्निधानात् ॥ २५ ॥

अस्मिन्नेवाधिगाविदमाम्नायते, इयेनमस्य वक्षः कृणुतात्, शला
दोषणी कश्यपेवांसौ कवपोरू स्नकपर्णाष्टीवन्त इति । एषु संशयः ।
किमाकृतिवचनमेषु भवति । उत कात्स्नर्योद्धरणमिति । किं प्राप्तम् ।
प्रसिद्धसन्निधानादाकृतिवचनम् । इह प्रसिद्धस्य सन्निधौ यदभिधी-
यते, किञ्चिद्विदं कर्त्तव्यमिति । तत्राकृतिवचनं गम्यते । यथा, अमी
पिष्टपिण्डाः सिंहाः क्रियन्तामिति, अर्जुनवदरा मेखलाः क्रियन्ता-
मिति सिंहाकृतिवचनं मेखलाकृतिवचनञ्च गम्यते । एवं इयेनाकृति-
वक्षः कर्त्तव्यं, शलाकृती दोषणी, कश्यपाकृती अंसौ, कवपाकृती-
ऊरू, करवीरपर्णाकृती अष्टीवन्ताविति ॥ २५ ॥

कात्स्नर्यं वा स्यात्तथाभावात् ॥ २६ ॥

वाशब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । न चैतदस्ति, आकृतिवचन इति ।
किन्तर्हि । कृत्स्नोद्धरणं विवक्षितम् । कृत्स्नानि उद्धृतानि एतानि
एतदाकृतिकानि भवन्ति । यथा इयेनाद्याकृतिकानि भवन्ति तथैतानि
कुरुत, कृत्स्नानि उद्धरन्त्ययमर्थोऽवगम्यते । लक्षणयेदं चोद्यमानं
दृष्टार्थं भवति । कृत्स्नोद्धृतैर्हि तैः प्रयोजनम् । तथाहि तदाकृतिका-
नामवत्त्वं भवति । इतरथाऽतदाकृतिकानामवद्यात् । तस्मात् कात्स्नर्य-
मवगम्यत इति ॥ २६ ॥ सि० ॥

अधिगोश्च तदर्थत्वात् ॥ २७ ॥

अधिगुश्चाङ्गानामुद्धरणार्थः । अङ्गानां कात्स्नर्येनोद्धरणं कथं स्या-
दित्येवमर्थः । कथम् । एवं हि भवति वचनम् । गात्रं गात्रमस्यानूनं
कृणुतादिति । तस्मादपि इयेनादिभिः कृत्स्नोद्धरणं गम्यत इति ।

प्रयोजनं पक्षोक्तम् ॥ २७ ॥ युक्तिः ॥ अधिगौ श्येनमस्य वक्ष इत्यादौ
श्येनादिशब्दानां कात्स्न्यवचनाधिकरणम् ॥ ६ ॥

प्रासङ्गिके प्रायश्चित्तं न विद्यते परार्थत्वात्तदर्थं
हि विधीयते ॥ २८ ॥

अस्ति अग्निहोत्रम् । य एवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोतीति । तत्रेदमा-
स्नायते । अग्नये ज्योतिष्मतेऽष्टाकपालं निर्वपद् यस्याग्निरुद्धृतोऽहुते-
ऽग्निहोत्र उद्वायादिति । यदि तु दर्शार्थेन पौर्णमासार्थेन वा अग्निरु-
द्धृतोऽहुतेऽग्निहोत्रं उद्वायात्, किं ज्योतिष्मती कर्त्तव्या, न ? इति ।
किं प्राप्तम् । कर्त्तव्येति । कुतः । उपसम्प्राप्तं हि निमित्तम् । भवित-
व्यं नैमित्तिकेनेति । अग्निरसौ उद्धृतोऽहुतेऽग्निहोत्रं उद्वातः । एता-
वच्च निमित्तं ज्योतिष्मत्याः । तस्मात् सा कर्त्तव्येति । न चात्र शब्दो-
ऽस्ति अग्निहोत्रार्थमुद्धृते उद्वाते कार्येति तस्मादपि कर्त्तव्या ॥ एवं
प्राप्ते ब्रूमः, प्रासङ्गिके एवेतदुक्षणकेऽग्नावनुगते प्रायश्चित्तं न कर्त्तव्य-
म् । परार्थं हि तदुद्धरणं कृतम् । दर्शपूर्णमासार्थम् । अग्निहोत्रार्थं
चाद्धृते व्यापन्नं तदास्नातम् । तस्मान्न कर्त्तव्यम् । आह । ननूक्तं, ना-
स्त्यत्र शब्दः, अग्निहोत्रार्थमुद्धृतेऽनुगते प्रायश्चित्तमिति । अत्रोच्य-
ते । यद्यपि नास्त्यवज्जातीयकः शब्दः, तथाप्यग्निहोत्रार्थमवोद्धृते-
ऽनुगते प्रायश्चित्तं गम्यते । कथम् । अग्निहोत्रप्रकरणे एतदास्नात-
मिति, अग्निहोत्रप्रकरणे आस्नानात्तस्योपकारकमिति गम्यते । नाग्नि-
होत्रविशिष्टमुद्धरणम् । स्वार्थं हि सर्वं क्रियते, न परविशेषणार्थेन ।
अत्रोच्यते । अग्निसम्बद्धमतत् प्रायश्चित्तमुच्यते, नोद्वानसम्बन्धम् ।
किमतो यद्येवम् । यद्युद्वानसम्बद्धं भवेद्, उद्वानस्याऽनङ्गत्वात्तदु-
द्वानार्थमिति गम्यते । प्रकृते नाग्निहोत्रेण प्रयोजनेन सम्बद्ध्यते ।
अग्निसम्बन्धे पुनर्गुणत्वादग्नेस्तेनैव प्रायश्चित्तस्य प्रयोजनसम्बन्धः ।
तत्रैवमुद्धृतो व्यापन्नो भवति । यदि स प्रयोजनं नाभिनिर्वर्त्तयात् ।
तत्राग्निहोत्रार्थस्योद्धरणस्याग्निहोत्रनिर्वृत्तिः प्रयोजनम् । दर्शपूर्ण-
मासार्थस्य दर्शपूर्णमासनिर्वृत्तिः । उद्धृतञ्चानुगतं स्वस्मै प्रयोज-
नायायोग्यं प्रायश्चित्तं न योग्यं क्रियते । तच्च योग्यं कुर्वन् प्रायश्चित्त-
मग्निहोत्रस्योपकरोति । यस्तुद्धृतो दर्शपूर्णमासप्रयोजनः, तं योग्यं
कुर्वन्नाग्निहोत्रस्योपकुर्व्यात् । यस्त्वाग्निहोत्रार्थमुद्धृतः, तं योग्यं कु-

घ्नन्निहोत्रायोपकरोति । तस्मादग्निहोत्रार्थमुद्धृतं प्रायश्चित्तम् । कथं पुनर्ह्रायते । अग्निना प्रायश्चित्तस्य सम्बन्धो, नोद्धानेनेति । अग्निविशिष्टेन उद्धानेन सम्बन्ध इति श्रुत्या गम्यते । उद्धानपरीतेनाग्निनेति वाक्येन । श्रुतेर्वाक्याद्वलीयस्त्वादुद्धानसम्बन्धः प्राप्नोतीति । उच्यते । उद्धानसम्बन्धस्यापरिहार्यत्वाद् यस्योद्वायादित्यविवक्षितमेव प्राप्नोति । अदृष्टार्थत्वात् अनाकाङ्क्षिनेन सम्बन्धः । तदुद्धानपरीतेऽग्नौ प्रायश्चित्तेन सम्बद्धमाने व्यापत्तौ सत्यामाकाङ्क्षितेन सम्बन्धो, दृष्टार्थता च । तस्मादुद्धानपरीतोऽग्निः प्रायश्चित्तेन सम्बद्ध इति । दर्शपूर्णमासार्थमुद्धृतो यत्रानुगच्छति तत्राग्निहोत्रस्य परकीयोऽग्निर्व्यापन्नः । परकीयञ्चाद्धरणमिति तत्र प्रायश्चित्तं न स्यात् । अपि च लिङ्गं भवति । किमिति । यस्याग्निरुद्धृतोऽग्निहोत्र इत्यनुवादः । विधौ हि एतस्मिन् सति वाक्यभेदप्रसङ्गः । यद्यग्निहोत्रप्रयोजनमुद्धरणं, ततोऽकृतप्रयोजनमिति विवक्षायाम् अहुतेऽग्निहोत्रे इति वचनमनुवृत्तितुमुपपद्यते । तस्मादपि अग्निहोत्रप्रयोजने उद्धृतोऽनुगमे प्रायश्चित्तं भवितुमर्हतीति । किन्तर्हि तदा कर्त्तव्यम् । अविशेषविहितमग्नेरुपशमे प्रसज्यादिति ॥ २८ ॥ दर्शार्थोद्धृताग्निलोपे प्रायश्चित्तरूपज्योतिष्मत्या अननुष्ठानाधिकरणम् ॥७॥

धारणे च परार्थत्वात् ॥ २९ ॥

इदमाज्ञायते, धार्यो गतश्चिय आहवनीय इति अस्यानुगमं प्रायश्चित्तम् । अग्नये ज्योतिष्मतेऽष्टाकपालं निर्वपेद्यस्याग्निरुद्धृतोऽहुतेऽग्निहोत्र उद्वायादिति । तत्रैषांऽर्थः सांशयिकः । यदा धार्योऽग्निरनुगच्छति, तदाकिमिदं प्रायश्चित्तं कर्त्तव्यं, न ? । किं प्राप्तम् । कर्त्तव्यमिति । उपसम्प्राप्तं, हि निमित्तम् । एतावदिह निमित्तम् । अग्निरग्निहोत्रार्थमुद्धृतः कृतप्रयोजन उद्वातीति । तच्चह सर्वं प्राप्तम् । तस्मात् कर्त्तव्यं प्रायश्चित्तमिति । ननु सर्वकर्मार्थमेतद्, न केवलायाग्निहोत्राय । उच्यते । यदि सर्वकर्मार्थं, समुदायार्थं तद्, न केवलस्यार्थेन भवतीत्युच्यते । यत्तु एकैकस्मै इत्येवं सर्वार्थं तत्, सर्वेभ्योऽपि प्रयुक्तमग्निहोत्राय प्रयुक्तं भवति । न चेदं सर्वकर्मसमुदायार्थम् समुदायस्याच्चादितत्वात् साधनानि प्रत्याकाङ्क्षाभावः । एकैकं तत्र कर्मोद्धरणमाकाङ्क्षति । तस्मात् सर्वार्थमपि सदाग्निहोत्रार्थं

भवति । एवञ्च अनुगमनप्रायश्चित्तं प्राप्नोतीति । यथा पर्युक्षणं परिसमूहनं तृणापवय इत्येवमादयः पदार्था धार्य्येऽग्नावहन्यहनि क्रियन्ते, एवं प्रायश्चित्तमपि क्रियेत ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः । धारणे च गतश्रियोऽनुगमने इदं प्रायश्चित्तं न कर्त्तव्यम् । कुतः । परार्थत्वात् । न हि तदाऽग्निहोत्रार्थमुद्धरणं यस्मिन् काले भवत्यसौ गतश्रीः । तत्रान्यार्थमुद्धृतोऽग्निः सर्वार्थं धार्य्यते । उद्धरणं तु तद् एकस्मै एव प्रयोजनाय । धारणं तु सर्वकर्मार्थम् । न च धारणेऽग्निहोत्रार्थेऽनुगमने प्रायश्चित्तं विहितम् । किं तर्हि । उद्धरणे । परकीयं चात्रोद्धरणं, परार्थमुद्धरणम् । यदर्थमुद्धरणं तदर्थमुद्धृतेऽपि तत् प्रायश्चित्तम् । तस्मान्न तत्रेदं प्रायश्चित्तमिति ॥ २९ ॥ सि० ॥

क्रियार्थत्वादितरेषु कर्म स्यात् ॥ ३० ॥

अथ युक्तं, परिसमूहनं पर्युक्षणमित्येवमादयः पदार्था धार्य्येऽपि क्रियन्ते । एवं प्रायश्चित्तमपीति । अत्रोच्यते । युक्तं तत् । परिसमूहनादीनि क्रियन्ते । चोदितानि हि तानि । संस्कारार्थत्वेन शक्यानि च, अकृतप्रयोजनानि च । उद्धरणं तु कृतप्रयोजनत्वाश्रितम् । नियतदेशकालत्वाच्चाशक्यम् । तस्मादिदमनुल्यं प्रायश्चित्तेन ॥ ३० ॥ आ० नि० ॥ धार्य्योद्धाने प्रायश्चित्तरूपज्योतिष्प्रत्यननुष्ठानाऽधिकरणम् ॥ ८ ॥

न तूत्पन्ने यस्य चोदनाऽप्राप्तकालत्वात् ॥ ३१ ॥

अस्त्यग्निहोत्रे उद्धरणमन्त्रः, वाचा त्वा होत्रा प्राणेन उद्गात्रा इत्येवमादिः । तत्रायमर्थः सांशयिकः । यद्दर्शपूर्णमासार्थेनाद्धरणं क्रियते, किं तत्रैष मन्त्रः कर्त्तव्यो, न ? इति ॥ किं प्राप्तम् । दर्शपूर्णमासार्थमप्युद्धृतेऽग्नौ अग्निहोत्रं ह्ययत् एव । तत्र चेन्मन्त्रो न क्रियते, अमन्त्रोद्धृतेऽग्निहोत्रं प्रवर्त्तते । तस्मान्मन्त्रेण तदुद्धरणं कर्त्तव्यम् । अथोच्यते, कालाभावे विगुणत्वादुद्धरणं नाग्निहोत्रस्येति । तन्न । कालमात्रं हि अपगतम् । उद्धरणं तु विगुणमप्यग्निहोत्रस्य भविष्यतीति । एवञ्चैतत् समन्त्रकं कर्त्तव्यमिति ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः । परार्थमुत्पन्नेऽग्नौ यस्याग्निहोत्रं प्रवर्त्तते । चोदनेति कर्म ब्रूमः । न तत्र मन्त्रः कर्त्तव्य इति । न तद्ग्निहोत्रस्योद्धरणम् । अतः परकीये उद्धरणे न कर्त्तव्यमिति । उच्यते । ननुक्तं, विगुणमुद्धरणमग्निहोत्र-

स्यैव भविष्यति, न गुणाभावे प्रधानाभावोऽपीति । अत्रोच्यते । न गुणः कालः । निमित्तमसौ भवतीत्येतदुक्तम् । अतो निमित्ताभावे क्रियमाणमश्रुतं कृतं भवति । तस्मान्न तदुद्धरणमग्निहोत्रस्येति । न चेदुद्धरणमग्निहोत्रस्य, तस्माद् अ मन्त्रो न कर्त्तव्यः । कृतोऽपि ह्य-
ऽसाधनार्थक इति ॥३१॥ दर्शार्थस्योद्धरणस्यामन्त्रकत्वाधिकरणम् ॥९॥

प्रदानदर्शनं श्रयणे तद्धर्मभोजनार्थत्वात् संसर्गाच्च मधूदकवत् ॥ ३२ ॥

ज्योतिष्टोमे समाग्नायते, आदित्यः प्रायणीयः पयसि चरुरिति तत्र सन्देहः । किं प्रदानार्थाः पयोधर्माः पयसि कर्त्तव्याः, उत नेति । यदि प्रदानार्थमेतत् पयः, ततः कर्त्तव्याः । अथ श्रयणार्थं, न कर्त्तव्याः । कथं संशयः । सप्तमीनिर्देशाच्छ्रयणार्थं पय इति गम्यते । देवतासम्बन्धस्य तु चरोरधिकरणे पयसि, श्रूयमाणे वाक्यभेदाशङ्का । अतः संशयः ॥ किं तावत् प्राप्तम् । प्रदानार्थमिति । कथम् । आदित्यश्चरुर्भवति । स च पयसीत्येवमनेकार्थावधाने वाक्यं भिद्यते । द्वावपि चेहार्थौ, अतो वाक्यादवगम्येते । यद्यन्यतरदेवतयोर्विधीयते तदाऽन्यतरद्विधीयमानं गम्यते । अतो न वाक्यभेदः । यथा च न वाक्यभेदस्तथा आश्रयितव्यम् । तत्राधिकरणसम्बन्धे विधीयमाने देवतासम्बन्धावगतिर्नावकल्पते, प्रमाणान्तरेणाप्राप्तत्वात् । देवतासम्बन्धे तु विधीयमाने हि ये निर्द्दिश्येते चरुपयसी, तयोर्निर्द्देशसामर्थ्याद्वाक्येन संसृष्टं गम्यते । तच्च देवतया सम्बद्ध्यते । तत्रार्थात् पयआधारश्चरुर्भवति ॥ आह । वाक्येन द्वे चरुपयसी गम्येते । न तयोः संसर्गः । उच्यते । यद्वा द्वे गम्येते, तदा प्रयोगवचनेन यौगपद्यमेतयोर्गम्यते । तत्रार्थात् संसर्गः । एकत्वाच्च वाक्यस्य समुच्चयः । तेनात्र निर्द्देश एव विवक्षितो, नाधिकरणसम्बन्धां गम्यमानोऽपि विधीयते । एवं तु निर्द्देशः क्रियते । संसृष्टे चरुपयसी कथं गम्येयातामिति । तत्र चरुसंसृष्टं पयश्चरौ त्यज्यमाने नियतं त्यज्यते । तदस्य प्रदानदर्शनं भवति । पयसा श्रयमाणस्य तस्य प्रदानं कथं स्यादिति सप्तमी निर्द्दिश्यते । तस्माद् भोजनार्थं यागार्थमेतत् पयः । भोजनमिति सारूप्याद् यागमाह । तस्माच्च पयः प्रदानार्थं पयोधर्मैः सम्बद्ध्यते ॥ आह । न त्यागमात्रं यागः । देवतामुद्दिश्य यस्त्यागः

स यागो भवति । उच्यते । अयमप्यदिति देवताम् उद्दिश्य त्यागः क्रियते इति ॥ आह । न पयसाऽदितिर्देवता । न ह्युद्देशमात्रेण देवता भवति । या यस्य श्रूयते सा तस्य देवतेति । चरोश्चैषा श्रूयते, न पयसः । उच्यते । उभयस्य निर्देशात् । उभयेन देवता सम्बद्ध्यते । संसृष्टेन मधुदकवत् । यथा दधि मधु घृतं धाना उदकं, तत् संसृष्टं प्राजापत्यमिति भवति । एवमेवेदं द्रष्टव्यम् । यद्यपि क्षत्तमीनिर्दिष्टं, सप्तम्यर्थस्याविधित्सितत्वाद्निर्देशमात्रस्य विवक्षितत्वात् । यथौदनं दधि दत्त्वा अश्वयवहर्त्तव्यमिति ओदनस्य निर्देशमात्रं विवक्ष्यते, नाऽधिकरणत्वम् । एवमिहापि द्रष्टव्यम् । तस्मात् प्रदानार्थं पयः । प्रदानार्थाश्च पयोधर्माः कर्त्तव्या इति ॥ ३२ ॥ पूर्व० ॥

संस्कारप्रतिषेधश्च तद्वत् ॥ ३३ ॥

एवञ्च कृत्वा प्रदेयसंस्काराणां केषाञ्चित् प्रतिषेध उपपन्नो भवति । अयञ्जुषा वत्सानपाकरोति, अपवित्रत्रति गां दोहयतीति प्राप्ते हि प्रतिषेधो न्याय्य इति ॥ ३३ ॥

तत्प्रतिषेधे च तथाभूतस्य वर्जनात् ॥ ३४ ॥

तत्प्रतिषेधं पयःप्रतिषेधे तथाभूतमपि लोके वर्ज्यते । पयसा सिक्तं, पयः शृतञ्च । नचैष श्रयणार्थस्य, द्रव्यस्य धर्मः । यथा श्रयणार्थं पानीयम् । तत्प्रतिषेधे तैले पीते पानीयं न पातव्यमिति विलेप्यं यवागूश्च पीयते । न च तथाभूतस्य वर्जनात् पयो लोके एवं भवति । भोजनार्थं हि तत् । यथा हि लोके पयः, तद्वदिहापि भवितुमर्हतीति सामान्यतो दृष्टं व्यपदिष्टम् ॥ ३४ ॥ युक्तिः ॥

अधर्मत्वमप्रदानात् प्रणीतार्थं विधानादतुल्य-
त्वादसंसर्गः ॥ ३५ ॥

अधर्मत्वं तु पयसः । नास्य प्रदेयपयोधर्मा भवेयुरित्यर्थः । कुतः अप्रदानात् । न हीदं प्रदीयते । ननु चरौ प्रदीयमाने प्रदायिष्यत इत्येवमर्थं पयसि श्रयणमुच्यते । नेत्याह । शृतञ्चरुः कथं स्यादित्येवमर्थं हि तज्ज्ञायते । शृतैस्तण्डुलैः प्रयोजनमस्ति । न ह्यन्यथा चरुर्भवतीति । न तु प्रत्तेन पयसा नैतद्वातव्यं श्रूयते । कथम् । प्रणीतार्थं विधानात् । ननु वाक्यभेद एवं भवतीति परिहापित एष पक्षः । संसृष्टमत्र हविर्भवतीत्युक्तम् । उच्यते । अनुल्यत्वादसंसर्गः । अनुल्ये

चरुपयसी । प्रत्यक्षतोऽधिकरणत्वेन पयः ध्रूयते । प्रदेयत्वेन चरुः । पयसो यद्वाक्येन प्रदेयत्वं गम्यते, तदधिकरणश्रुत्या बाध्यते । यन्तु वाक्यभेदप्रसङ्ग इति । तन्न । न हि पयसि चरुरिति सम्बन्धो भविष्यति । कथन्तर्हि । पयसि आदित्य इति । उभावादित्यशब्देन सम्भन्तस्येते । आदित्यः पयसि, आदित्यश्चरुरिति उभौ चरुपयःशब्दौ आदित्यप्रधानावित्येकं वाक्यं भविष्यति, न वाक्यभेदप्रसङ्गः । पय-
आधार आदित्यो भविष्यति । तस्मान्न पयसि प्रदेयधर्मा भवितुमर्ह-
न्ति ॥ ३५ ॥ सि० ॥

परो नित्यानुवादः स्यात् ॥ ३६ ॥

अथ यल्लिङ्गमुक्तम्, अयजुषा वत्सानपाकरोति, अपवित्रवति गां दोहयतीति । नैतत् । एवं सति अस्यार्थस्य साधकं भवति । किन्त-
र्हि । एतन्नित्यानुवादकम् । नित्यमेतमर्थं सन्तमनुवदति । नैवाप्रदेय-
त्वाद् यजुषा वत्सा अपाक्रियन्ते । न पवित्रवति गौर्दुह्यते । ननु
नित्यानुवादादोऽनर्थकः । उच्यते । न चयं प्रयोजनवत्तामप्रयोजनवत्तां
वा विचारयामः । किमेतस्माद्वाक्याद्गम्यते ? इति परीक्षामहं । अस्मा-
च्च वाक्यादिदं गम्यते, न यजुषा वत्सा अपाक्रियन्ते, न पवित्रवति
गौर्दुह्यते इति । तच्चास्य अप्रदेयत्वाद्प्राप्तं यजुः पवित्रं वेति ॥ ३६ ॥

विहितप्रतिषेधो वा ॥ ३७ ॥

अथवा, विहितस्यैव प्रतिषेधो द्रष्टव्यः । विहितं केषाञ्चिद्, यजुषा
वत्सानपाकरोति, पवित्रवति गां दोग्धीति । तस्य प्रतिषेधोऽर्थवानेव
भवतीति ॥ ३७ ॥ आ० नि० ॥

वर्जने गुणभावित्वात्तदुक्तप्रतिषेधात् स्यात्

कारणात् केवलाशनम् ॥ ३८ ॥

अथ यदुक्तं, पयःप्रतिषेधे पयसा सिक्तं पयसा संसृष्टं च वर्ज्य-
ते इति । तत्र ब्रूमः । युक्तं हि लोके यत्संसृष्टस्य वर्जनं, तदेव हि तत्र
प्रतिषिद्धते । नित्यं ह्युपसर्जनीभूतं भोजने पयः प्रचरति । यच्च प्र-
चरति, तत्प्रतिषेधोऽर्थवान् यद् न प्रचरति, तस्य ह्यप्रसङ्गात् प्रति-
षेधोऽनर्थकः । ननु केवलमपि लोके पय उपभुज्यते । उच्यते । कार-
णात् केवलाशनं, व्रतमौषधं वा यस्य स केवलमुपयुङ्क्ते । न त्वे-
तत् प्रचुरम् । तस्मात् प्रायेण गुणभूतत्वात् पयसः, पयोयुक्तमेव

न भक्षयितव्यमित्येवमर्थः पयःप्रतिषेध उच्यते ॥ ३८ ॥ आ० नि० ॥

व्रतधर्माच्च लेपवत् ॥ ३९ ॥

अथ कस्मान्नायमन्यः परिहार उच्यते । व्रतवदेतद् द्रष्टव्यमिति । यथा ब्रह्मचारिणा मांसं न भक्षयितव्यमित्युक्ते दर्विगतमपि लेपं वर्जयन्ति एवमिहापि पयो न पातव्यमित्युक्ते पयसा सिक्तं पयसा संसृष्टं वर्जयिष्यन्तीति ॥ ३९ ॥ आ० ॥

रसप्रतिषेधो वा पुरुषधर्मत्वात् ॥ ४० ॥

न वा एष परिहारः । परिहारान्तरनिवृत्त्यर्थो वाशब्दः । कुतः । पुरुषधर्मत्वाद् व्रतस्य । अदृष्टार्थं ब्रह्मचारिणो मांसाभक्षणम् । तत्र तावदपि यो भक्षयति, यावति मांसरसमात्रं विदितं भवति, तस्यापि दोषो, न श्लेष्मप्रकोपादि किञ्चिद् दृष्टमपेक्षते । नतु पयःप्रतिषेधे तथा । तस्मात् पूर्वं एव परिहार इति ॥ ४० ॥ आ० नि० ॥ प्रायणीयचरौ प्रदानधर्माणामननुष्ठानाधिकरणम् ॥ १० ॥

अभ्युदये दोहापनयः स्वधर्मा स्यात् प्रवृत्तत्वात् ॥ ४१ ॥

इदं समाप्नायते, वि वा एन प्रजया पशुभिरर्क्षयति वर्द्धयत्यस्य आतृव्यं यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति त्रेधा तण्डुलान् विभजेद्ये मध्यमास्तानग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेत्, ये ष्वविष्टास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुं येऽणिष्टास्तान् विष्णवे शिपिविष्टाय शृतुं चरुमिष्टि । शृते चरुं दधंश्चरुमित्येतदुदाहरणम् । तत्रैषोऽर्थः सांशयिकः । किं शृते दधनि च इज्यार्थाः पयोधर्माः कर्त्तव्याः? उत नेति । किं प्राप्तम् । न कर्त्तव्या इति । कुतः । अप्रदानार्थत्वात् । प्रणीतार्थं विधानादतुल्यत्वाच्च चरुणा न संसर्ग इति ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः । अभ्युदये निमित्ते योऽयं दोहो देवताया अपनीतः. स स्वधर्मा स्यात् । इज्यार्थाश्च तत्र पयोदधिधर्माः कर्त्तव्याः । कुतः । इज्यार्थमेव हि तत् पयो दधि च प्रवृत्तम् । यतश्चेज्यार्थम्, अतोऽस्येज्यार्थाः प्रवृत्ता एव धर्माः । तद्धर्माणां प्रवृत्तावस्ति कारणं, निवृत्तौ नास्ति ॥ ननु प्रणीतार्थं दधिपयसी विधीयेते । नेत्याह । वाक्यं हि तदा भिद्येत । चरौ देवतार्थं, चर्वर्थयोश्च दधिपयसोः । आह । ननु चरोरपि देवतासम्बन्धो दधिपयसोरपि तथा, न भविष्यति वाक्यभेद इति । नैवं शक्यम् । विभागः कर्त्तव्य इति । पूर्ववाक्यं वृत्तम् । त्रेधा तण्डुलान्

त्रिभजेदिति । तदनन्तरं विभागविशेषपरमिदं भवति वाक्यम् । ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुं, येऽणिष्ठास्तान् विष्णवे शिपिविष्ठाय शृते चरुमिति । अत्राविशेषाद्दधिपयसोरपि विभागो वक्तव्यः । यदि च दधिपयसी विभक्तव्ये सति प्रणीतार्थे अप्युच्येयातां, ततो भिद्येत वाक्यम् । अतो नैतयोः प्रणीतार्थे विधानम् । अविधीयमाने च सप्तम्यर्थे प्रातिपदिकार्थो देवतया सम्भन्त्येते । वाक्यसामर्थ्यात् उभे च दधिपयसी देवतया सम्भन्त्येते चरुणा सह । दधनि चरुरेको भाग इन्द्राय प्रदात्रे भवतीति । यथाविभज्यमानेषु नानाद्रव्येषु उच्येत । रुक्मपात्र्यां समाहार्या मणयः । एका भागो देवदत्तस्य । रजतपात्र्यां सुवर्णं निहितम् । अपरो भागो विष्णुमित्रस्येति सह पात्रीभ्यां द्वौ भागौ गम्येते । विभागविशेषपरत्वाद्वाक्यस्य । पात्र्यांश्च विभक्तत्वाद्नुवाद्श्च सप्तम्यर्थो गम्यते । एवमिहापि विभागपरत्वादेव वाक्यस्यास्य, विभक्तत्वाच्च दधिपयसोरेको भाग इति गम्यते । अर्थप्राप्तत्वाच्च सप्तम्यर्थोऽनुवादो भविष्यति । तस्मात् प्रदानार्थे दधिपयसी । प्रदानार्थांश्च दधिपयसार्धर्माः कर्त्तव्याः ॥ ४१ ॥

शृतोपदेशाच्च ॥ ४२ ॥

इतश्च प्रदानार्थे दधि पयसि च इज्यार्था धर्माः कर्त्तव्या इति । कुतः । सिद्धवच्छृतोपदेशो भवति । शृते चरुं दधंश्चरुमिति । स सत्सु धर्मेषूपपद्यते । इतरथा श्रयणं न क्रियेतेति । तत्र सिद्धवच्छृतोपदेशो नावकल्पेत । तस्मादपि पश्याम इज्यार्था दधिपयसोर्धर्माः कर्त्तव्या इति ॥ ४२ ॥ युक्तिः ॥ अङ्गुदयेष्टौ दधिशृतयोः प्रदेयधर्माऽनुष्ठानाधिकरणम् ॥ ११ ॥

अपनयो वार्थान्तरे विधानाच्चरुपयोवत् ॥ ४३ ॥

अस्ति पशुकामेष्टिः, यः पशुकामः स्यात् सोऽमावास्यामिष्ठा वत्सानपाकुर्यात् । ये क्षोदिष्ठास्तानग्नये सनिमनेऽष्टाकपालं निर्वपेद्, ये मध्यमास्तान् विष्णवे शिपिविष्ठाय शृते चरुं, ये स्थविष्ठास्तानिन्द्राय प्रदात्रे दधंश्चरुमिति । शृते चरुं, दधंश्चरुमित्येतदुदाहरणम् । अत्र सन्देहः । किं शृते दधनि चेज्यार्था दधिपयोर्धर्माः कर्त्तव्याः ? उत नेति । किं प्राप्तम् । पूर्वेणाधिकरणेन कर्त्तव्या इति । समाना हि श्रुतिर्भवतीति । सिद्धवच्च शृतोपदेशः सत्सु प्रदानार्थेषु धर्मेषूप-

पद्यते ॥ एवं प्राप्ते ब्रूमः । अपनयो वा घर्माणां भवेत् । अर्थान्तरे ह्येत-
त्पयो विधीयते । दधि च श्रयणार्थे, न प्रदानार्थे । सप्तमीसंयोगा-
च्छरुपयोवत् । यथा प्रायणीये चरौ पयसि प्रदेयधर्मा न क्रियन्ते
सप्तमीसंयोगात् । एवमिहापि ॥ ४३ ॥ सि० ॥

लक्षणार्था श्रुतश्रुतिः ॥ ४४ ॥

अथ यदुक्तं सिद्धवच्छृतोपदेशो भवतीति । नैष दोषः । श्रयणेन
द्रव्यं लक्षयिष्यति । अर्थप्राप्तं हि चरौ श्रयणं, तत्सम्बद्धं लक्ष्यते ।
श्रयणवति द्रव्यं चरुरिति । तस्मात् प्रदेयधर्मा न भवेयुरिति ॥४४॥
आ०नि०॥पशुकामेष्टौ दधिश्रुतयोःप्रदेयधमाननुष्ठानाधिकरणम्॥१२॥

श्रयणानां त्वपूर्वत्वात् प्रदानार्थं विधानं

स्यात् ॥ ४५ ॥

ज्योतिष्टोमे श्रूयते, पयसा मैत्रावरुणं श्रीणाति सक्तुभिर्मन्थिनं
घानाभिर्हारियोजनं हिरण्येन शुक्रमाज्येन पात्नीवितम् । तत्र संशयः ।
किं श्रयणानां प्रदेयधर्मा भवन्ति ? उत नेति । कुतः संशयः । यदि
प्रदेयानि श्रयणानि, तत एषु प्रदेयधर्मा भवन्ति, अथ न प्रदेयानि,
न भवन्तीति । किं प्राप्तम् । प्रदेयानि प्रदेयधर्मैः सम्बद्धोरिति ।
श्रयणाद्धि द्रव्यं जायते । पयोमिश्रश्च सोमो भवति । संमिश्रं च ह्य-
माने पयोऽपि होमेन सम्बद्धयते । यदि पयोमिश्रश्च सोमो भवति,
तत्र सोमस्य प्रयसस्य मिश्रमानस्य न कश्चिदुपकारं पश्यामः । यागे
तु उपकारो भवति निवृत्तिर्नाम । यदि होमेन सम्भन्त्येत इति मिश्र-
णाभिप्रायः । तत उपकारकं मिश्रणं ऋणोपकारेण । श्रुतो हि गुण-
वान् यागः प्रत्यक्षः पयसा निर्वर्त्यत इति । सोमोपकारः कल्प्यः
स्यात् । तस्मात् पयसा सोमो मिश्र्यते । स मिश्रितः प्रयोगवचनेन
कथं सम्बद्धयत इति । न च प्राकृतं मिश्रणं केनचिद्द्रव्येण प्राप्तम् ।
यत्रेदं द्रव्यान्तरं पयो विधीयते इति । अपूर्वत्वात् सोमस्य । तस्मात्
प्रदानार्थस्य पयसो विधानं स्यात् । प्रदेयपयोधर्माश्चात्र कर्तव्या
इति ॥ ४५ ॥ पूर्व० ॥

गुणो वा श्रयणार्थत्वात् ॥ ४६ ॥

वा-शब्दः पक्षं व्यावर्त्तयति । गुणभूतं पयः स्यात् सोमस्य, न
प्रदेयद्रव्यम् । प्रदेयत्वेनाश्रवणात् । सोमार्थेन च श्रुतत्वात् ॥४६॥सि०

अनिर्देशाच्च ॥ ४७ ॥

न होमे प्रयोगवचनेन वा अस्य सम्बन्धः । अनिर्देशः परार्थत्वात् । न च प्रत्यक्षेणापि पयस्त्यागे यागनिर्वृत्तिः पयसा । प्रत्यक्षदेवतासम्बन्धां हि त्यागो यागः । न चात्र पयसो देवतासम्बन्धः । मैत्रावरुणं प्रहं गृह्णातीति वचनं, न मैत्रावरुणं पय इति । तस्माद् इष्टोपकाराभावाद् अदृष्टः सोममिश्रणे सोमसंस्कारोऽभ्युपगम्यते । तस्मान्न प्रदेयधर्मैः सम्बद्ध्यत इति ॥ ४७ ॥

श्रुतेश्च तत्प्रधानत्वात् ॥ ४८ ॥

इतश्च सोमार्थं पयः । कुतः । श्रुतिर्हि सोमप्रधाना भवति । द्वितीयाविभक्तिः श्रूयते । तस्माच्छ्रयणेन सोम एवेप्स्यत इति ॥४८॥

अर्थवादश्च तदर्थवत् ॥ ४९ ॥

अर्थवादश्च श्रयणस्य सोमार्थस्य भवति । स मित्राऽब्रवीत् पयसैव मे सोमं श्रीणन्निति । न हि भवति पयो मे दद्युरिति । कथं तर्हि । सोमं पयसा संस्कुर्युरिति । तस्मादपि सोमार्थं श्रयणम् ॥४९॥

संस्कारं प्रति भावाच्च तस्मादप्यप्रधानं स्यात् ॥ ५० ॥

संस्कारं प्रति श्रयणवचनं भवति । यत्र संस्काराः श्रूयन्ते तत्रेदं श्रूयते । पयसा मैत्रावरुणं श्रीणातीत्येवमादि । तस्मात् संस्कारप्राये श्रवणादयमपि संस्कार एवेति गम्यते । भवति हि प्रायोवृत्त्या तद्बुद्धिः । यथाऽग्न्यप्राये लिखितोऽग्न्य इति गम्यते । तस्मात् प्रदेयधर्मैर्न सम्बद्ध्यत इति ॥ ५० ॥ युक्तिः ॥ ज्यातिष्टामे श्रयणानां प्रदेयधर्माननुष्ठानाधिकरणम् ॥ १३ ॥

पर्यग्निकृतानामुत्सर्गे तादर्थ्यमुपधानवत् ॥ ५१ ॥

अश्वमेधे समामनन्ति, ईशानाय परस्वत आलभन्तेति । तत्प्रकृत्य श्रूयते, पर्यग्निकृतान् आरण्यानुत्सृजन्तीति । संशयः । किमारण्यानामालम्भ उत्सर्गार्थं एव, द्रव्योत्सर्गश्च, अथ किं कर्मशेषप्रतिषेधः । पर्यग्निकरणान्तैः संस्कृता उत्सृष्टव्याः ? इति । किं प्राप्तम् । द्रव्योत्सर्गोऽयम्, आलम्भश्च उत्सर्गार्थं एवेति । कुतः । एवमुत्सर्गमप्राप्तं विदधत् तस्य सत्तां ब्रुवन् श्रुत्या वक्ष्यति । इतरथा उत्सर्गं प्राप्तमनुवदेत् । वाक्यार्थस्य प्रतिषेधस्य सत्तां ब्रूयात् प्रत्ययः । श्रुतिश्च वाक्याद् बलीयसी । एवञ्च सति देवतासम्बन्धो ग्रहणे । ईशान-

मुद्दिश्य परस्वन्त आलम्ब्यः । पर्यग्निकरणं कृत्वा त्यक्तव्या इति । उपधानवत् । यथा, एतत् खलु साक्षादन्नं य एष चरुयं एनं चरुमुपदधातीत्युपधानार्थमेव चरोरुपादानम् । एवमिहाप्युत्सर्गार्थं एवालम्भो भविष्यति ॥ ५१ ॥ पूर्व० ॥

शेषप्रतिषेधो वाऽर्थाभावादिदान्तवत् ॥ ५२ ॥

कर्मशेषप्रतिषेधो वाऽस्मिन् वाक्ये उच्यते । कुतः ? अर्थाभावात् । ईशानाय परस्वत आलम्बेत्यस्य वाक्यस्य न कश्चिदर्थो भवेद् यद्युत्सर्गार्थं आलम्भः स्यात् । कथम् । आलम्भकाल एवाध्वर्युर्जा-
नीयाद्, नेमे ईशानाय दास्यन्त इति । तस्यैवं जानतो नैवं सङ्कल्पो भवति, ईशानाय दातुं प्रहीतव्या इति । अशक्यार्थत्वादनर्थकमिदं वाक्यं भवति । स एष सङ्कल्प एवमवकल्पते, यदीशानाय दातव्याः । तस्मादालम्भवचनेन शब्देन दानमेव विधीयते इति गम्यते । यदा च दानं विधीयते, तदा पर्यग्निकृतानुत्सृजन्तीत्युत्सर्गमनूद्य, एव-
मुत्सृजन्तीति विशेषविधानार्थं भवति शास्त्रम् । कथं पुनरत्र विशेषो विधीयते, किं कालः पर्यग्निकरणे । एतस्मिन् काले उत्सृजन्तीति । नेत्याह । नात्र कालवचनः शब्दः धूमते । काले च विधीयमाने कालान्तरं प्रतिषिद्धते न अङ्गान्तराणि । अथ किं पर्यग्निकरणवदुत्सृष्टव्यमिति ? । तदपि नास्ति । न ह्यत्र पर्यग्निकरणभाषना कीर्त्यते । तस्याः पर्यग्निकरणात् प्राञ्चः पराञ्चश्चार्थाः सर्वे प्रतिषिद्धं-
रन् । कथं तर्हि । निर्वृत्ते पर्यग्निकरणे उत्सृष्टव्य इति । किमेतस्या-
मवस्थायामिति । नेत्याह । चोदकादेवैतत् प्राप्तम् । एतदवस्थः पशु-
रुत्सर्जनीय इति । अवस्थान्तरप्रतिषेधस्य च नायं शब्दो वाचकः । चोदकप्राप्ते हि काले उत्सृज्यमाने कृतपर्यग्निकरणे एवासौ भव-
ति । यदि तु अवस्थायाः प्रतिषेधः स्यात्, पर्यग्निकरणाद्ध्वमुत्स-
र्गात् प्राक् पदार्थाः प्रतिषिद्धंरन्, न पराञ्चः । कस्तर्ह्यर्थः । पर्यग्नि-
करणे कृते यादृशो भवति तादृशस्त्याज्य इति । ननु चोदकेनैव तदङ्गाऽसौ प्राप्तः । उच्यते । पुनरस्यैतदङ्गवत्ता भूयते, अङ्गान्तरपरि-
सङ्गार्थम् । एतैरेव अङ्गैरङ्गवानुत्सृष्टव्यः । एवं चोदकप्राप्तानि परि-
सङ्गयान्ते, नान्यानि अङ्गानि भवन्तीति । कथमेष शब्द एव परि-
सङ्गयान्तुं शक्नोतीति चेत् । शक्नोतीति गमः । कथम् ? । प्रत्यक्षेण

वाक्येन तैरङ्गैर्निराकाङ्क्षीकृते प्रधाने शेषैरङ्गैः सह चोदकेन परोक्ष-
सती एकवाक्यता न भाविष्यतीति । तस्मात् कर्मशेषप्रतिषेध इति
॥ ५२ ॥ सि० ॥

पूर्ववत्त्वाच्च शब्दस्य संस्थापयतीति चाप्रवृत्ते
नोपपद्यते ॥ ५३ ॥

पूर्ववाञ्छ भवति शब्दो यागप्रवृत्तिपूर्वकः । आज्येन शेषं संस्थाप-
यतीति । यद्दि याग एष प्रारब्धस्ततः संस्थापयतीति समाप्तिसाह-
श्यादुपपद्यते । यागस्य हिदिं यागान्तरं समाप्त्या सहशम । यदि हि
पूर्वो न यागः प्रवृत्तः स्यादुत्सर्गमात्रं, न तस्य यागः समाप्त्या सहशः ।
तत्र संस्थापयतीति नोपपद्यते । तस्मादपि शेषकर्मप्रतिषेधः ॥ ५३ ॥

प्रवृत्तेर्यज्ञहेतुत्वात् प्रतिषेधे संस्काराणामकर्म-
स्यात्तत्कारितत्वाद्यथा प्रयाजप्रतिषेधे
ग्रहणमाज्यस्य ॥ ५४ ॥

इदं प्रयोजनसूत्रम् । यदि द्रव्योत्सर्गो विधीयते ततः संस्कारा-
णामकर्म स्यात् । कुतः । संस्कारप्रवृत्तेर्यज्ञहेतुत्वात् । तत्प्रतिषेधे
यज्ञाभावे किमिति संस्काराः क्रियेरन् । यज्ञकारिता हि ते । यथा प्र-
याजाभावे तदर्थमाज्यं न गृह्यते, ग्रहणमाज्यस्य न क्रियते । अप्रया-
जास्ता अननुयाजा इति यत्र श्रूयते तत्र प्रयाजाभावे तदर्थमाज्यं
न गृह्यते । एवमिहापि संस्कारा न कर्त्तव्या इति ॥ ५४ ॥ गुक्तिः ॥

क्रिया वा स्याद्वच्छेदादकर्म सर्वहानं स्यात् ॥ ५५ ॥

यदा तु कर्मशेषप्रतिषेधपक्षस्तदापि किं न कर्त्तव्याः संस्का-
राः ? इति । नैतदेवम् । क्रिया स्याद्वच्छेदपक्षे । यागो हि तदा भ-
वति । तस्मात् सर्वे यागपदार्थाः कर्त्तव्याः । यद्दि न यागो भवेत्
ततोऽकर्म । संस्काराणां सर्वहानं स्यात् । यागस्तु तदा भवति । त-
स्मात् कर्मशेषप्रतिषेधपक्षे सर्वं कर्त्तव्यमिति ॥ ५५ ॥ आ० नि० ॥ अश्व-
मेधे, ईशानाय परस्वत इत्यनेन यागान्तरविधानाधिकरणम् ॥ १४ ॥

आज्यसंस्थाप्रतिनिधिः स्याद् द्रव्योत्सर्गात् ॥ ५६ ॥

पर्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजतीति प्रकृत्य श्रूयते । आज्येन शेषं
संस्थापयतीति । तत्र सन्देहः । किमाज्यं पूर्वस्मिन् प्रतिनिधीभूत-

म् ? अथ वा आज्यद्रव्यकं पूर्वस्मात् कर्मान्तरं विधीयते ? इति । किं प्राप्तम् । प्रतिनिधिरिति । कुतः । पाल्नीवतमितिद्रव्यमुच्यते । उत्सृजतीति तत्रैवोत्सर्गः श्रूयते । शेषमित्युपयुक्तेतरद् विद्यमानं गम्यते । तद् आज्येन संस्थापयतीति पशोः कार्ये आज्यं श्रुतं भवतीति । ननु पूर्वकर्म परिसमाप्तमित्युक्तम् । अत्रोच्यते । द्रव्योत्सर्गवचने प्रत्यक्षे, शेषशब्दे वाऽपरिहृते पुनरसमाप्तं पूर्वकर्मेत्याशङ्क्यते । तस्मात् प्रतिनिधीयते आज्यमित्याशङ्कामहे । संस्थापयतीति चापूर्वं नोपपद्यते ॥ ५६ ॥ पूर्व० ॥

इतश्चाशङ्कामहे—

समाप्तिवचनात् ॥ ५७ ॥

समाप्तिवचनमिदं भवति, संस्थापयतीति । तेन मन्यामहे । यत् पूर्वं पशुना आरब्धं तदुत्सृष्टे पशावाज्येन परिसमाप्यते इति । अपूर्वस्यात्र कर्मण उच्यमानस्यारम्भ एव वक्तव्यो भवति । यतस्त्वनभिधायारम्भं परिसमाप्तिरेवोच्यते । ततोऽवगच्छामः, पूर्वस्यैव परिसमाप्तिर्नापूर्वकर्म चोद्यत इति ॥ ५७ ॥ युक्तिः ॥

चोदना वा कर्मात्सर्गादन्यैः स्यादविशिष्टत्वात् ॥ ५८ ॥

कर्मान्तरचोदना वा । कुतः । पूर्वस्य कर्मणः परिसमाप्तत्वात् । ननूक्तं द्रव्योत्सर्गे शेषवचने वाऽपरिहृते पूर्वकर्मणोऽसमाप्तिराशङ्किता भवति । अत्रोच्यते । इदं द्वयमपि परिह्रयते । संस्थापयतीति प्रकृतेन पाल्नीवतशब्देन सम्बद्ध्यते । तत्रायमर्थः । पाल्नीवतं संस्थापयतीति । स एष यागो विधीयते । संपूर्वश्च स्थापयतिः प्रयुज्यते । अयद्यं कश्चिद् धातुः पूर्वं भावनावचनस्य प्रयोक्तव्य इति तत्राविरुद्धो भावनायामुच्यमानायामर्थप्राप्तः संस्थापयतिरालभतिरिव प्रयुज्यते । शेषशब्दश्चैवं सादृश्यात् प्रयुज्यते । द्रव्योत्सर्गश्चाऽविरुद्ध एव यागे उच्यमाने । तस्माद् यथाऽन्ये निर्वपत्याद्युः कर्मान्तरविधाने भवन्ति, एवं तैरविशिष्टत्वात् संस्थापयतिरपि भवितुमर्हतीति ॥ ५८ ॥ सि० ॥

अनिज्याञ्च वनस्पतेः प्रसिद्धां तेन दर्शयति ॥ ५९ ॥

प्रसिद्धां वनस्पतेरनिज्याम् । अत एव पठति । कथम् । यत् त्वष्टारञ्च वनस्पतिमाघाहयस्यथ वैनौ यक्ष्णसि त्वाष्ट्रो नवमो प्रयाजेज्या

वानस्पत्या दशम्यत्रैवैताविष्टौ विद्यादित्यङ्गान्तरेणाऽनुग्रहं ब्रुवन्
 वनस्पतीज्याया अन्नाद्यं दर्शयति । शेषपरिसमाप्तौ सत्यां वनस्प-
 तिं जुहोतीति । अथ परिसमाप्तं पूर्वं कर्म, ततो लुप्ता स्यात् । तत्रा-
 ऽभावदर्शनमुपपद्यते । तस्मात् पूर्वकर्म परिसमाप्तम् । इदमपि कर्मा-
 न्तरमिति ॥ ५९ ॥ युक्तिः ॥

संस्था तद्देवतत्वात् स्यात् ॥ ६० ॥

अथ यदुक्तं, संस्थापयतीति च अपूर्वे नोपपद्यते इति । तत् प-
 रिहर्षव्यम् । अत्रोच्यते । असंस्थायां संस्थावचनमेतत् । तदपि पूर्वं
 पाल्हीवतमिति समानदेवत्वात् समाप्तिसादृश्यं ज्ञायते । तत्र तत्पाल्ही-
 वतमारब्धमिह परिसमाप्तमिति । स एष सादृश्यात् संस्थापयती-
 ति शब्दोऽवकल्पत इति ॥ ६० ॥ आ० नि० ॥ आज्येन शेषं संस्था-
 पयतीत्यनेन कर्मान्तरविधानाधिकरणम् ॥ १५ ॥

इति श्रीभट्टशबरस्वामिनः कृतौ मीमांसाभाष्ये नवमस्य

अध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ९ ॥ ४ ॥

सम्पूर्णश्चाध्यायः ॥ ९ ॥



